कविवर बनारसीदास

(जीवनी और कृतित्व)

*

डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला · ग्रन्थांक-२३०

सम्पादक एवं नियामक ·

लक्ष्मीचन्द्र जैन

• • •

एम० ए० करनेके बहुत पहलेसे ही शोध-कार्य करनेकी मेरी उत्कट अभिलाषा थी। जैन न्याय, व्याकरण, साहित्य एवं धर्मके शताधिक ग्रन्थोंका शास्त्री पर्यन्त अध्ययन कर चुकनेपर इस दिशामें स्वयं कुछ करनेकी मेरी भी इच्छा हुई। मुझे लगा कि इतने विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्यको जिसे अब तक जैन भी पूर्णतया नहीं जानते हैं, समस्त हिन्दी जनताके सम्मुख अवश्य आना चाहिए। इसके पीछे मैंने दो बातें सोची थीं एक हिन्दी साहित्यकी समृद्धि और दूसरी एक अल्पज्ञात अथवा अज्ञात कविकी वैज्ञानिक एवं शोधपूर्ण विवेचना करके उसके प्रति सम्मान प्रकट करना। इसके लिए कविवर बनारसीदास मुझे सर्वाधिक प्रिय लगे।

सन् १९५२ ई० में मैंने एम० ए० कर लिया परन्तु शोध-कार्यका सिलसिला किसी प्रकार न जमा। निराश होकर मैंने संस्कृतमें एम० ए० किया, फिर भी एक वर्ष और भटकता रहा।

सन् १९५५ की जुलाईमें आगरा विश्वविद्यालयने हिन्दी विद्यापीठ आरम्भ किया। इसमें शोध-कार्यकी भी सुन्दर व्यवस्थाका आयोजन हुआ। मैं अपनी आकांक्षा लेकर उक्त विद्यापीठमें पहुँचा। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सत्येन्द्रने अत्यन्त सरल भावसे मुझे आश्वस्त किया और उसी समयसे मुझे आज तक मेरी अक्षम्य धृष्टताओंके बावजूद आपने अपनाया। इस शोध-प्रबन्धमें सत्येन्द्रजीने मुझे जितना संभाला है उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी एक धृष्टता-मात्र होगी।

उक्त विद्यापीठके संचालक एवं प्राचार्य परम श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, जिनके पवित्र निर्देशनमें यह अनुसन्धान-कार्य पूर्ण हुआ है, निःसन्देह एक आदर्श निर्देशक हैं। यह भी मेरा सौभाग्य था कि ऐसे सरल स्वभावी, सुलझे हुए एवं सुधी पुरुषके सत्सम्पर्कमें मैं आया। डॉक्टर साहबके घर,

१ आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आगरा, २ जोन्स पब्लिक लायब्रेरी, आगरा, ३ क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, ४ नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा, ५ ऐम० डी० जैन कॉलेज लायब्रेरी, आगरा, ६ पी० डी० जैन कॉलेज लायब्रेरी, फ़ीरोज़ाबाद, ७ बाहुबलि संघ पुस्तकालय, फीरोज़ाबाद।

प्राचीन-शास्त्र भण्डार :

८ श्री अगरचन्द नाहटाका निजी शास्त्र-भण्डार, बीकानेर, ९ श्री दि० जैन शोध-संस्थान, जयपुर, १० मन्दिर बधीचन्द्रजी, जयपुर, ११ दादू महाविद्यालय शास्त्र-भण्डार, जयपुर, १२ श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा, १३ बड़ा मन्दिर, ताजगंज, आगरा, १४ आगराके लगभग १२ जैन मन्दिर और देखे, १५ दि० जैन बड़ा मन्दिर, फ़ीरोज़ाबाद, १६ चन्द्रप्रभु-मन्दिर, फीरोज़ाबाद, १७ अटावाला मन्दिर, फीरोज़ाबाद, १८. पेरका मन्दिर, फीरोज़ाबाद, १९ धर्मपुरा जैन मन्दिर, देहली, २० दि० जैन मन्दिर, लालबाग़, देहली।

— रवीन्द्रकुमार जैन

•

प्राक्कथन

प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा कई प्रादेशिक भाषाओंके समृद्धि-वर्द्धनमे जैन साहित्यकारोंका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उनके अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ आज भी प्रकाशन और शोधकी अपेक्षा रखते हैं। [हिन्दीके प्राचीन साहित्यके विकासमें जैन साहित्यकारोंकी एक समृद्ध परम्परा रही है। उन्होंने साहित्यको सदा आध्यात्मिक, व्यवस्थामूलक तथा नैतिक पृष्ठभूमिमें प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया। वासनामूलक सवेगों तथा कल्पनाओंसे उन्होंने अपनी सृजनात्मक शक्तिको सदा दूर रखा। उन्होंने साहित्यको समाजके स्थायी, स्वस्थ और शुभ जीवनके प्रदर्शक रूपमें ही ग्रहण किया था। उनका साहित्य केवल क्षणिक मनो-रंजनका छिछला और सस्ता साधन नहीं है, वरन् अन्धकारमें दिग्भ्रमित जीवनके लिए शाश्वत प्रकाश स्तम्भ है।]

हिन्दी साहित्यके पूर्ण वैभवका जब विकास हो रहा था उसी समय कविवर बनारसीदासका आविर्भाव हुआ। वे तुलसीदासजीके समकालीन थे। सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँके साम्राज्योंके उतार-चढ़ाव वे देख चुके थे। उनके जीवनका बहुत बड़ा भाग आगरामें ही व्यतीत हुआ था। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही स्तरोंपर कविका अनुभूति-क्षेत्र विपुल था। मुक्तक, प्रबन्धात्मक, निबन्धात्मक आदि अनेक प्रकारकी रचनाओंमें उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। निश्चय ही [हिन्दीके जैन साहित्यकारोंमें उनका स्थान सभी दृष्टियोंसे मूर्द्धन्य कहा जा सकता है। शक्ति, सादगी और भव्यता कविकी समस्त रचनाओंमें व्याप्त है।]

ऐसे प्रतिभाशाली साहित्यकारके विषयमें अबतक प० नाथूराम प्रेमी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि कुछ विद्वानोंकी छुटपुट विवेचनाओंके अति-रिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं था। इससे कविकी महत्ताका हिन्दी जगत्-को यथावत् ज्ञान नहीं हो सका था। हर्षकी बात है कि मेरे प्रिय शिष्य डॉ० रवीन्द्रकुमार जैनने बनारसीदास जैनके व्यक्तित्व और कृतित्वपर

भूमिका

आज हमारे सभी लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर चुके हैं कि हिन्दी साहित्यका इतिहास जैन साहित्यके अध्ययन-मननके बिना अपूर्ण एवं पंगु ही रहेगा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदिके शोधपूर्ण लेखोंके कारण अब विद्वानोंने इस बहुमूल्य साहित्यकी ओर दृष्टिपात भी आरम्भ किया है। भक्तिकालीन साहित्यके निर्माणमें तो जैन साहित्यकारोंका और भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इस युगकी प्राणभूत अध्यात्मधाराको इन साहित्यकारोंने जिस दृढ़ता एवं शालीनतासे परिपुष्ट किया तथा अपनी मौलिक चिन्तन-दृष्टिसे उसे अधिकाधिक समृद्ध बनाया, वह सदैव अभिनन्दनीय रहेगी।

भक्तिकालीन अनेक जैन साहित्यकारोंमें कविवर बनारसीदास अग्रगण्य हैं। बनारसीदासजीपर अब तक पं० नाथूराम प्रेमी एवं डॉ० माताप्रसाद गुप्तने ही थोड़ा-सा किन्तु ठोस कार्य किया है। उक्त दोनों विद्वानोंने अर्धकथानकपर ही कार्य किया है। यों बनारसी विलासका सम्पादन भी प्रेमीजीने बहुत पहले किया था, परन्तु वह उनके अर्धकथानककी भाँति गहरा न था। अभी जयपुरसे पं० कस्तूरचन्द शास्त्रीने भी बनारसी विलासका सम्पादन किया है परन्तु इसमें कोई ठोस काम नहीं हो सका है। कविके 'समयसार' और 'नाममाला' नामक ग्रन्थ भी नाम लेनेके लिए मुद्रित तो हो ही चुके हैं परन्तु उनके प्रतिपाद्यका पर्यालोचन एवं पाठ आदिकी सुन्दर उपस्थितिकी अब भी आवश्यकता थी ही।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें कविवर बनारसीदासकी सभी रचनाओं और उनकी जीवनीका व्यापक अध्ययन तथा मूल्यांकन करनेका प्रयत्न किया गया है। कविवरकी जीवनी और रचनाओंमें मौलिक तत्त्वोंकी गवेषणाके साथ बाह्य विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक प्रभावोंको स्पष्ट किया गया है।

बनारसीदासजीके 'समयसार' एवं 'बनारसी विलास' पर तो निश्चित

अध्ययन करनेपर कविवरकी ऐतिहासिक जानकारीका भी गहरा परिचय हुए बिना नहीं रहता।)

बनारसीदासजीकी जीवनी और उनके कृतित्वका व्यापक अध्ययन करनेका प्रयास इस शोध प्रबन्धमें किया गया है। प्रथम अध्यायमें राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्थितिके अनुसन्धानके साथ तात्कालिक धार्मिक सम्प्रदायों एवं पन्थों आदिकी सामान्य चर्चा करते हुए जैन धर्मके विविध पन्थों, सम्प्रदायों एवं शाखाओंको स्पष्ट किया गया है। द्वितीय अध्यायमें अन्तः बाह्य प्रमाणोंसे पुष्ट कविकी जीवनी प्रस्तुत की गयी है। तृतीय अध्याय कविकी समस्त रचनाओंकी सविस्तर, शोधपूर्ण एवं प्रामाणिक चर्चासे परिप्लुत है। विवादग्रस्त रचनाओंको भी पुष्ट प्रमाणों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। चतुर्थ अध्यायमें बनारसीदासजीकी रचनाओंकी भाषाका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्यायमें कविमें परिलक्षित धार्मिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वोंकी विवेचना है। षष्ठ अध्यायमें कविके साहित्यकी विधाएँ और उनका शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा सप्तममें कविकी ज्ञान गरिमा और उनकी सांस्कृतिक देन का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इन सात अध्यायोंमें बनारसीदासजीकी जीवनी और उनकी रचनाओंका विभिन्न दृष्टियोंसे अनुसन्धान करनेका प्रयत्न इस शोध प्रबन्धमें है।

शोध करते समय और अब भी मुझे दो बातोंका अभाव पर्याप्त खटका है। एक तो कविका कोई भी प्रामाणिक चित्र नहीं मिलना और दूसरा उनकी मृत्यु तिथिकी अनिश्चितता। प्रथमके सम्बन्धमें जब मैंने कविकी जन्मभूमि जौनपुर तथा आगरामें प्रयत्न किये तो जौनपुरमें तो उनका नाम जाननेवाले भी मुझे न मिले। और आगरामें नाम लेनेवाले मात्र ही मिले। कविकी वंश परम्परामें आज कोई भी जीवित नहीं है। मृत्यु समयके सम्बन्धमें एक निश्चयपर पहुँचनेका प्रयत्न लेखकने किया है और इस सम्बन्धमें आवश्यक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

(सन्तप्रवर बनारसीदासजीकी रचनाओंके अध्ययनके पश्चात् यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिकालीन दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं साहित्यिक स्थिति तथा विकास दशाओंका बनारसीदासजीके बिना कदापि नहीं समझा जा सकता।) बनारसीदासजीने अपने समयमें प्रचलित अध्यात्मधाराको पुष्ट करनेके साथ अंकुरित होती हुई भोगप्रधान प्रवृत्तियोंका

साहित्यके पवित्र क्षेत्रसे ऊर्ध्वबाहु होकर बहिष्कार भी किया। ऐसे साहित्यके स्रष्टा कवियोंको, जो अश्लील कोटिका साहित्य रचनेमें ही स्वयको धन्य मानते है तथा गर्वोन्नत होकर कह उठते है 'हमें सारदा को वर है।' बनारसीदासजीने भर्त्सना भी की है—जो आज भी हिन्दी साहित्यके दिशा-निर्देशनका कार्य कर रही है —

मास की गरथि कुच कचन-कलस कहैं,
कहैं मुखचन्द जो सलेषमा को घर है।
हाड के दसन आहि हीरा मोती कहै ताहि,
मास के अधर ओठ कहै बिब फल है।
हाड दड भुजा कहै कौल-नाल कामधुजा,
हाड ही के थभा जघा कहै रभा तरु है।
यो ही झूठी जुगति बनावै औ कहावैं कवि,
येते पर कहैं हमे सारदा को वर है॥

अध्यात्मसन्त बनारसीदासजीने अपने 'समयसार' एव 'बनारसी-विलास'-द्वारा ससारके सम्मुख सन्त कवियोंकी यह पवित्र एव उदात्त दृष्टि भी अत्यन्त पुष्ट रूपसे स्पष्ट कर दी कि प्रौढ प्रतिभासम्पन्न कवि प्रत्येक विषयमें अलौकिक अभिरामताका सचार कर सकता है। अश्लील कोटिका अमर्यादित शृगार, अग उपागोका उत्तेजक वर्णन एव ऊहात्मक शब्द-चित्रोंकी खोखली नुमाइश बनारसीदासजीको कभी प्रिय नही लगी। काव्यमें मर्यादा, सत्यकी रक्षा एव भाषा-सारल्यसे अभिमण्डित सरस प्रवाहयुक्त शैली उनकी प्रमुख विशेषता रही है। अध्यात्म-जैसा रूक्ष एव गम्भीर विषय भी बनारसीदासजीकी काव्य प्रतिभासे सम्पृक्त होकर अत्यन्त सरल एव सरस हो गया है। कविका अध्यात्म प्रधान काव्य अपने जन-हितके शाश्वत पाथेयके कारण वर्तमान एव आनेवाली कवि-पीढियोके लिए सदैव एक आदर्श प्रकाश स्तम्भका कार्य करेगा।

— रवीन्द्रकुमार जैन

अनुक्रम

• परिशिष्ट

• ०

कविवर बनारसीदास

जीवनी और कृतित्व

• •

आगरा विश्वविद्यालय-द्वारा

पी० एच्० डी० की उपाधिके लिए स्वीकृत

शोध-प्रबन्ध

•

पृष्ठभूमि

(अ) राजनैतिक तथा ऐतिहासिक स्थिति

मनुष्य भूखकी वेदना एक सीमा तक सह सकता है, परन्तु असामाजिक रहकर जीवन चला लेना उसकी शक्तिके परेकी बात है। समाजसे पृथक् रहकर उसे न भोजनमें स्वाद आयेगा, न वस्त्रोंसे मन प्रसन्न होगा और न ही उसकी अगाध धन-सम्पत्ति उसे सुखी बना सकेगी। अत यदि मनुष्यत्व और सामाजिकताको अन्योन्याश्रयी कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। जितने क्षण हम समाजसे दूर रहते हैं—उनमें भी रूठकर, क्रुद्ध होकर अथवा परवशता वश ही सही हम अपने समाजका स्मरण करते हैं। हमारा उपचेतन उसीके चिन्तनमें व्यस्त रहता है। निष्कर्षमें हम कह सकते हैं कि समाजसे पृथक् मनुष्यका अस्तित्व नहीं बन सकता। पशुओं-का भी एक सामाजिक जीवन होता है। वे परस्पर बैठते हैं, उठते हैं, खाते-पीते हैं, खेलते हैं। पारस्परिक सुख-दु खमें भी यथासाध्य सहानु-भूतिका परिचय भी देते हैं, फिर बुद्धि और भावनाओंका अक्षयकोष मानव असामाजिक कैसे रह सकता है। जब मनुष्य मात्रमें सामाजिकता सुनिश्चित है, तब एक विशिष्ट विद्वान्, प्रतिभावान् एव भावविह्वल साहित्यकारका जीवन, अवश्य ही प्रगाढ रूपसे अपने युगके समाज और उसके जीवनको प्रभावित करेगा तथा उससे स्वय भी प्रभावित होगा ही। अत किसी साहित्यकारके प्रामाणिक अध्ययनके लिए हमें उस युगके सामाजिक एव राजनैतिक वात्याचक्रको भी समझना होगा।

कविवर बनारसीदासने अपने जीवन-कालमें सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँके साम्राज्य देखे थे। पूर्वजों-द्वारा बाबर और हुमायूँकी चर्चाएँ सुनी थी। इस प्रकार औरगजेबके अपवादके साथ प्राय सम्पूर्ण मुग़ल-कालके सर्वतोमुखी वायुमण्डलसे हमारे कविका सम्पर्क रहा है। जिन-पर मुगल साम्राज्यका स्वर्णमुकुट विशेष आदर और लोकप्रियताके साथ

परन्तु समयने अपनी चाल बदली—जाति और समाजमें चारित्रिक दृढ़ताके प्रति कुछ शिथिलताके भावोंने प्रवेश किया। (साधुओंमें आचरणके प्रति भेदका प्रारम्भ लगभग विक्रमीय छठी शताब्दीके मध्यसे प्रारम्भ हो गया था। श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो शाखाएँ जैनोंकी यहींसे अंकुरित हो उठी।) आगे चलकर इस वैयक्तिक और सामाजिक शैथिल्यके परिणाम-स्वरूप अनेकों सुधारवादी आदर्श ग्रन्थ लिखे गये। विक्रमीय दसवीं शताब्दीके पश्चात् (यवन आक्रमणके आरम्भसे) तो यह जातीय भेद-प्रभेद बढ़ते ही गये और साहित्य भी इनके परिणाम और प्रभावोंको स्वय-में ढालता गया। कुछ भी सही इतना तो सुनिश्चित है कि आज हिन्दी भाषाके आदि स्रोतोंके लिए अपभ्रंशमें हमें जाना होगा और अपभ्रंश जैन साहित्यमें अतुलनीय मात्रामें है। (सामाजिक और ऐतिहासिक विकासका क्रम भी जैन साहित्य-द्वारा प्राप्त हो सकेगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्र-वाल लिखते हैं—"हिन्दीकी काव्यधाराका मूल विकास सोलह आने अपभ्रंश काव्यधारामें अन्तर्निहित है, अतएव हिन्दी साहित्यके ऐतिहासिक क्षेत्रमें अपभ्रंश भाषाको सम्मिलित किये बिना हिन्दीका विकास समझमें आना असम्भव है। भाषा-भाव-शैली तीनों दृष्टियोंसे अपभ्रंशका साहित्य हिन्दी भाषाका अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश (८-११वीं सदी), देशी भाषा (१२-१७वीं सदी) और हिन्दी (१८वींसे आज तक) ये ही हिन्दीके आदि, मध्य और अन्त तीन चरण हैं। लगभग ७वीं शताब्दीसे अपभ्रंश भाषामें साहित्य-निर्माणका कार्य प्रारम्भ हो गया था जैसा कि दण्डीके काव्यादर्शके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है—

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता। १।३६"

अर्थात् अपभ्रंश वह भाषा है जो आभीरादिकोंकी बोली है और जिसमें काव्य-रचना भी होती है।"[1]

स्वर्ण मूलमें स्वर्ण ही है भले ही आवश्यकता और रुचि-भेदके कारण उससे विभिन्न प्रकारके आभूषण बना लिये जायें। जैन साहित्यने भी अपने मूल मर्मसे च्युत न होकर स्वयको समयके साथ चलनेमें स्वर्ण-जैसी क्षमता प्रदान की। (जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ विद्वान् बाबू कामता प्रसाद जैन लिखते हैं—"भारतके इस परिवर्तन (१५वीं से

---

१ कामताप्रसाद जैन कृत 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास' प्राक्कथन पृ० ६, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डी० लिट्।

१७वी शताब्दी) प्रभावसे जैनी अछूते न रहे—वे भी यहाँके निवासी थे और अपने पडोसियोसे पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन-जगत्में इस परिवर्तनकी प्रक्रिया सर्वांगीण हुई।"[1] इस प्रकार जैन साहित्यपर भी परिवर्तन (सामाजिक-राजनैतिक) का प्रभाव स्पष्ट है।

भारतीय प्रादेशिक भाषाओका साहित्य भी इसी बातको स्पष्ट करता है कि जिस समय जिस प्रान्तमे राष्ट्रीय भाव जाग्रत हुआ है उसी भाषाका साहित्य भी उन्नत और लोकग्राह्य हुआ है। बगला, मराठी, गुजराती और कतिपय मात्रामें दक्षिणी भाषाओका साहित्य इस बातका प्रमाण है।

भारतके अतिरिक्त विश्वके अन्य महान् देशोके उत्थान-पतनका पूर्ण प्रभाव वहाँके साहित्यमें प्राप्त होता है। युरॅपकी प्रधान जाति ग्रीक है—जिसकी विद्या, कला और साहित्यका प्रभाव वहाके समस्त साहित्यपर पडा है। ग्रीक जातिका साहित्य आज भी सम्पूर्ण युरॅपमें बडी रुचिके साथ पढा जाता है।

५०० ई० पूर्व पारसियो द्वारा ग्रीक जातिपर आक्रमण हुआ था। इस आक्रमणको रोकनेमें वहाँके सभी छोटे छोटे राज्योमें से एथेन्स ही ऐसा था जो उसे रोकनेमें अग्रणी हुआ था। एथेन्सके कारण युरॅप जीता भी। इसके पश्चात् युरॅपमें एथेन्सको सबसे अधिक मान मिलता रहा।

इस्लामी सभ्यताने अपने ५०० वर्षोमें ही एशिया, अफ्रीका और युरॅपके पर्याप्त भागपर अपनी प्रभुताकी छाप लगा दी। जो आज भी किसी-न-किसी रूपमें तत्तद्देशीय साहित्यपर स्पष्ट भी है।

इग्लैण्डके इतिहासमें महारानी एलीजाबेथ और महारानी विक्टोरिया-का समय तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु १९वी शताब्दीकी प्रसिद्धि सर्वाधिक है। इस शताब्दीकी सबसे बडी बात थी इग्लैण्डका नैपोलियनके विरुद्ध विजय प्राप्त करना। इस विजयसे इग्लैण्डकी युरॅपकी महाशक्तियोमें गणना होने लगी। सच तो यह है कि महाशक्तियोमें भी सर्वातिशयी स्थान इसे मिलने लगा। वर्डस्वर्थ, बाल्टर स्काट, बायरन, शैली, टेनीसन, ब्राउनिग-की कविताएँ और कार्लाइल, रस्किन, जौन मोर्ले आदिका गद्य काव्य तथा थैकरे और डिकिन्सके उपन्यास आज भी अपनी विश्व-प्रसिद्धिको अक्षुण्ण बनाये है।

---

१ कामताप्रसाद जैन कृत, 'हिन्दी जैन सा० का सक्षिप्त इतिहास' पृ० ६३।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनसे यह निर्विवाद है कि राजनीतिक वातावरण-का पूर्ण प्रभाव साहित्यपर रहता है। राजनीति जीवनसे पृथक् नही है और साहित्य भी जन-जीवनके सुख-दुःखमें स्वयको निमग्न देखना चाहता है। प्रौढ विचारक डॉ० राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति-भारत) लिखते हैं—

"साहित्य मानव जातिके उच्चसे उच्च और सुन्दरसे सुन्दर विचारो तथा भावोंका वह गुच्छ है जिसकी बाहरी सुन्दरता और भीतरी सुगन्धि दोनो ही मनको मोह लेते है। कोई जाति तबतक बडी नही हो सकती जबतक कि उसके भाव और विचार उन्नत न हो, जब भाव और विचार उन्नत होगे तब उनका विकास उस जातिके साहित्यके रूपमें ही हो सकता है। इसलिए जाति या राष्ट्रके उत्थानके साथ-साथ उस जाति या राष्ट्रके साहित्यकी भी उन्नति या उत्थान होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्यकी अवनति उस जातिके पतनका अटल और अटूट प्रमाण है। राजनैतिक परिस्थितिका प्रभाव सामान्यतया जनजीवनकी सर्वतोमुखी गतिका प्रसारक अथवा अवरोधक अवश्य ही होता है। साहित्य, शिल्प और कलापर तो इसका प्रभाव तत्काल लक्षित होता है। सम्पूर्ण साहित्य-का मूल प्रेरणा स्रोत राजनीतिक परिस्थिति ही रही है।"[1]

मुगलकालीन राजनैतिक स्थिति

भारतवर्षके इतिहासमें मुग़ल सम्राटोंने कई दृष्टियोंसे एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। शासन-व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, धर्म, वेष-भूषा, रहन सहन इत्यादि सभी जीवनके अगोपर एक गहरा प्रभाव अपने शासनके लगभग २०० वर्षोंमें मुग़ल सम्राटोंने डाला। वास्तवमें मुगलोंके पूर्व खिलजी, तुग़लक आदि मुसलमान वशोंने ऐसी कोई आदर्श-परम्परा भारत-को नहीं दी जिसपर भारत गर्व कर सके अथवा उन वशोंकी स्मृति भी स्थिर रह सके। वे वश वास्तवमें आततायी—भ्रामक आक्रामक और लुटेरे थे। जीवनकी लूट और भोगविलासके परे मानव मिलनके सगमपर देखने-को न उनके पास आँखें थीं और न परदु:खकातर हृदय ही था। हृदयका स्नेह और आत्माका स्वर उनमें जन्मा ही न था। यद्यपि मुग़लोंने भी भारतमें कोई ऐसा अद्वितीय स्वर्णयुग अथवा रामराज्य (आदर्श राज्य) स्थापित नही किया, जिसे भारतने इसके पूर्व देखा ही न था, परन्तु

---

१ डॉ० राजेन्द्रप्रसाद कृत 'साहित्य, शिक्षा और सस्कृति' पृ० ४।

अन्य यवन शासकोंकी अपेक्षा सभी दिशाओंमें इस वंशने सन्तोषजनक प्रगति की है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मुगलोंमें भी बाबर और हुमायूँकी अपेक्षा सम्राट् अकबरने पर्याप्त अधिक विशेषपूर्ण कार्य किये। राजनीति, धर्म, रहन-सहन, एवं साहित्यिक अभिरुचि इत्यादिमें अत्यन्त उदारता पूर्ण नीतिसे काम लिया। इतिहासके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ० सरकार लिखते हैं—'मुगल साम्राज्यने दो सौ वर्षोंमें सम्पूर्ण उत्तर भारत और दक्षिण भारतके सभी वर्गोंको, राजकीय भाषा, शासन पद्धति, शिक्षा और एक लोकप्रिय जनभाषाकी एकता प्रदान की। केवल [illegible] पुरोहित और ग्रामीण जनता इसमें अपवाद थे। राज्य सीमाओंके परे भी शासन पद्धति, राजकीय उपाधियाँ, राजकीय शिष्टता और आर्थिक क्रय-व्यवस्थाका ग्रहण छोटे या बड़े रूपमें समीपवर्ती पड़ोसी हिन्दू राजाओंने भी किया था।'

मुगलोंकी राज्य-व्यवस्थाका स्वर्णकाल अकबर द्वारा ही उपस्थित किया गया। और उसके पश्चात् फिर अपसार आरम्भ हुआ। अपने पूर्वजों और वंशजोंकी [illegible] लिए एक ऐसा मिलन बिन्दु था जिसपर दोनों गौरवान्वित हो गये। अकबरके सम्बन्धमें एस० एम० एडवर्ड लिखते हैं

'मालगुजारी और सरकारी कार्यालयोंकी शासन व्यवस्था और सिद्धान्त-निर्माण मुख्य रूपसे अकबरके दूरदर्शी-बुद्धिमान् मस्तिष्कका ही परिणाम था।'

सामाजिक स्थिति

मुग़ल कालीन सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है और प्राय सभी इतिहासकार एकमत हैं कि वह सन्तोषजनक नही थी।

"मुग़लोंकी पिछली सन्तान बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। शिक्षाकी कमी और असभ्य समाजके कारण उनका पतन हो गया था। असयम तथा मद्यपानने उन्हें अवनतिके गर्तमें फेंक दिया था। देशमें स्थित प्रत्येक वर्गके लोग घोर अन्धकारमें पड़े हुए थे। निर्धन और धनवान् प्रत्येकके जीवनका प्रत्येक कार्य ज्योतिषके अनुसार ही होता था।"[1] धार्मिक पुरुषोंकी इतनी भक्ति होती थी कि उनकी मृत्युके पश्चात् उनके स्मारकोंकी भी पूजा की जाती थी। अन्धविश्वास और अन्धानुसरण यदि मनुष्यकी विवेक-बुद्धिको हतप्रभ कर दे तो आश्चर्य ही क्या है। वास्तवमें जनताके साधारण व्यक्तिसे लेकर सम्राट् पर्यन्त सभीको अपने पुरुषत्वकी अपेक्षा भाग्य (दैवी शक्ति) पर अधिक विश्वास था। यदि मुग़ल युगको एक दृष्टिसे धार्मिक अतिविश्वासोंका युग कहा जाये तो अनुचित भी न होगा, यद्यपि धार्मिक ऐक्य और समन्वयके प्रयत्न भी चल रहे थे। नाथपन्थियोंका, शैवी कनफटे तथा लिंगायत साधुओंका, सूफियोंका, तान्त्रिकोंका और सबसे बढ़कर दैवी चमत्कारोंका जनतापर अटूट प्रभाव था। हमारे प्रस्तावित कविवर बनारसीदासपर भी अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, परम्पराओं, तान्त्रिक क्रियाओं तथा अन्धविश्वासोंका प्रभाव पड़ा था, जिसका उन्हें बादमें पर्याप्त पश्चात्ताप भी करना पड़ा। कविके निजी जीवनकी एक घटनासे तत्कालीन अन्धविश्वासोंका परिचय मिल जायेगा। संवत् १६५१ में एक साधुने कविको एक मन्त्रका आश्चर्यपूर्ण चमत्कार सुनाया। उस मन्त्रकी एक वर्षकी सिद्धिके पश्चात् एक दीनार प्रति दिन द्वारपर पड़ी मिला करेगी यह भी कहा। बनारसीदासजीने तत्काल साधुके चरण पकड़ लिये और मन्त्र लिख लिया। एक वर्ष बड़ी श्रद्धासे मन्त्रका जाप किया परन्तु अन्तमें जब कुछ न मिला तो बड़े दुःखी हुए। घरवालोंने समझाया यह भ्रम है। मिथ्यात्वी लोग भोले प्राणियोंको इसी भाँति छलसे लूटते हैं। इससे कविको सान्त्वना मिली और वे फिर आत्मस्थ हो अपने

---

[1] डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद डी० लिट् कृत 'भारतवर्षका इतिहास'।

कायमें लग गये ।[1]

बनारसीदासजीने इसी प्रकार एक साधुके कहनेसे धनके लोभमें शिवजीकी प्रतिमाकी पूजा आरम्भ की परन्तु अन्तमें फल और रक्षा न पा उसे भी छोड दिया ।

[2]"जोगी एक मिलो तिस आय, बनारसी दियो मो दाय ।
दीनी एक सपोटी हाथ, पूजा की सामग्री साथ ।
कहैं सदासिव मूरत एह, पूजै सो पावै सिव गेह ।
तब बनारसि सीस चढाय, लीनी नित पूजै मन लाय ॥" इत्यादि

आगे चलकर जब कविपर सकट आया और शिवने रक्षा न की तो कवि फिर सचेत हो बोल उठा –

'बैठो मन में चिन्तै एम, मैं सिव पूजा कीनी केम ।
जब मैं गिरयौ परयौ मुरझाय, तब सिव कछू न करी सहाय ॥
यहु विध सिव पूजा तजी, लखो प्रगट सेवा में बजी ।
तिस दिन सो पूजा न सुहाय, सिव सखोली धरी उठाय ॥"[3]

इस प्रकार जनता धनप्राप्ति आदि प्रलोभनोंमें पडकर विविध धर्मों, विश्वासों और तन्त्रोंमें पडकर स्वयपर-से विश्वास खो बैठी थी । हिन्दू, मुसलिम और सिख ये तीनो जातियाँ अपने गुरुओं और महन्तोंकी सेवा बडी भक्ति और तत्परतासे करती थीं ।[4] कीमियागरी एक विज्ञान समझी जाती थी और उच्चतम स्तरके शिक्षित व्यक्ति इस विज्ञानको प्रोत्साहित करते थे और इस विज्ञानका परिचय बादशाहको भी देते थे । स्वर्ण अनुसधानके लिए जीवन बलिदान भी होता था, यद्यपि बादशाहको इसका पता चल जानेपर कठोर दण्ड मिलता था । इस प्रकार अति-भौतिक और अभौतिक चमत्कारोंके बीच जनता भेड-सी चल रही थी । उस धनकी इच्छा इतनी प्रबल रहती थी कि उसका हिताहित ही नष्ट हो चुका था ।

---

१ 'अर्धकथा' छन्द २०९-२१८ । सम्पादक – माताप्रसाद डी० लिट् ।
२ 'अर्धकथा' छन्द २१९-२० । सम्पादक – माताप्रसाद डी० लिट् ।
३ अर्धकथा' छन्द २६२-२६३ । सम्पादक – माताप्रसाद डी० लिट् ।
४ 'India Through Ages' By Dr, Sarkar

भृत्यवर्ग (साधारण जनता) और अधिकारी वर्गके जीवन-स्तरमें कुत्ते और मालिक-जैसा अन्तर था। पौष्टिक भोजन, सुन्दर वस्त्र, निर्वाह योग्य मकान तथा साक्षरता तो निर्धन वर्गके भाग्यमें थी ही नही। नौकर स्वय-को कभी सुखी समझ पाये ऐसी शुभ घडी असम्भव ही थी। मुग़लकालीन समाजका चित्रण डॉ० आर० सी० मजूमदार और उनके साथी लेखकोंने बडे मार्मिक शब्दोंमें[1] किया है—

"मुगलकालीन समाज सम्राट्के लिए सामन्ती समाजका सगठन था। सम्राट्के पश्चात् द्वितीय श्रेणीमें उच्चाधिकारी सामन्त, नृपति अथवा शाही व्यक्ति थे जो विशेष आदर और विशेषाधिकारके चिरन्तन उपभोक्ता थे। ये सभी सुविधाएँ और सुख सामान्य जनताके भाग्यमें कभी न थे। इस स्थितिसे स्वभावत उनके जीवन स्तरमें अन्तर आ गया। उच्चाधिकारी सम्पत्ति और विलासमें गोते लगा रहे थे, जबकि निम्न व्यक्ति (साधारण वर्ग-निर्धनवर्ग) की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। शाही व्यक्तियोंमे सुरा और सुन्दरी सेवन तो एक साधारण एव प्रचलित अवगुण था।" मुगल युगमें अधिकारी और अधिकृत अर्थात् पूरे समाजके जीवन-स्तरको स्पष्ट करनेमें ये उल्लिखित पक्तियाँ पूर्ण सहायक हैं।

[2]"जनताकी सुरक्षा और अभयकी स्थितिपर जब हम विचार करते

---

१ 'Society looked like a feudal organisation with the kind to its apex Next in rank to the kind were the official nobles, who enjoyed special honours and privileges, which never fell to the lot of the common men This naturally produced a difference in their standard of living The former molled in wealth and comforts, while the condition of the other was comparatively pitiable Excessive addiction to wine and women was a very common vice among the aristocrates'

'An Advanced History of India' P 566 By Dr. R C majumdar and others

२ भई सगाई बावने, परो त्रेपना काल।
अन्न महर्घ न पाइए, भयो जगत बेहाल॥
गयो काल दिन बीत घने, सवत् सोलह सौ चौवने।
— 'अर्धकथा' छन्द १०४, १०५ सम्पादक, माताप्रसाद गुप्त डी० लिट्।

मच गया, प्रत्येक घरके किवाड बन्द कर दिये गये, दुकानदारोंने दुकानों-पर बैठना छोड दिया। लोगोंने अच्छे वस्त्रोंके स्थानपर मलिन वस्त्र धारण किये। धन-सम्पत्ति गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रख दी। यथाशक्ति प्रत्येक गृहस्थने रक्षार्थ हथियार भी जुटाये। धनिक और दरिद्रोंकी वेषभूषा एक हो गयी। यद्यपि उस समय कोई लूट-पाट न हुई परन्तु जनतामें भयकी मात्रा कम न हुई।" स्पष्ट है कि जनताने ऐसे दुःख-भरे अनेकों अवसर देखे होंगे, अन्यथा सम्पूर्ण जनतामें इतना भय और हाहाकार अकारण और पहली ही बार नहीं हो सकता था।

किसी भी वस्तुके पूर्ण ज्ञानके लिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे बढकर अन्य साधन नहीं हो सकते। मुगल-युगकी सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें यदि एक अनुभवी पाश्चात्य विद्वान् फ्रान्सिस पोल्सक्रेटका आँखो देखा विवरण न दिया गया तो चर्चा अधूरी-सी रह जायेगी। पोल्सक्रेट अपने ७ वर्षोंके आँखों देखे मुग़लकालीन अनुभवमें लिखते हैं—

[१]"जनताके तीन वर्ग जो वास्तवमें नाम मात्रसे स्वतन्त्र हैं, परन्तु उनकी जीवनधारा स्वय-स्वीकृत-दासतासे नहीके बराबर ही भेद खाती है। कार्यकर्ता, चपरासी, नौकर और दुकानदार इनका कार्य स्वतन्त्र नहीं था। पारिश्रमिक अल्प था। भोजन और मकान दयनीय थे। सदैव शाही कार्यालयके दवावके शिकार रहते थे। दुकानदार यद्यपि कभी-कभी धनवान् और आदृत थे, परन्तु बहुधा अपनी सम्पत्ति गुप्त रखते थे।"

इस प्रकार मुगल युगकी समाज-व्यवस्थाके अध्ययनसे हम इसी निर्णय-पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन समाज व्यवस्थाकी उन्नतिके लिए साम्राज्यकी ओरसे कोई प्रयत्न नही किये जाते थे। वरन् शासनके अधिकारी जनता

---

१ Three classes of people who are indeed nominally free but whose status differs very little from voluntory slavery workmen, peons or servants and shopkeepers, their work was not voluntory, wages were low, food & houses poor, and they were subject to the opression of the inperial offices, the shopkeepers, though sometimes rich and respected, generally kept their wealth hidden 'History of India,' by Francis Pelscret

भ्रष्ट थे। प्रत्येक प्रान्तीय राजधानीमें एक स्थानीय काज़ी होता था जो प्रधान काज़ी-द्वारा नियुक्त होता था और ये नियुक्तियाँ तेज़ीके साथ घूस देकर खरीदी जाती थी। जब काज़ीकी कुतियाकी मृत्यु होती थी तब सम्पूर्ण नगर साथ होता था और जब स्वयं काज़ी मरता था तो एक भी व्यक्ति साथ न जाता था।"

इतनी गहरी घृणा काज़ियोंके प्रति जनतामें रहती थी और इसका प्रमुख कारण काज़ियोंके अमानवीय अत्याचार थे।

सम्पूर्ण भक्तियुगका साहित्य, जिसका मुग़ल युगकी राजनीति और समाज-व्यवस्थासे घना सम्पर्क है, इन्हीं सब उल्लिखित परिस्थितियोंके कारण धार्मिक दृढ़ताके साथ लिखा गया। यदि भक्तियुगमें धर्मप्रधान साहित्य न रचा जाता तो सम्भवतः आज अधिकांश भारत यवन होता। साहित्यकी धरापर धर्म सरल, सरस होकर जीवनमें एकरस हो जाता है। साहित्य अपनी स्वर्ण-जैसी बहुमुखी क्षमतासे धर्मकी अप्राकृतिक जड़ता भी सहजमें हर लेता है, भक्तिकालीन विपुल साहित्य इस बातके लिए दर्पण तुल्य है।

अब यह भी निर्विवाद है कि राजनीतिक वातावरणका पूर्ण प्रभाव साहित्यपर रहता है। राजनीति जीवनसे पृथक् नहीं है और साहित्य भी जन-जीवनके सुख दु:खमें स्वयको निमग्न देखना चाहता है और देखता आया है।

(ब) धार्मिक सम्प्रदाय और जैनधर्म (१६-१७वीं शती)

भारतवर्षमें अनेक विदेशी जातियाँ आयीं, बसीं तथा कुछ समयके पश्चात् भारतीय संस्कृतिमें स्वयकी संस्कृतिको ऐसा एकाकार कर लिया कि फिर उन्हें पृथक् करके समझना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। भोजन, वेशभूषा,, आचार-विचार प्राय एक-से हो गये। परन्तु यवन लोग ऐसे आततायी बनकर आये कि भारतकी धर्म-प्राण जनताकी आत्मा तिलमिला उठी, उसे ऐसा लगा कि धर्म, आचार-विचार और एक ही शब्दमें कहा जाय तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति ही इन यवनोंके द्वारा अविलम्ब छिन्न-भिन्न कर दी जायेगी। इसके लिए यवन सम्राटोंने कभी राक्षसी वृत्तिसे अधिकारपूर्वक, तो कभी साधुताके आवरणमें छलपूर्वक बड़े प्रयत्न किये। अनेक पवित्र देवालय भूमिसात्

प्रबल धाराका घोर आतंक छा गया था। जनताको मुसलमान होनेसे बचानेके लिए इन सुधारकोंने अपने पन्थकी रचना इस ढंगसे की कि मुसलिम मतकी ओर झुकी हुई जनता सहजमें ही इनकी अनुयायी हो गयी। (वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, बहुदेवोपासना, मूर्ति-पूजा, साकारवाद आदि हिन्दुत्वकी विशेषताओंको हटाकर इन पन्थोंने उपासना-विधि मुसलमानोंकी भाँति सरल कर दी। इसीलिए कबीरपन्थ, दादूपन्थ, महानुभाव आदि पन्थ जोरोंसे फैल गये। इनमें-से प्राय सबने वेद-मार्गको छोड एक ऐसा मध्य मार्ग चलाया कि बहुत बड़ी संख्या मुसलमान बननेसे बच गयी।"[1] एक दीर्घकालीन संघर्षके बीच पिसती हुई जनता अब एक सरल, सीधा व्यय और क्रियाकाण्ड-रहित मार्ग चाहती थी। ऐसे ही समयमें विविध उदाराशय सन्तों और कवियोंने एक सामान्य, सुबोध और सहज-आचरण योग्य धर्मका प्रचार कविता-द्वारा, उपदेशों द्वारा तथा जन सेवा-द्वारा किया, जिससे जनताने पुन सान्त्वना प्राप्त की।)

हमें यह न भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य भारतकी स्वाभाविक चिन्ता-धाराका विकसित परिणाम है, वह यवन नीतिकी प्रतिक्रियाका आवेशपूर्ण साहित्य नहीं है, हाँ यवनों-द्वारा वह साहित्य एक सीमा तक प्रभावित अवश्य हुआ है। एतदर्थ भारतीय जनता ऐसा साहित्य बिना प्रभावके न लिख सकती थी—यह पूर्वाग्रह लेकर चलना अनुचित होगा। यज्ञोंकी, शास्त्रार्थोंकी और अतिआचारोंकी धूमसे भारतीय जनता पहलेसे ही काफी ऊब चुकी थी—जनपथके बीज स्वभावत पड चुके थे। प्रौढ विचारक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभावकी प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बतानेका प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तोंकी जाति-पाँतिकी विरोधी प्रवृत्ति अवतारवाद और मूर्तिपूजाके खण्डन करनेकी चेष्टामें मुसलमानी जोश है। किसी-किसीने तो कबीरदास आदिकी वाणियोंको 'मुसलमानी हथकण्डे' भी बताया है। ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तोंके केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य, वस्तुके उपस्थापनकी प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्योंकी

[1] रामदास गौड़ 'हिन्दुत्व', पृ० ७२५।

देन है ?"[1] द्विवेदीजी आगे लिखते हैं—"परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्मका कोई प्रभाव इस साहित्यपर नहीं पडा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जातिके स्पर्शमें आनेपर दूसरीपर उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्यके सुवर्ण-कालमें भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदासकी कविताओंमें यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जाता कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तिका निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यमें भी यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूपमें ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रियाके रूपमें नहीं।"[2]

उल्लिखित विवेचनको ध्यानमें रखकर यदि भारतीय साहित्यका अध्ययन किया जाये तो हिन्दीके साथ बँगला, मराठी और गुजरातीके साहित्यमें भी धर्मकी प्रमुखरूपेण प्राण-प्रतिष्ठा होती मिलेगी।

इस सत्यको "दोहरानेकी आवश्यकता नहीं कि १५वी और १६वीं शताब्दीकी धर्म-परम्परा और वैष्णव धर्मकी पुनर्जागृतिका हिन्दी साहित्य ऋणी है, विशेष रूपसे तुलसीदास, वल्लभाचार्य और हित हरिवंशके नेतृत्वमें, जिन्होने धार्मिक रचनाओंकी निर्मित और गायनको महती शक्ति दी, जिसने हमारे साहित्य-कोषको अनुपम प्रतिभाके मणि-रत्नोंसे आपूरित कर दिया।"[3]

भक्तियुगमें धर्मकी मात्रा प्रमुख रूपसे है। इसका प्रधान कारण उस समय सम्पूर्ण देशकी परिस्थितिका ऐतिहासिक दृष्टिसे एक सा होना है।

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० २८।
२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० २८-२९।
३ I hardly need repeat the fact that Hindi literature is greatly indebted to the religious fervour and Vaishnav revival of the 15th and 16th centuries chiefly under the leadership of the great Tulsidas, Ballabhacharya and Hit Haribansh, who gave a great empetus to the composition and singing of religious songs which have filled the treasure house of our literature with jewels of unparalleled brilliance :—Second Terminal Report on Hindi, 1909, 1910, 1911

यही कारण है कि सभी भारतीय भाषाओंका तात्कालिक साहित्य धर्म-प्रधान है। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त लिखते हैं—"सभी अद्यतन भारोपीय भाषाओंके साहित्यकी ऐतिहासिक प्रगतिकी एकात्मता वास्तवमें आश्चर्य-चकित कर देनेवाली है। इस ऐतिहासिक एकताका कारण यही है कि सभी भाषाओंके साहित्यका इतिहास प्राचीन और मध्ययुगमें जो निर्मित हुआ उस समय भारतके विभिन्न प्रदेशोंकी ऐतिहासिक दशा प्रायः एक-सी थी।"[1] यह धार्मिक साहित्य-सृजनका क्रम छोटे या बड़े रूपमें १८वीं शताब्दीके अन्तिम चरण तक चलता रहा। उसके पश्चात् गोरांगोंकी भौतिकताके बाह्य आकर्षणसे मोहाभिभूत कविताने अब धीरे-धीरे अपने प्राचीन वस्त्र उतारना आरम्भ कर दिया। मध्यकालीन कविताकी धार्मिक पृष्ठ-भूमिके सम्बन्धमें डॉ० शशिभूषणदास गुप्तके ये विचार उद्धरणीय हैं—

"आधुनिक भारतीय साहित्योंका उद्भव और विकास कुछ निश्चित धार्मिक सम्प्रदायोंसे घनिष्ठ रूपसे है—जिन सम्प्रदायोंने दशम शताब्दीसे आगेके समयमें जन-जीवनको इस दिशामें उद्वेलित किया था।"[2] साहित्यका एक प्रमुख लक्ष्य सदैवसे रहा है। विश्वके सभी देशोंमें और विशेष रूपसे धर्म-प्रधान भारतमें तो ऐसा हुआ ही है। वास्तविक रूपमें भारतीय साहित्यके इतिहाससे कुछ प्रमुख धर्मोंका इतिहास ऐसा लिपटा हुआ है कि उसके अध्ययनके अभावमें तत्कालीन साहित्यका प्रामाणिक अध्ययन सम्भव नहीं है। अतः हमें यदि किसी मध्ययुगीन अथवा भक्तिकालीन साहित्यका अध्ययन पूर्णरूपमें करना है तो तत्कालीन उत्तर भारतमें प्रचलित सभी धार्मिक सम्प्रदायोंपर एक विहगम दृष्टि अवश्य डालनी होगी।

कविवर बनारसीदासका जीवन तो एक ऐसे साहित्यकारका जीवन था जिसने जैन परम्पराके अन्तर्गत रहकर ही साहित्य-सेवा की। सम्पूर्ण जैन-साहित्य-प्रकृतिका ब्रह्म धर्म प्रमुख रूपसे रहा है, इसे स्वीकार करनेमें भी जैन साहित्यकारोंने लज्जा और सकोचकी अपेक्षा गौरवका ही अनुभव किया है।

धर्ममें आडम्बर और क्रियाकाण्डकी निरर्थक व्यस्त योजनाओंके कवि-

---

१. S B Das Gupta, Obscure Religions Cults p 33

२ वही, पृ० ३३।

वर बनारसीदासजी विरोधी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन यदि विविध धर्मोंकी एक 'प्रयोगशाला' कहा जाये तो कोई अतिशयपूर्ण वार्ता न होगी। कभी वैष्णव, कभी शैव, कभी तान्त्रिक, कभी क्रियाकाण्डी, कभी नास्तिक, कभी श्वेताम्बर तो कभी दिगम्बर जैनके रूपमें कविने सभी धर्मोंका अनुभव किया और इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि धर्मका सम्बन्ध यदि बाह्य प्रदर्शन क्रियाकाण्डादिसे रखा जायेगा तो उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ क्षुद्रता और स्वैराचार पनप उठेंगे। धर्मके नामपर सभी अमानवीय तत्त्व भी पुष्ट होंगे। अतः धर्मका नाता अन्तस्से—आत्मासे होना चाहिए। यदि हम निश्चित रूपसे अन्दरसे शुद्ध हैं तो संसारकी कोई भी शक्ति हमारा पतन कदापि नहीं कर सकती।

तो अब हम कविके जीवनको प्रभावित करनेवाले १६वी और १७वीं शताब्दीके वे सभी धार्मिक सम्प्रदाय समक्ष लें जो उस समय उत्तर भारतमें विद्यमान थे और साहित्य संसारको अपनी अलौकिक आभासे आलोकित कर रहे थे।

इस प्रकरणमें हमारा ध्येय विभिन्न धर्मोंकी ऐतिहासिक तिथियोंके आधारपर नवीनता और प्राचीनता सिद्ध करना तथा उसी नवीनता और प्राचीनताके आधारपर उन्हें छोटा-बड़ा कर दिखाना नहीं है। १६वीं-१७वीं शताब्दीमें उत्तर भारतमें किसी भी रूपमें विद्यमान सभी प्रमुख धर्मोंका सामान्य तथा जैन धर्मका विशेष परिचय इस शाखामें दिया जायेगा।

शैव धर्म

शैव धर्म यद्यपि उत्तर भारतमें दक्षिण भारतकी ही देन है, परन्तु यहाँके वर्तमान धर्मोंमें इस धर्मकी प्रमुखता रही है। वेदादिमें वैसे मूर्ति-पूजाकी कोई चर्चा नहीं है, परन्तु आगे चलकर वेदोक्त रुद्रादि देवता ही शिवके रूपमें अर्चित होने लगे। रुद्रको ऋग्वेदमें भय और ताडनाका देवता माना है, तो ऐसे सूक्त भी ऋग्वेदमें हैं जिनमें रुद्रको रक्षा और निर्माणका देवता माना गया है। डॉक्टर मूर और वेबर जो प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता थे, वे भी रुद्रको भयका देवता मानते थे। सी० वी० नारायण अय्यर लिखते हैं—"वैदिक देवताओंकी ठीक विशेषताओंके समझनेमें ये विदेशी विद्वान् असफल रहे हैं, क्योंकि प्रकृतिकी घटनाओंका व्यक्तीकरण इन्हींके द्वारा होता था, ऐसी इनकी धारणा थी। कोई भी व्यक्ति वैदिक सूक्तोंके

अध्ययनसे इस निश्चयपर पहुँच जायेगा कि रुद्रके दो कार्य थे—सफलता वितीर्ण करना और दुःखोका नाश करना।"[1]

दक्षिण भारतने कला और संस्कृतिके साथ उत्तर भारतको कुछ धार्मिक देन भी दी है। शैव धर्मका आगमन उत्तर भारतमें दक्षिणसे हुआ। दक्षिण भारतमें शैव [2]आलवारोकी संख्या ६४ मानी जाती है। इनमें माणिक वाचक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर अधिक प्रसिद्ध हैं। आलवारोकी अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्यके दो महान् संग्रह ग्रन्थोमें सुरक्षित हैं। उनमें-से एकका नाम 'देवरन' अर्थात् भगवत् प्रेमके हार और दूसरेका नाम है 'तिरु वाचकम्' अर्थात् पवित्र वाणी। 'परिय पुराणम्' तथा 'ईश्वर लीला' नामक महान् ग्रन्थोंमें इनके पवित्र चरित्रका वर्णन है।

शैवोंके मुख्य पाँच भेद हैं—१ सामान्य शैव, २ मिश्रशैव, ३ वीरशैव, ४ वसव पक्षी लिंगायत शैव, ५ कापालिक शैव।

१ सामान्य शैव—भस्म धारण करते हैं। भू-प्रतिष्ठित शिवलिंगकी अर्चना करते हैं। अष्टविधिसे शिवका ध्यान करते हैं।

२, मिश्र शैव—सिंहासनस्थ लिंगकी पूजा करते हैं। उमा, विष्णु, गणपति, सूर्यकी पूजा करते हैं। ये शंकराचार्यके अनुयायी स्मार्त शैव हैं। अनेक देवोकी मिश्रित भावसे पूजा करते हैं अतः मिश्र कहलाते हैं।

३ वीर शैव—इन मतानुयायियोकी मान्यता है कि सम्पूर्ण जगत्का निर्माण, विकास और नाश शिव द्वारा ही होता है। सम्पूर्ण विश्वको ये शिवमय ही मानते हैं। यह मत पाशुपत मतसे अभिन्न है। ये लोग लिंगायत नामसे भी प्रसिद्ध हैं। इनकी मान्यता है—"शिवलिंग सब संकटोका नाशक है, परब्रह्म है, जो इसे भक्तिसे धारण करता है उसे पाशुपत कहा

---

१ सी० वी० नारायन अय्यर, 'ओरीजिन ऐण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इण्डिया' प्रथम अध्याय, पृ० १।

२ दक्षिण भारतमें लोगोंके हृदयमें भगवत्-प्रेमकी बुझती हुई लौको पुनः उद्दीप्त तथा वायुमण्डलको पवित्र करनेवाले सन्त हुए जो आलवार नामसे अब भी प्रसिद्ध हैं। आलवारका अर्थ है अध्यात्म ज्ञानरूपी समुद्रमें गहरे गोते लगानेवाला। शैव और वैष्णव दोनों ही अपने सन्तोंको अलवार शब्दसे सम्बोधित करते थे।—'विश्व धर्म दर्शन' श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, पृ० २८०।

जाता है।"[1] इसी आधारपर मृत्युपर्यन्त शरीरपर ये लिंग धारण किया करते हैं। मद्रास और हैदराबादमें इनकी प्रधानता है।

शैव धर्मके सभी सम्प्रदायोंमें वीर शैवोंका सम्प्रदाय अधिक प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताके सम्बन्धमें डॉ० भाण्डारकर और फर्कुहरने एक ही आशयमें लिखा है—"बसव नामक एक शैवोद्धारकसे कुछ समय अर्थात् आजसे लगभग आठ सौ वर्ष पहले वीर शैवमतका आरम्भ हुआ है।"[2]

४ बसव पक्षी लिंगायत—शैव मतकी इस शाखाका आधार बसवेश्वर पुराण है। यह एक प्रकारसे सुधारवादी मत है। वीर शैवोंकी बहुत-सी बातें न मानकर केवल शिवको ही एक देवता स्वीकार किया। क्रियाकाण्ड, तीर्थयात्रादिको सर्वथा व्यर्थ ठहराया।

५ कापालिक शैव—ये तान्त्रिक साधु होते हैं। मनुष्यकी खोपड़ी लिये रहते हैं। मद्य-मांसादिका भी भक्षण करते हैं। पहले इनमें नरबलि भी होती थी। ये वाममार्गी हैं, श्मशानमें रहकर वीभत्स रीतिसे ये उपासना करते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—यह शाखा काश्मीरी शैवोंकी है। इनके अनुसार सम्पूर्ण संसार शिवमय है। जीव और ईश्वर एक है, इस ज्ञानकी प्राप्ति ही मुक्ति है। यह मत शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तका पोषक और शिवसूत्रोंपर निर्भर है।

शिवाद्वैतवाद—"भक्ति-प्रधान शैव मत है। इस मतकी मान्यता है-शिव भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है। कर्म और ज्ञानका फल मुक्ति है, यही इस मतकी मान्यता है। सर्व शक्तिमान् शिव ब्रह्म हैं और जीवोंको उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करते हैं। जीव अज्ञान-वासनाओंसे बद्ध हैं। बन्धन कट जानेपर परब्रह्मके समान ऐश्वर्य प्राप्त कर असीम आनन्दका अनुभव करता है।"

वैष्णव धर्म

'महाभारत' काल तक वैदिकके वरुण तथा इन्द्रका स्थान विष्णु ले

---

१ परब्रह्म इव लिङ्गम्, पशुपाशविमोचनम्।
यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते॥

२ 'वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजन सिस्टिम्स' डॉ० भाण्डारकर, पृ० १६०।

चुके थे। आगे चलकर भारतवर्षमें विष्णु-पूजाके साथ साथ उनके अवतार राम और कृष्णकी पूजा भी आरम्भ हो गयी। प्राचीनताकी दृष्टिसे पाञ्च-रात्र मतको पुष्ट करता हुआ भागवत सम्प्रदाय या वैष्णव मत महाभारत कालमें भी था, परन्तु आगे चलकर बौद्ध धर्मकी प्रतिष्ठा बढ़ी और इसका ह्रास भी हुआ। समय पाकर पुन यह धर्म उठा और सम्पूर्ण भारतका एक व्यापक धर्म बन गया।

श्री विष्णुके चरित्रसे सम्बन्धित अनेकों पुराण हैं— विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत् इत्यादि। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि 'श्रीमद्भागवत्' की ही है। वैष्णव सन्तोंने समय-समयपर धार्मिक विषमता तथा पारस्परिक कटुता समाप्त करनेके लिए जनताका हृदय भगवद्भक्तिमें एकात्म करनेके लिए अनेकों अथक भव्य प्रयत्न किये। ये सन्त केवल ज्ञाता और उपदेष्टा न थे, वरन् चरित्रकी भव्य मूर्ति भी थे। वैष्णव सन्तोंके सम्बन्धमें प्रकाण्ड पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"सुदूर दक्षिणमें आलवार भक्तोंमें भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं जिनमें कमसे कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नामकी एक महिला भी थी। इनमें-से अनेक भक्त उन जातियोंमें उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगोंकी परम्परामें सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिणमें आजकी भाँति ही जाति-विचार अत्यन्त जटिल अवस्थामें था।"[1] आचार्यजी आगे लिखते हैं—"फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेनने लिखा है, इस जाति-विचार शासित दक्षिण देशमें रामानुजाचार्यने विष्णुभक्तिका आश्रय लेकर नीच जातिको ऊँचा किया और देशी भाषामें रचित शठकोपाचार्यके तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्ति शास्त्रको वैष्णवोंका वेद कहकर समादृत किया।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव सन्तोंने आरम्भमें दक्षिणमें भी एक धार्मिक क्रान्तिको जन्म दिया और स्पष्ट घोषणा की कि धर्म जातिवाद और वर्गवादकी संकुचित पगडण्डियोंका चेरा नहीं है वह मानवताके राजमार्गका उद्घोषकर्ता है। सर्वश्री नाभादासजी, ज्ञानेश्वरजी, नामदेवजी, तुकारामजी, नरसी मेहता, रामदास, स्वामी, मीराबाई,

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० ४५।
२ वही।

सूरदास, तुलसीदास एवं आलवार सन्तोंने किसी मत-विशेषका प्रचार करनेका दृष्टिकोण कभी नहीं बनाया। सदैव अपनी गाढ़ भक्तिसे आप्लावित भजनों द्वारा जनतामें एकता, शान्ति और सन्तोषका अक्षय भण्डार भरते रहे। कृष्णभक्ति शाखाके अष्टछापके कवियों-द्वारा भी वैष्णव मतका पर्याप्त प्रचार और प्रसार हुआ।

उल्लिखित वैष्णव सन्त भक्तोंके अतिरिक्त कुछ प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य भी वैष्णव सम्प्रदायमें हुए जिन्होंने इस धर्मके विचार-पक्ष (दर्शन)-पर अपने विचार बड़े विस्तारसे रखे। (उत्तर भारतमें विशेष रूपसे वैष्णव सम्प्रदायका दार्शनिक पक्ष ही परिपुष्ट किया गया। भक्तिकालीन साहित्यपर भी इसकी गहरी छाप है।)

वैष्णव-दर्शनके प्रमुख आचार्य हैं— १ श्री यामुनाचार्य (विशिष्टाद्वैत दर्शन), २ श्री रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत दर्शन), ३ आचार्य रामानन्द (जीवन-दर्शन भक्ति), ४ श्री मध्वाचार्य (द्वैतवाद), ५ श्री निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत), ६ वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैत), ७ श्री चैतन्य महाप्रभु (अचिन्त्य भेद-भाव)।

श्री यामुनाचार्य आधुनिक वैष्णव धर्मके प्रवर्तक तथा रामानुजाचार्यके गुरु थे। इन सभी आचार्योंमें आचार्यप्रवर रामानन्दजी अत्यधिक उदार, आदर्श, लोकप्रिय तथा विद्वान् थे। आज हिन्दी साहित्यको जिन गिने-चुने कवि-सम्राटोंपर गर्व है, वे उक्त आचार्यप्रवरकी शिष्य-परम्परामें-से ही थे। भारतीयताकी रक्षाके लिए वैष्णव धर्ममें जन-धर्मके भाव भरनेकी बड़ी आवश्यकता थी। आचार्य रामानन्दजीने वैष्णव मतको अत्यन्त सरल, सर्व ग्राह्य बनाकर लोदी बादशाहोंकी हिन्दू-संहारिणी नीतिके द्वार बन्द कर दिये। महात्मा कबीरदास, महात्मा तुलसीदास, रैदास, पीपा, धन्ना, सेना आदि रामानन्दजीके शिष्य थे। इनमें कबीर जुलाहा, रैदास चमार, पीपा राजपूत, धन्ना जाट और सेन नाई था।

आचार्य रामानन्दके सम्प्रदायकी शिक्षाका सार है—ईश्वरकी भक्तिसे जीव संसारके कष्टों और आवागमनसे मुक्त हो सकता है। यह भक्ति रामोपासनासे ही मिल सकती है। मनुष्य-मात्र इसका अधिकारी है। जाति-पाँतिका भेद भक्तिमें कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता।

(आज सम्पूर्ण भारतमें तथा विशेष रूपसे उत्तर भारतमें प्रचलित धर्मोंमें वैष्णव धर्मके माननेवालोंकी संख्या सबसे अधिक है। हिन्दी,

बँगला, मराठी और गुजरातीके साहित्यको (१६-१७वी शतीके) वैष्णव मतने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भक्तिकालीन साहित्यकी प्रमुख आधारशिला वैष्णव धर्म था। जैन और बौद्ध साहित्यके अपवादके साथ एक विस्तृत सीमा तक अद्यावधिक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य वैष्णव धर्मसे अनुप्राणित रहा है।

इसलाम धर्म

(इसलाम धर्मके आदि प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहबका जन्म ५७० ई० में अरबके मक्का शहरमें हुआ था)। हज़रत मुहम्मद साहबके जन्मके समय अरब निवासियोका आचार-विचार अत्यन्त अध पतित हो चुका था। नरबलि, व्यभिचार, द्यूत, मद्यपान और बलात्कार आदि बातें तो साधारण हो चुकी थीं। पिताकी अनेको स्त्रियाँ उसकी मृत्युके पश्चात् पुत्रोकी हो जाती थी। छोटे-छोटे बच्चोको उन्मादवश कौतुकके लिए मार डालना भी साधारण था। इस प्रवृत्तिके प्रति असहिष्णुता दिखानेवाले भी मृत्युके घाट अविलम्ब उतारे जाते थे। हज़रत मुहम्मद साहबके सरल, मेधावी और प्रभावक व्यक्तित्वने इस प्रवृत्तिको रोकनेका बीडा उठाया, उन्हें धीरे-धीरे इतनी सफलता मिली कि बादमें इसलाम धर्म अरबमें ही नहीं अपितु विश्वके बहुत बडे भागमें विस्तार पा गया।

इसलाम धर्मकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक 'क़ुरान' है। इसका सार है—(भिक्षुओको दान देना प्रत्येक गृहस्थका आवश्यक कार्य है। किसीके साथ अन्याय न करना, रोगीकी सेवा करना, किसीके प्रति घृणा न करना। जो भगवान्के बन्दोको प्यार नहीं करता ईश्वर उसे भी प्यार नही करता इत्यादि।)

(मुसलमानोके मुख्य सम्प्रदाय ये हैं—सुन्नी, शिया, बताबी, आगाखानी, कादियानी। इनके अतिरिक्त प्रेममार्गी सूफ़ी मत भी है। मुसलमानोका वह उदार दल जो प्रियतमाके रूपमें परमात्माकी उपासना करता है, सूफ़ी कहलाता है।)

भारतवर्षसे भी इसलाम धर्मका लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना सम्बन्ध है। इस देशमें यवन जाति शासकके रूपमें आयी। जिन कुरीतियोके विरोधमें इसलामने जन्म लिया था, विस्तार पाया था, प्रभुता पाते ही पुन वे ही कुरीतियाँ और दोष इसलाममें पुन आ घुसे। सम्पूर्ण वीरगाथा-

कालीन और भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य मुस्लिम सभ्यतासे प्रभावित अवश्य रहा है। स्वाभाविक चेतना और यवन प्रभाव ही इस साहित्यके मूलमें हैं।

सूफी शाखाने हिन्दू-मुसलिम संगठनमें बड़ा प्रबल कार्य किया। (मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान और रहीम – जैसे कविरत्न हमें यवनोंसे ही प्राप्त हुए हैं।)

सिक्ख धर्म

(सिक्ख धर्मके आदि प्रवर्तक गुरु नानक देव थे। आपका जन्म वैसाख सुदी ३ संवत् १५२६ (१८ अप्रैल, १४६९) में राईबोईकी तलमण्डी (आजका नानकाना) में हुआ था।) आप बाल्यावस्थासे ही शान्त प्रकृतिके थे। मन भक्तिमें ही तल्लीन रहता था। वैराग्य भावकी वृद्धिके कारण आपने संसार कल्याणके लिए १५५४ में देशाटन आरम्भ किया। दीर्घ-कालीन अनुभव द्वारा आपने स्पष्ट किया कि मनुष्यकी एक जाति है और वह है 'मानवजाति'। पृथक् और जातियोंमें देखकर हम कल्याणकी खोज नहीं कर सकते। सं० १५९६ में आपने निर्वाण प्राप्त किया।

सिक्खोंके गुरु थे—(१ गुरु नानक, २ अंगद, ३ अमरदास, ४ रामदास, ५ अर्जुनदेव, ६ हरगोविन्दसिंह, ७ हरिराय, ८ हरिकृष्णगुरु, ९ तेगबहादुर, १० गुरु गोविन्दसिंह। इन दस गुरुओं तक ही गुरु-परम्परा चली। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंहने आज्ञा कर दी थी कि अब भविष्यमें कोई व्यक्ति गुरु नहीं होगा, केवल 'ग्रन्थसाहब' ही गुरु होंगे।)

सिक्ख धर्मके मूल सिद्धान्त ये हैं—(१ ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। २ धर्म और सदाचारका पालन। ३ ईश्वरको छोड़ अन्यकी पूजा न करना। ४ ईश्वर द्वारा निश्चित कर्मोंको निष्काम भावसे करना। ५ भ्रातृभाव। सिक्ख धर्मके पाँच चिह्न हैं—केश, कंघा, कड़ा, कृपाण कच्छा। सिक्खोंका धर्म ग्रन्थ 'ग्रन्थसाहब' है जिसमें मुक्तिमार्गका विवेचन है।)

सिक्ख जाति और उसके सन्तोंको आरम्भसे ही यवनोंसे जूझना पड़ा। कई सिक्ख गुरुओंकी तो दुष्टतापूर्वक हत्या भी की गयी, परन्तु ये अपने धर्मसे कदापि विचलित न हुए। पंजाबी भाषाका साहित्य और पंजाबी धर्मगुरु दोनोंने ही हिन्दीसे लिया और दिया भी है।

बौद्ध धर्म

भारतीय साहित्यको बौद्ध संस्कृति और धर्मने भी पर्याप्त मात्रामे प्रभावित किया है। भक्तिकालीन साहित्यके समय यद्यपि बौद्ध धर्मका उतना प्रभाव उत्तर भारतपर न था जितना कि गुप्तकालमें और स्वय महात्मा बुद्धके समय, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस धर्मके मर्म अहिंसा और सादगीने भारतकी साहित्य स्रोतस्विनीको अवश्य ही अद्यावधि प्रभावित किया है। भक्तिकालीन सम्पूर्ण सन्तोपर तात्कालिक ऐतिहासिक परिस्थितिके साथ बौद्ध परम्पराकी भी छाप है।

ईसाई धर्म

नामके लिए तो ईसाई लोगोका आगमन १७वी शताब्दी तक आरम्भ हो गया था, परन्तु उस समयके साहित्यको भी इस धर्मने प्रभावित किया हो ऐसी स्थिति इस धर्मवालोकी उस समय इस देशमें न हो सकी थी। उस समय तक तो 'शरणार्थी'-जैसी ही अँगरेजोकी दशा थी।

(इस प्रकार यदि वीरगाथाकालसे भक्तिकालके अन्त तकके हिन्दी साहित्यकी धार्मिक पृष्ठभूमि देखी जाये तो हमें दो बातें स्पष्ट परिलक्षित हो जायेंगी—१०वी शताब्दी तक ब्राह्मण धर्म पुन पूर्णरूपेण प्रभुता स्थापित करनेकी शक्ति पा चुका था। वह वेदमार्गका बडी प्रबलताके साथ उद्घोष कर रहा था, जब कि बौद्ध, शैव, शाक्त, जैन और स्वयं यवन इस ब्राह्मण मान्यताके पक्षमें न थे। यह धार्मिक उथल पुथल हिन्दीके भक्तिकालीन साहित्यमें सगुण, निर्गुण साधनाके रूपमें, विविध नवीन पन्थोंके रूपमें तथा धर्ममें अति आचार (अत्याचार) के विरोधके रूपमें आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यदि साहित्यकी धर्म-पीठिकामें थोडा और पैठा जाये तो यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि आगे चलकर जब यवनोकी पूर्ण प्रभुता इस देशपर स्थापित हो गयी और इसलामके विरोधमें उससे बचनेके लिए एक सयुक्त मोरचेकी आवश्यकता हुई तो कुछ स्वाभाविक भी ऐसा ही था कि बौद्ध शैव और शाक्त स्वयको ब्राह्मण-धर्मकी ओर सम्मिलित कर लें और हुआ भी ऐसा ही। हाँ सिद्धान्तत कुछ बातोमें फिर भी विरोध बना ही रहा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—गोरक्षनाथका जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्मसाधनामें बडे उथल-पुथलका है। एक ओर मुसलमान लोग

भारतमें प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र और टोने टोटकेकी ओर अग्रसर हो रही थी। दशमी शताब्दीमें यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूपसे अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवोंका एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेदके प्राधान्यको नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियोंने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्गको श्रुतिसम्मत मान लिया जाये परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचारको अत्यन्त निम्नकोटिका आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।"[1]

धर्मके सम्बन्धमें स्वतन्त्र ढंगसे सोचने और माननेकी एक आदर्श परम्परा विकसित होती हुई हमें भक्तिकाल तक प्राप्त होती है। जिसका और भी विकसित परिणाम भक्तियुगीन साहित्यमें हमें प्राप्त होता है।

जैन धर्म

एक समय था जब जैन धर्मको हिन्दू धर्मकी एक स्वतन्त्र सुधारवादी शाखा अथवा बौद्ध धर्मकी एक शाखाके ही रूपमें विद्वान् स्वीकार कर लेते थे, किन्तु समय और अनुसन्धानोंके परिणामस्वरूप अब वे प्राचीन धारणाएँ बदल चुकी हैं। अब उसे एक स्वतन्त्र अस्तित्वमें जीवित एवं चिरकालसे पुष्ट और आदर्श धर्मके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। एक और भ्रान्त धारणा चिरकालसे जैन धर्मके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बद्धमूल थी कि जैन धर्मके प्रवर्तक भगवान् महावीर थे अर्थात् जैन धर्म केवल २५०० वर्षसे ही अस्तित्वमें है। अनेक ठोस प्रमाणों द्वारा अब यह धारणा भी समाप्त हो चुकी है। जैन धर्म आदि तीर्थंकर ऋषभदेव-द्वारा प्रवर्तित धर्म है, यह मान्यता आज अनेक विद्वानोंकी हो चुकी है। उल्लिखित दोनों बातोंकी पुष्टिमें हम कुछ सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञों और दार्शनिकोंके मत उद्धृत करेंगे जिससे उक्त बात प्रमाणित हो सके और तथ्य हमारे सम्मुख आ सके।

"भागवत पुराणसे स्पष्ट है कि जैन धर्मके संस्थापक ऋषभदेव थे। ऋषभदेवकी पूजा ई० की प्रथम शताब्दीमें होती थी। इसके प्रमाण भी

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'नाथ सम्प्रदाय' पृ० १४५।

उपलब्ध है। निस्सन्देह जैनधर्म वर्धमान अथवा पार्श्वनाथसे पूर्व प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमिका उल्लेख है।"[1]

पं० जवाहरलाल नेहरू

सभी कदीम हिन्दुस्तानी मतोंके लिए और इनमें बुद्धमत और जैनमत भी शामिल हैं—सनातन धर्म यानी प्राचीन धर्मका प्रयोग हो सकता है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म यकीनी तौरपर हिन्दू धर्म नहीं है और न वैदिक ही है।"[2]

डॉ० ए० सी० सेन

"जैन धर्म भगवान् महावीरसे प्राचीन है, इसका प्रारम्भ सम्भवत प्राक् आर्यकालीन विचारधारामें गर्भित है।"[3]

प्रो० जयचन्द विद्यालंकार

"जैनोंकी मान्यता है कि उनका धर्म बहुत प्राचीन है और भगवान् महावीरके पहले २३ तीर्थंकर हुए हैं। इस मान्यतामें तथ्य है। ये तीर्थंकर अनैतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। भारतका प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना वैदिक।"[4]

डॉ० हेडरिक जिम्मर

"जैन धर्मका विकास ब्राह्मण अथवा आर्य स्रोतोंसे नहीं हुआ है।

---

१ 'The Bhagwata Purana' endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism There is evidence to show that so far back as the first century B C there were people who were worshipping Rishabha, the first Tirthankara There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhman or Parshwanath, The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras, Rishabha, Ajit and Arishtnemi'—Dr S Radhakrishnan, Indian Philosophy Vol I pp 237

२ पं० जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दुस्तानकी कहानी' पृ० ७६।

३ डॉ० ए० सी० सेन, 'दी इण्टो एसियन कल्चर' १ १ ७८।

४ जयचन्द्र विद्यालंकार, 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' भाग १ पृ० ३४३–३४६।

देकर ऋषभदेवने प्रव्रज्या ले ली और तपस्या की। ऋषभदेवने हिम नामक दक्षिण प्रदेश भरतको दिया था अतः आगे चलकर इस देशका नाम भारत पड़ा।"[1]

"इसी आशयके समर्थक कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुमहापुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वाराहपुराण, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण तथा मनुस्मृतिमें अनेकों स्थल हैं।[2]

जैन मान्यताके अनुसार इस दृश्यमान जगत्‌में समय-चक्र सदैव घूमता रहता है। यद्यपि कालका प्रवाह अनादि और अनन्त होनेसे अविभाज्य है तथापि व्यवस्थाके लिए उसके छह विभाग हैं—१ अतिसुखमा, २ सुखमा, ३ सुखमा दुःखमा, ४ दुःखमा सुखमा, ५ दुःखमा, ६ दुःखमादुःखमा। चलती गाड़ीके चक्रके समान प्रत्येक काल नीचे-ऊपर आता है अर्थात् क्रमशः घूमता रहता है। संसार इस काल चक्रके अनुसार एक बार दुःखसे सुखकी ओर जाता है और एक बार सुखसे दुःखकी ओर आता है। दुःखसे सुखकी ओर जानेको उत्सर्पिणी काल तथा सुखसे दुःखकी ओर जानेको अवसर्पिणी काल (अवनतिकाल) कहते हैं। इन दोनों कालोंकी अवधि करोड़ों वर्षोंसे भी अधिक है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी

---

1 अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥ ३९ ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ॥ ४० ॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥ ४१ ॥
—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०।

2 कूर्मपुराण अध्याय ४१ (३७, ३८), अग्निपुराण अध्याय १० (१०, ११), वायुमहापुराण पूर्वार्ध अ० ३३ (५०-५२), वाराहपुराण अध्याय ७४, लिंगपुराण अध्याय ४७ (१९-२३), ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध (५९, ६०, ६१), विष्णुपुराण द्वितीयांश अ० १ (२७, २८), स्कन्दपुराण (कौमार खण्ड) अ० ३७ (५७)।

मनुस्मृति—
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥

द्रव्य विश्वमें व्याप्त हैं या यह विश्व इन छह द्रव्योंसे बना हुआ है। इन छह द्रव्योंके अतिरिक्त ससारमें अन्य कुछ नही है। गुण, क्रिया आदि बातें इन्हीके अन्तर्गत है। सत् ही द्रव्यका लक्षण है। अभाव नामका कोई पदार्थ जैन दर्शनमें स्वतन्त्र रूपमें नहीं है। दृष्टिभेदसे सत्-असत् रूप पदार्थ हो जाता है।

अनेकान्त शब्दका अर्थ है एक ही वस्तुमें आपेक्षिक दृष्टिसे अनेक धर्म (अवस्थाएँ) देखना। काल द्रव्यके प्रभावसे प्रत्येक पदार्थकी अवस्थामें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है अत पर्याय दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, निश्चय दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदैव अस्तित्वमें है अत अविनश्वर है। पदार्थको हम नाशवान् अथवा अविनाशी किसी एक अवस्थामें बाँध नही सकते। यही अनेकान्त है। अनेकान्त चिन्तन-दृष्टिमें सहिष्णुता और विवेकपूर्ण उदारताका सचार करता है।

वस्तु अनेकधर्मात्मक (अवस्थासम्पन्न) है यह तो 'अनेकान्त'-द्वारा स्पष्ट होता है, उसके कथन और स्पष्टीकरणका कार्य स्याद्वाद करता है। 'सप्तभगी' स्याद्वादका भाष्य है ऐसा समझना चाहिए।

क्या जैन दर्शन नास्तिक दर्शन है ? परभव, मुक्ति, आवागमन, स्वर्ग-नरक, ईश्वर आदिका अटूट विश्वासी होनेपर भी जैन दर्शन 'नास्तिक दर्शन' कहकर उपेक्षित भी किया गया है। वेदमें आस्था रखनेपर ही आस्तिकताकी सनद मिलेगी यह मान्यता एक दीर्घकाल तक हमारे बीच रही है और किसी-न-किसी रूपमें आज भी है ही, परन्तु विभिन्न दार्शनिकोने अब जैन दर्शनको आस्तिक और पुष्ट दर्शनके रूपमें स्वीकार कर लिया है जैसा कि वह स्वयं है भी। ईश्वरकी अवतार परम्परा और सृष्टि कर्तव्यमें जैन दर्शन विश्वास नहीं करता। विभिन्न समयमें विभिन्न महान् आत्माएँ जन्म लेती हैं और ससारका कल्याण करती हैं, सृष्टि भी अपनी प्रकृतिसे स्वत बनती-बिगडती है। मनुष्य भी स्वय अपने पूर्वकृत कर्मानुसार सुख-दु खको भोगता है, यह जैन-आस्था है।

जैनोमें विभिन्न सम्प्रदायोका अर्थ सम्पूर्ण विश्वकी जातियाँ, धर्म, सस्कृतियाँ और कृतियाँ—सभीमें सम्प्रदाय, शाखाएँ, उपशाखाएँ आदिके प्रकारान्तरसे भेद प्राप्त होते हैं। यह भेद अर्थात् अनेकताकी परम्परा उनके स्थापन-कालके कुछ ही समय पश्चात्से भेदसे प्रभेदकी ओर प्रसारित होती ही जाती है। ससारकी ऐसी कोई भी जाति अथवा धर्म नहीं है

५. बहुत-से पन्थ व्यक्तिगत आवेशमें जन्म लेते हैं और शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

आज एक ही धर्मको विभिन्न रूपोंमें माननेवाली कई पन्थ-परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। आरम्भमें भेदका कारण छोटा-सा ही होता है लेकिन आगे चलकर इन पन्थोका इनके मूल पन्थसे इतना पार्थक्य-सा हो जाता है कि समझना बहुत कठिन हो जाता है। विश्वमें समता, शान्ति और प्रेमका अमर मन्त्र फूँकनेवाले जैन धर्ममें भी समय-समय-पर अनेक पन्थ और सम्प्रदाय जनमे-पनपे और बहुत-से अल्पायुमें ही काल-कवलित भी हो गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही सम्प्रदाय जैन धर्मके मुख्यतम और अन्य सभी सम्प्रदायोंके जन्मदाता हैं। दोनो ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें इस भेदारम्भका वर्णन प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर मान्यता

आजसे लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान् महावीरने जो उपदेश दिये थे वे उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति और सुधर्मा नामक गणधरो-द्वारा व्यवस्थित रूपसे सकलित किये गये। यह सकलन आगे चलकर द्वादशागी कहलाया अर्थात् भगवान् महावीरकी सम्पूर्ण उपदेशवाणी बारह शाखाओ (अगो) में विभक्त की गयी।

"महावीर निर्वाणकी द्वितीय शताब्दीमें मगधमें एक द्वादशवर्षीय भयकर अकाल पडा। अकालसे पीडित हो तथा भविष्यमें अनेक विघ्नो-की आशकासे आचार्य भद्रबाहु अपने बहुत-से शिष्यो-सहित कर्णाटक देशमें चले गये। जो लोग मगधमें रह गये उनके नेता स्थूलभद्र हुए।"[1]

अकालकी तीव्रता देख आचार्य स्थूलभद्रको द्वादशागीके लुप्त हो जानेकी आशका हुई। वीर निर्वाणके लगभग १६० वर्ष पश्चात् पाटलि-पुत्रमें स्थूलभद्रजीने श्रमण सघकी एक सभा आमन्त्रित की। इस सभामें सर्व सहयोगसे वीरवाणीका ग्यारह अगोमें सकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद अगके चौदह भागोंमें-से (जो कि पूर्व कहलाते थे) अन्तिम चार पूर्व शिष्योको विस्मृत हो चुके थे अतः उनका सकलन न हो सका।

अकाल समाप्त होनेपर जब भद्रबाहु अपने सघसहित मगध लौटे तो स्थूलभद्रके सघसे अपने सघमें उन्हें बहुत अन्तर मिला। स्थूलभद्रके सघके साधु कटि वस्त्र, दण्ड तथा चादर आदिका प्रयोग करने लगे थे,

---

१ 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ' डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४८।

व्यक्तिगत शैथिल्यके कारण मुनियोंके निवास स्थानपर-से विवाद आरम्भ हुआ। इस शिथिलताके बीज तो द्वादशवर्षीय अकालसे थे, परन्तु आगे चलकर इसने व्यापक रूप धारण कर लिया। वनवास छोडकर धीरे-धीरे मुनि मन्दिरो और नगरोंमें रहने लगे। नवम शतीके जैनाचार्य गुणभद्रने इस दशापर खेद प्रकट करते हुए लिखा है—'रात्रिके समय भयभीत मृगादिक जैसे नगरोके समीप आ बसते हैं उसी भाँति मुनि भी कलिकालमें वनोको छोडकर नगरोंमें बसते हैं, यह दु:खकी बात है।'[1] यही शिथिलता आगे बढकर चैत्यवासके रूपमें परिणत हो गयी जो श्वेताम्बरोंमें मान्य है। दिगम्बर साधु भी थोडे-बहुत अन्तरके साथ ऐसा ही करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारक पद इसी प्रवृत्तिका विकसित रूप है। इसी भट्टारक प्रवृत्तिके स्वैराचारके विरोधमें आगे चलकर तेरापन्थका उदय हुआ जिसका नायकत्व प० बनारसीदासजीने विक्रमकी १७वीं शतीमें डटकर किया था।

दिगम्बर सम्प्रदायमे संघभेद

प्राचीन साहित्यमें दिगम्बर सम्प्रदायके लिए मूल सघ अथवा कुन्द-कुन्दाम्नायका ही प्रयोग हुआ है। आगेके ग्रन्थोंमें तो फिर अनेक शाखाओ, प्रशाखाओंकी परम्पराके दर्शन होते हैं। आचार्य इन्द्रनन्दिने लिखा है—'अर्हद्बलि आचार्यने कुछ मुनियोंको एकत्र करके पूछा, क्या सब मुनि आ चुके हैं। उत्तर मिला हाँ भगवन्, हम सभी अपने सघसहित आ गये। 'सघ' शब्द कानमें पडते ही आचार्य समझ गये कि अब जैन धर्म उदासीन भावसे नहीं, बल्कि गणोंके सहारे ही ठहरेगा। तब उन्होने सघ स्थापित किये। गुफाओंसे आगत मुनियोंको नन्दि, कुछको वीर, अशोक वाटिकासे आगत मुनियोंको अपराजित, कुछको देव, कुछको सेन, कुछको भद्र, शाल्मलि वृक्षके मूलसे आये मुनियोंको गुणधर और गुप्त, खण्डकेसर वृक्ष मूलगत मुनियोंमें-से कुछको सिह और कुछको चन्द्र नाम दिये।[2]

---

१ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगा।
वनाद् विशन्त्युपग्राम कलौ कष्ट तपस्विन ॥१९७॥—आत्मानु०।

२ आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्,
देवश्चान्योऽपराजित इति च यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात् सगुप्तौ गुणधरवृषभ शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात् खण्डपूर्वात् ॥९६॥—श्रुतावतार।

काष्ठा संघ—'वि० सं० ७५३ में काष्ठा संघकी उत्पत्ति हुई। इसके संस्थापक कुमारसेन मुनि थे। मयूरपिच्छिके स्थानपर इस संघने गायके बालोंकी पिच्छि ले ली थी। स्त्रियोंको जिन-दीक्षा देता था। वागड देशमें उन्मार्गका प्रचार किया, जटा धारण करता था। प्राचीन शास्त्रोंको अन्यथा रचकर मिथ्यात्वका प्रचार किया। इन कारणोंसे श्रमण संघसे बहिष्कृत होनेपर इन्होंने काष्ठा संघकी स्थापना की।'[1]

माथुर संघ—'इस काष्ठा संघके पश्चात् मथुरामें रामसेनने माथुर संघकी स्थापना की। इस संघके साधु अपने साथ पीछी नहीं रखते थे अतः यह संघ निष्पिच्छ कहा जाता था।'[2]

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें दशम शताब्दी तक पर्याप्त शिथिलता आ चुकी थी। साधुजन मन्दिरोंका द्रव्य निजी काममें लाते थे, व्यापार करते थे, खेती करते थे तथा मन्दिरोंमें रहते भी थे। एक प्रकारसे मठाधीशों-जैसी दशा साधुओंकी हो चली थी। आगे चलकर इन्हींकी बढ़ती हुई परम्परा भट्टारकों (मठाधीशों) में बदली भी है। जैन सम्प्रदाय इस परम्पराके लिए परिस्थितिके साथ बौद्धों, नाथों तथा दक्षिणी शैवोंसे अवश्य ही प्रभावित रहा है।

यद्यपि इन तीनों संघोंमें आरम्भमें दिगम्बर मान्यतासे कोई प्रबल भेद न था, परन्तु बादमें यह भेद बढ़ता ही गया और ये सच्चे अर्थोंमें जैनाभास ही हो गये। नाम ही जैन रह गया, जैनत्व इनसे लुप्त हो गया। इसी परम्परासे दुःखी होकर आचार्यप्रवर आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमें

---

१ आसीकुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खियओ।
सण्णासभंजणेण य अगहिय पुण दिक्खओ जादो ॥३४॥
परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं वित्तूण मोहकलिदेण।
उम्मग्गं सकलियं बागडविसयेसु सव्वेसु ॥३४॥
इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्टं च गुणव्वदं णाम ॥३५॥—वही।

२ सो समणसंघवज्झो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठासंघं परूवेदि ॥३६॥
तत्तो दुसहातीदे महुराए माहुराणगुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥—वही।

झडी लगते भी देर नही लगती। कलकी लाचारी आजकी आवश्यकता बन जाती है। (धीरे-धीरे यह अपवादकी परम्परा इतनी विशाल हो गयी कि कम्बल, दण्ड, तकिये, गद्दे, छत्र, चँवर और पालकी आदिका भी डटकर उपयोग होने लगा। दिगम्बर मुनियोने सभी राजसी वैभव ही स्वीकार कर लिया।)

प्रकृतिका नियम है विराग-त्यागकी चरम सीमाके पश्चात् रागके आरम्भसे उसकी भी चरम सीमा तक पहुँचना और फिर उसी विरागकी ओर बढना। क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या राजनीति सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा ही होता रहा है। इस बढती हुई वैभव लीला और शिथिलाचारको अतिने सच्चे साधुमार्गका समर्थन करनेवाले तेरापन्थके बीज भी स्वयकी देहसे अंकुरित किये।

तेरापन्थ

(विक्रमीय सत्रहवीं शतीके मध्य तक यह भट्टारकी परम्परा इतनी व्यापक हो चुकी थी कि सच्चा दिगम्बरत्व लुप्त-सा हो चला था। सच्चे दिगम्बर जैन साधुओंका शताब्दियोंसे अभाव हो चुका था, दिगम्बर साधुकी चर्या और विशेषताएँ पौराणिक अतिशयोक्ति भी हो चुकी थीं। ऐसे समयमें आवश्यकता एक ऐसे नायककी थी जो सच्चे जैनत्वकी दिशामें जनताका मार्ग निर्देशन कर सके। समाज और धर्मके सम्मुख सच्चा साधुत्व रखनेकी महती आवश्यकता थी।)प्रकाण्ड विद्वान् प० बनारसीदासने सत्रहवीं शताब्दीके द्वितीयार्धमें इस दिशामें जनताका पवित्र एव आदर्श नेतृत्व किया। धर्ममें क्रियाकाण्डकी 'अति, आडम्बरका अभद्र प्रदर्शन और शिथिलाचारको बनारसीदासजीने सर्वथा अस्वीकार किया। उन्होने स्पष्ट कहा, 'धर्ममें व्यक्तिकी नही विचारोकी मान्यता होनी चाहिए।' आपने आत्म-तत्त्व और सिद्धान्तोका अत्यन्त मार्मिक एव युक्तिसगत विवेचन किया। (इस प्रकार शिथिलाचारी भट्टारकोंके विरुद्ध एक आन्दोलन ही चल पडा। जब तेरापन्थ अधिक प्रचलित हो गया तो भट्टारकोका पन्थ बीसपन्थ कहलाने लगा।) यदि तेरापन्थियोने तेरह बातें स्वीकार कीं तो सख्याके महत्त्वकी दृष्टिसे भट्टारकोंने बीस बातें चुनकर अपना बीसपन्थ घोषित कर दिया। तेरापन्थ शब्दके सम्बन्धमें बडी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं—'तेरह साधुओं-द्वारा प्रचारित पन्थ तेरापन्थ है, भगवान् तेरा पन्थ सो मेरा पन्थ तथा पच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और

सम्बन्धमें पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अब हम श्वेताम्बर सम्प्रदायकी विशेषताएँ और उपशाखाएँ ही यहाँ स्पष्ट करेंगे।

दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें भेद एक साधारण-सी बातपर हुआ था, यद्यपि बात सैद्धान्तिक विरोधकी अवश्य थी, परन्तु इतनी बड़ी भी न थी कि आगे चलकर भेद-रेखा एक खाई-जैसा विस्तार भी पा सकेगी। प्रारम्भमें देश-कालकी आपत्तिके कारण अपवाद वेषका विधान हुआ था और वह भी आपत्ति कालकी समाप्ति तकके लिए। शैथिल्य सुधर भी जाता पर आपसी तनातनीने निकटताकी अपेक्षा दूरीको ही बढ़ावा दिया। आज दोनों सम्प्रदायोंमें भिन्नता प्रदर्शित करनेवाली आचार-विचार-सम्बन्धी अनेक बातें आ गयी हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मान्य कुछ बातें ये हैं—

१ स्त्री मुक्ति, २ शूद्र मुक्ति, ३ सवस्त्र मुक्ति, ४ गृहस्थ दशामें मुक्ति, ५ तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे, ६. महावीरका गर्भ हरण, ७ शूद्रके घरसे मुनि आहार ले सकता है, ८ भरत चक्रवर्तीको अपने घरमें कैवल्य प्राप्ति, ९ ग्यारह अंगोंका अस्तित्व, १० मुनियोंके चौदह उपकरण, ११ केवलीका कवलाहार, १२ केवलीका नीहार, १३ अलंकार तथा काछीवाली प्रतिमाका पूजन, १४ महावीरका विवाह, कन्या उत्पत्ति, १५ साधुका अनेक घरोंसे भिक्षा लेना, १६ मरुदेवीका हाथीपर चढ़े हुए मुक्तिगमन, १७ महावीर स्वामीका तेजोलेश्यासे उपसर्ग।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी भेद-रेखाएँ मिलती हैं जिन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता है। दोनों सम्प्रदायोंमें चैत्यवासका प्रचार खूब जोरपर रहा। उपाध्याय धर्मसागर अपनी पट्टावलीमें लिखते हैं—'८८२ वीर नि० संवत्में चैत्यवास स्थितिमें आ चुका था।'[1] मुनि कल्याणविजय आदि विद्वानोंका मत है कि उक्त समय तक तो चैत्य स्थिति पर्याप्त प्रौढ़ हो चुकी थी। 'विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें आचार्य पादलिप्त सूरिजीके समयमें चैत्यवासका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।'[2]

श्वेताम्बरोंमें चैत्यवासी और सुविहितमार्ग ये दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। मन्दिर मार्गी और स्थानकवासीके रूपमें भी श्वेताम्बरोंके मुख्य दो सम्प्र-

---

1. वीरात् ८८२ चैत्यस्थिति।—पट्टावली धर्मसागरजी।
2. अगरचन्द भवरचन्द नाहटा—युग-प्रधान जिनदत्त सूरि, भूमिका मुनि कान्तिसागर, पृ० ७१।

दाय हैं। आज जो जती या श्रीपूज्य कहे जाते हैं वे मठवासी या चैत्यवासी शाखाके हैं। जो संवेगी मुनि कहे जाते हैं वे वनवासी शाखाके हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायके गच्छों (शाखाओं) की संख्या चोरासी थी ऐसा कहा जाता है, आज तो कुछ ही गच्छ प्राप्त होते हैं।

१ तपागच्छ—आचार्य जगच्चन्द्र सूरिने इसकी स्थापना की। संवत् १८८५ मे उन्होंने उग्र तप किया। इस तपके कारण मेवाडके नृपतिने तपा उपनाम दिया। तबसे इनका नाम तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। गुजरातमे इस गच्छका बडा भारी प्रभाव है। श्वेताम्बरामें इस गच्छकी सर्वाधिक मान्यता है। बम्बई, पजाब, राजपूताना और मद्रासमें इसके अनुयायी अधिक मात्रामे रहते है।

२ उपकेश गच्छ—भगवान् पार्श्वनाथसे इसकी उत्पत्ति बतायी जाती है। भगवान् पार्श्वनाथके शिष्य केशी इस गच्छके नेता थे। आज श्वेताम्बरोकी ओसवाल जाति इसी गच्छकी मानी जाती है।

३ पार्श्वचन्द्र गच्छ—यह तपागच्छकी ही एक शाखा है। आचार्य पार्श्वचन्द्रने कर्मसिद्धान्तमे कुछ नवीनता उपस्थित की और स्वतन्त्र गच्छ भी चलाया। अहमदाबाद जिलेमें यह गच्छ प्राप्त होता है।

४ अचल गच्छ—उपाध्याय नरसिंह इस गच्छके संस्थापक थे। इस गच्छमें मुख पट्टीके स्थानपर अचल (वस्त्रका छोर) उपयोगमें लाया जाता है, इस कारणसे यह अचलगच्छ कहा जाता है।

५ सार्धपौर्णिमीयक गच्छ—चन्द्रप्रभ सूरिने प्रचलित क्रियाकाण्डके विरोधके कारण इस गच्छकी स्थापना की थी। वे महानिशीथ सूत्रकी गणना शास्त्रोंमे नही करते थे। आचार्य हेमचन्द्र इस गच्छके पक्षमे न थे, अत राजा कुमारपालसे कहकर इस गच्छके अनुयायियोंको राज्यसे निकलवा दिया था। राजा और आचार्यकी मृत्युके पश्चात् सुमतिसिंह नामक व्यक्तिने पुन इस गच्छको नवजीवन दिया, अत यह सार्धपौर्णिमीयक कहलाता है। आज इस गच्छका अनुयायी कोई नही है।

६ आगमिक गच्छ—इसके संस्थापक शील गुण और देवभद्र थे। ये आरम्भमें पौर्णिमीयक थे, बादमें आचलिक हो गये थे। क्षेत्रपालकी पूजाका ये विरोध करते थे। इसी गच्छकी कटुक नामसे एक शाखा वि० स० १६वीं शतीमे प्रादुर्भूत हुई। इसमे मुनिजन न थे, केवल श्रावक ही इसके अनुयायी थे।

७. खरतर गच्छ—वर्धमान सूरि इस गच्छके आरम्भक थे। इनके शिष्य जिनेश्वर सूरिने गुजरातके अणहिलपुर पट्टणके राजा दुर्लभराजकी सभामें जब चैत्यवासियोको परास्त किया तो राजाने उन्हें 'खरतर' नाम दिया। यही इस नामका इतिहास है। राजपूताना और बंगालमें इसके अनुयायी अधिक हैं।

उल्लिखित गच्छोमें-से आज खरतर, तपा और आचलिक गच्छ ही वर्तमान हैं, शेषका अभाव-सा है। इन गच्छोमें कुछ छोटे-मोटे आचार-विचारसम्बन्धी मतभेदोके अतिरिक्त और कोई जबरदस्त मौलिक भेद नहीं है। आपसमें सभी गच्छोंमें मेल है, रोटी-बेटीका व्यवहार भी होता है। सभी गच्छ स्वयको श्वेताम्बरी रूपमें स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी

आगे चलकर स० १५३० में लोकाने मूर्तिपूजाका विरोध किया, परन्तु उनके शिष्योने इसमें शिथिलता की। इसके पश्चात् लवजीने भी यही कार्य किया, परन्तु इन्हें भी सफलता न मिली। लवजी स्थानकोमें न रहकर ढूंठा (खण्डहरों) में रहते थे, अत इनका सम्प्रदाय ढूंढिया कहलाया। धीरे-धीरे ये ढूंढिया बाईस शाखाओमें फैल गये और अपने-अपने ढगसे उपदेश देने लगे। ढूंढियोंके मुख्य बाईस व्यक्तियोके कारण इस सम्प्रदायका नाम बाईसटोला पड गया, फिर इसीका नाम स्थानकवासी हुआ।

श्वेताम्बर तेरापन्थ (मूर्तिपूजा-विरोधी)

श्वेताम्बरोका यह पन्थ मूर्तिपूजा विरोधी है। शास्त्रानुसार सम्पूर्ण कार्य करनेमें विश्वास करता है। आडम्बर और क्रियाकाण्डको भी यह पन्थ स्वीकार नहीं करता। "इसके आरम्भक श्री भीकजी स्वामी थे। सं० १६८३ (सन् १६२६) में कानोड (मारवाड) में आपका जन्म हुआ था। आपके पिता बल्लूजी सुखलेचा ओसवाल थे। प्रारम्भमें अपने कुटम्बीजनोका अनुसरण करते हुए गच्छकवासी सम्प्रदायके साधुओकी भक्ति करते थे। फिर कुछ समय बाद इनसे अरुचि होनेपर पोतियाबन्धके श्रावकोंसे चर्चा की। आगे चलकर आपने देखा कि इनमें केवल बाह्य-प्रदर्शन है, वास्तविक धर्मका अभाव है, इन्हें भी त्याग दिया। फिर श्री रघुनाथजी, जो कि स्थानकवासी सम्प्रदायके थे, की भक्ति की पर फल कुछ न निकला।

भीखजीके अनुयायी तेरह साधु थे। अतः यह पन्थ तेरहपन्थ नामसे चला।[1]

यह एक विस्तृत सम्प्रदाय है। "इनकी संख्या मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके जितनी ही है, अतः इस सम्प्रदायको जैन धर्मका तीसरा सम्प्रदाय कहा जा सकता है।"[2] इस सम्प्रदायके साधु मुखपर पट्टी बाँधते हैं, सफ़ेद वस्त्र धारण करते हैं।

यापनीय सम्प्रदाय

दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके अतिरिक्त एक यापनीय संघ भी था, जिसे आज कम ही जानते हैं। दर्शनसारके कर्ता श्री देवसेन सूरिके कथनानुसार 'वि० सं० २०५में श्रीकलश नामके श्वेताम्बर साधुने इस सम्प्रदायकी स्थापना की थी। यह समय दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्तिसे लगभग सत्तर वर्ष बाद पड़ता है।"[3]

यह सम्प्रदाय दिगम्बर-श्वेताम्बरका मध्य मार्ग समझना चाहिए। इसके साधु नग्न रहते थे, पीछी रखते थे और भोजन हाथमें ही करते थे। ये बातें इनमें दिगम्बरों-जैसी थीं। किन्तु स्त्रियोंको इसी भवसे मोक्ष तथा केवली कवलाहारी हैं। ये बातें भी ये लोग मानते थे, जो श्वेताम्बरोंकी हैं। वास्तवमें यह सम्प्रदाय दिगम्बरोंकी अपेक्षा श्वेताम्बरोंके अधिक निकट था। आज इनके अनुयायी नहीं हैं। जैसा कि यह सम्प्रदाय दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोंका था और किसीका भी न था क्योंकि पूर्णरूपेण किसीको न मानता था अतः इसे प्रबल प्रश्रय किसी पक्षका न मिल सका। इसके विलीन होनेका यही कारण हो सकता है।

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

आचार्य रत्ननन्दिके भद्रबाहु चरित्रमें अर्द्धस्फालक सम्प्रदायकी चर्चा की गयी है। द्वादशवर्षीय अकालके दुर्भिक्षमें इसकी उत्पत्ति हुई, ऐसा भद्रबाहु चरित्रमें आचार्यने लिखा है। "कुछ दिगम्बर मुनियोंने अपनी नग्नता छिपानेके

---

१ ए शोर्ट हिस्ट्री ऑव तेरापन्थी सैक्ट ऑव द श्वेताम्बर जैन्स एण्ड इट्स टेनेट्स, पृ० १–३।

२ कैलाशचन्द्र शास्त्री जैन धर्म, पृ० ३०५।

३ कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसये पंच उत्तरे जादे।
जावणिय संघ भावो सिरिकलसा दोहु सेवड दो॥ २९॥ —दर्शनसार

लिए खण्ड वस्त्र स्वीकार कर लिया तो उससे अर्धस्फालक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ, धीरे-धीरे इस सम्प्रदायसे ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।"[1]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्द्धस्फालक सम्प्रदायको दिगम्बर सम्प्रदायका जन्मदाता कहता है।

अर्द्धस्फालक दिगम्बर श्वेताम्बरोंमें-से किसके पूर्वज थे इस सम्बन्धमें पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीके विचार उल्लेख्य हैं—"अब रह जाता है यह प्रश्न कि अर्द्धस्फालक श्वेताम्बरोंके पूर्वज हैं या दिगम्बरोंके ? इसका समाधान भी मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे हो जाता है। वहाँके एक शिलापट्ट-में भगवान् महावीरके गर्भ परिवर्तनका दृश्य अंकित है और उसीके पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधुकी है जिसकी कलाईपर खण्डवस्त्र लटकता है। गर्भापहार श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है, अत उसके पास अंकित साधुका रूप भी उसी सम्प्रदायका मान्य होना चाहिए।"[2]

इन विभिन्न धार्मिक शाखाओंकी वृद्धिके साथ जैन साहित्यने भी काफी मोड लिये हैं। धार्मिक क्रान्तियाँ साहित्यकी दिशा सदासे बदलती रही है और ऐसा जैन साहित्यमें भी हुआ है। एक ओर यदि क्रियाकाण्डी और कठोर साहित्य जो कि अति धार्मिकतासे आच्छन्न है, लिखा गया है, तो दूसरी ओर बुद्धितत्त्वसे प्रेरित स्वाभाविक प्रतिभाका परिणामजन्य धर्म-मय साहित्य भी रचा गया है। इसका विस्तृत विवेचन अगली शाखा-में होगा।

यद्यपि आज जैनोंमें छोटी-सी बातोंपर काफी सम्प्रदाय हो गये हैं, फिर भी उन सबके अन्तस्में आज भी जैन सिद्धान्तोंके प्रति अगाध ममता है।
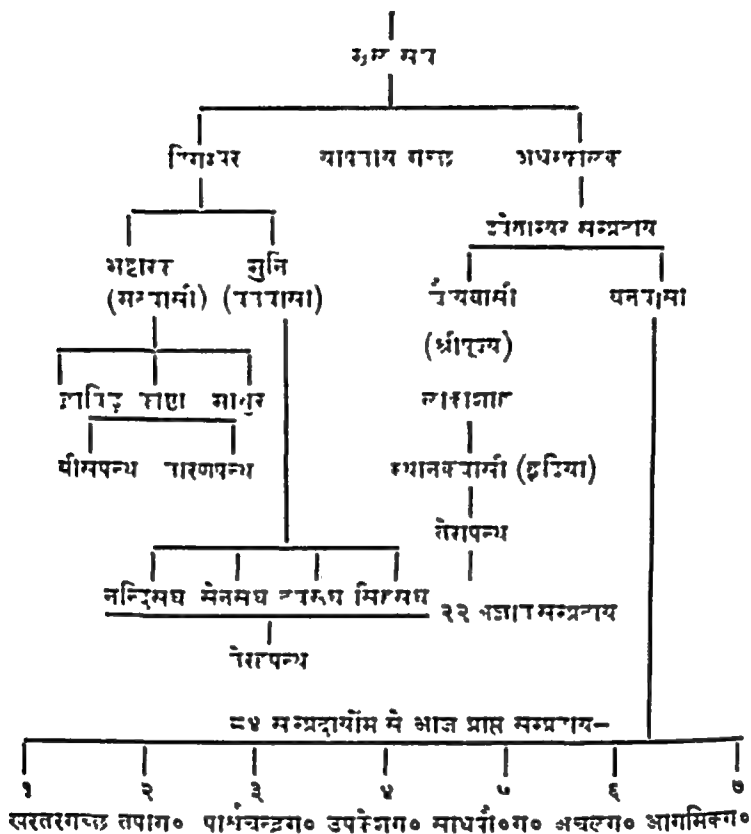
---

[1] जैन धर्म, पृ० ३०८।

[2] जैन धर्म, पृ० ३०६।

सम्पूर्ण विश्वकी जातियों, धर्म, संस्कृतियों और कृतियों, सभीमें सम्प्रदाय, शाखाएँ, उपशाखाएँ आदि प्रकारान्तरसे भेद प्राप्त होते हैं। यह भेद अर्थात् अनेकताकी परम्परा उनके स्थापन कालके कुछ ही समय पश्चातसे भेदसे प्रभेदकी ओर प्रसारित होती जाती है। संसारकी ऐसी कोई भी जाति या धर्म नहीं है, जिसमें एकाधिक भेद अथवा पन्थ न हों। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, ईसाई, यवन आदि सभी धर्मोंमें विविध धार्मिक पन्थ और परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं। "संसारमें जितने धर्म या सम्प्रदाय हैं, उन सबमें उनके स्थापित होनेके समयसे लेकर अबतक

अनेक पन्थ, शाखा, उपशाखा स्वरूप भेद होते रहे हैं और नये-नये होते जाते हैं। ऐसा एक भी धर्म नही है, जिसमें एकाधिक भेद या पन्थ न हो।"[1]

इन सम्प्रदायो अथवा पन्थोको उत्पत्तिमें अनेक कारण बीज रूपमें रहते हैं। देश-कालको परिस्थितियाँ, अपने सिद्धान्तोंके प्रचारकी भावना, स्थितिपालक दल और सुधारवादी साक्षर वर्गका मतभेद, धर्म गुरुओमे पारस्परिक राग-द्वेष, किसी प्रभावक धर्मका आक्रमण इत्यादि कारणोसे प्रत्येक धर्ममें सम्प्रदाय-पन्थ चल पडते हैं। इस सम्बन्धमें पण्डित नाथूराम प्रेमी लिखते हैं—"ये भेद या पन्थ अनेक कारणोंसे होते हैं। उनमें बहुत बडा कारण देश कालकी परिस्थितियाँ है। प्रत्येक धर्मके उपासकोंमे दो प्रकारकी प्रकृतियाँ पायी जाती हैं। एक प्रकृति तो ऐसी होती है जो अपने धर्मके विचारों या आचारोंके विषयमें जरा भी टससे मस नही होना चाहती, उन्हीको जोरके साथ पकडे रहती है और दूसरी प्रकृति देश और कालकी बदली हुई परिस्थितियो और आवश्यकताओंके अनुसार मूल आचार-विचारोमें थोडा-बहुत परिवर्तन कर लेनेको तैयार हो जाती है, विशेष करके ऐसे परिवर्तन जो सुगम और आरामदेह होते हैं। बस इन्ही दोनो प्रकृतियोंको खींच तान और रगड-झगडसे एक नया सम्प्रदाय या पन्थ खडा हो जाता है।"[2] पन्थ निर्माणमें व्यक्तिगत विकारो और सिद्धान्तोंके प्रचारकी भावनाके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विद्वान् परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"परन्तु जैसा प्राय देखा गया है, किसी मतविशेषके प्रवर्तक-को अपने सिद्धान्ताके प्रचारके लिए बहुधा सगठनकी भी इच्छा हो जाया करती है और वह अपने अनुयायियोको इसके लिए आवश्यक उपदेश देने लगता है। उसे इस बातकी अभिलाषा रहती है कि मेरे सिद्धान्त किस प्रकार अधिकसे अधिक सफलताके साथ प्रचलित हो और मेरे मतके अनु-यायी अधिकसे अधिक सख्यामें विद्यमान रहें।"[3] एक धर्मके व्यक्तियोमें पारस्परिक खींच तानसे सम्प्रदाय-वृद्धि होती है। इस विषयमें पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं—"इस तरह एक ओरके शिथिलाचार और दूसरी ओरकी दृढ़ताके कारण सघभेदके बीजोमे अकुर फूटते गये और

१ प्रेमी. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७।
२ वही, पृ० ३४७।
३ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० २५५।

प० परशुराम चतुर्वेदी १६वी १७वीं शतीके पन्थ निर्माणकी चर्चा करते हुए उसके मूल कारणोपर विचार करते हुए लिखते हैं—"पन्थ-निर्माणका सूत्रपात हो जानेपर उस प्रकारकी प्रवृत्तिकी ओर सर्व-साधारणके ध्यानका आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। प्राय: देखा जाता है कि किसी भी एक धार्मिक महापुरुषके नेतृत्वमें विश्वास रखनेवाले व्यक्ति अपनेको क्रमश: एक संयुक्त परिवारका सदस्य समझने लगते हैं और अपनी सामुदायिक एकताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके प्रयत्न भी करने लग जाते हैं। तदनुसार समान सिद्धान्तोको स्वीकार करनेवालोका एक पृथक् वर्ग बनने लगता है, जिसका सम्बन्ध दूसरे वर्गोंके साथ बहुधा नहीं रह जाता। ऐसे वर्गोंके सिद्धान्तोंमें पहले चाहे जो कुछ भी एकता रही हो, कालान्तरमें वह घटने लग जाती है। भिन्न-भिन्न वर्गोंके अनुयायियोंकी प्रमुख प्रवृत्तियोंके अनुसार उनके विविध बाह्याचरणोंका समावेश होने लगता है और उनके सामने उनके मूल सिद्धान्तोंका महत्त्व भी कम होता जाता है। समय पाकर उन वर्गोंके लोग बहुधा इन बातोंके प्रचारकी हो ओर अधिक प्रयत्नशील हो जाते हैं और इस प्रकार ऐसे वर्गोंकी विभिन्नता और भी स्पष्ट होती जाती है।[1]

'पन्थ' और 'सम्प्रदाय' इन शब्दोंको बहुधा एक ही अर्थका द्योतक समझ लिया जाता है, परन्तु इनमें अन्तर है। पन्थ तो बहुधा व्यक्ति अथवा समुदाय-द्वारा प्रवर्तित होता है तथा सम्प्रदाय किसी धार्मिक विशेषताके आधारपर अथवा किसी सिद्धान्तके आधारपर ही प्रचलित हुए हैं। 'पन्थ' व धार्मिक सम्प्रदाय शब्दोंका प्रयोग ठीक एक ही ढगसे होता हुआ नही दीख पड़ता। जिस वर्गने अपनी सज्ञा अपने प्रवर्तकके नामसे ग्रहण की है उसे उस प्रवर्तक-द्वारा चलाया हुआ 'पन्थ' अर्थात् प्रदर्शित मार्ग कहा जाता है, जैसे कबीरपन्थ, नानकपन्थ, दादूपन्थ, बावरीपन्थ आदि। किन्तु जिस वर्गका नामकरण उसके अनुयायियोंके किसी नामविशेष व विशेषताके आधारपर हुआ है, वह बहुधा सम्प्रदाय कहा गया मिलता है, जैसे, 'साधु सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, निरजनी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय' आदि। सम्प्रदाय शब्दका प्रयोग कभी-कभी वर्गविशेषके इष्टदेव अथवा कल्पित मूल प्रवर्तक तक नामानुसार भी हुआ करता है, जैसे पर-ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा वैष्णव भक्तोंके 'श्री सम्प्रदाय,' 'रुद्र सम्प्रदाय'

---

१ उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० ३८६।

आदि। फिर भी राधास्वामी वर्गके अनुयायी अपने सम्बन्धमें सम्प्रदायकी जगह 'सत्संग' शब्दका ही व्यवहार अधिक उपयुक्त समझते हैं।'[1]

(स) साहित्यिक स्थिति

साहित्य सदैव अपनी गतिसे प्रवहमान रहता है, परन्तु समय-समयपर राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ अवश्य ही उसे प्रभावित करती हैं। हिन्दी साहित्यका भक्तियुग भी नैसर्गिक भावधाराके साथ इन परिस्थितियोंसे भी प्रभावित हुआ है। डॉ० श्यामसुन्दर दास लिखते हैं—"देश और कालसे साहित्यका अविच्छिन्न सम्बन्ध है, और प्रत्येक देशके विभिन्न कालोंकी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि स्थितियोंका प्रभाव उस देशके साहित्यपर पड़ता है।"[2]

आदिम कालमें महाकवि केवल चन्दवरदायी मिलते हैं जिनकी पूरी रचना उस कालकी नहीं है, वरन् उसका वृहद् अंश इसी तुलसी कालका समझा जाता है। जिस महाकविने चन्दके ग्रन्थको इतना उच्च आसन दिया, वह ऐसा उदारचेता था कि स्वयं अज्ञात ही रहकर उसने रासो एवं चन्दका उपकार किया। जो हो आदिम कालमें पृथ्वीराजरासो ही हमें एक ऐसा ग्रन्थ मिलता है जो मुक्त कण्ठसे प्रशंसनीय है। फिर भी भाषाकी प्राचीनता एवं भक्ति भावोंसे प्रायः असम्बद्ध होनेके कारण उसका प्रचार संसारमें यथायोग्य क्या प्रायः कुछ भी न हुआ। पूर्व माध्यमिक कालमें साहित्यकी दृष्टिसे हमें विद्यापति ठाकुर और कबीरदास परमोत्कृष्ट कवि मिलते हैं। विद्यापतिका प्रचार विहार और बंगालमें बहुत कुछ है, किन्तु इतर देशोंमें उनका यथावत् मान नहीं है। कबीरदासके उपदेशप्रद दोहे आदि संसारमें चल रहे हैं, किन्तु उनकी भक्ति बहुत ऊँची होनेसे लोगोंमें अग्राह्य हुई। तथा उलटवासी आदिमें मूर्ख मोहनी विद्यामात्र रहनेसे उनका पन्थ समाजके उच्च भागोंमें आदर न पा सका। प्रारम्भिक कालमें दाक्षिणात्य उपदेशक अच्छे हुए और पूर्वमाध्यमिक कालमें युक्त प्रान्तीय तथा पंजाबी, प्रौढ़ माध्यमिक कालके सौरकालमें राधाकृष्णकी वाममार्ग पूर्ण भक्तिका चलन रहा। तथा तुलसी-कालमें

---

१ उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० ३८८।

२ डॉ० श्यामसुन्दर दास हिन्दी साहित्य, पृ० २५।

दक्षिण मार्गस्थ शुद्ध सीतारामकी भक्तिका रूप दिखाया। तुलसी-कालमें विविध विषयोका अच्छा विकास हुआ और भक्ति तथा साहित्य दोनोका बहुत अच्छा चमत्कार सामने आया, किन्तु सूफी साहित्य दब गया। नवीन प्रणालियाँ तुलसी तथा केशवके सहारे स्थापित हुई। विविध छन्दोका प्रयोग हुआ, कथाकाव्यने मान पाया, अवधी भाषाका मान बढा, भजनानन्द शुद्ध रूपमें सामने आया। हिन्दू-मुसलमानोके मेलसे हमारे साहित्यमें मुसलमानी भाव आने लगे तथा मुगल दरबारकी विलासिताका भी उसपर प्रभाव पडने लगा। इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्यमें स्वत उद्भूत बहुमुखी साहित्यिक भावधाराएँ प्रसारित हुई। जिनसे तात्कालिक जन-जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। सासारिक नश्वर सुख-दु खकी परिधिसे उसका हृदय ऊपर उठा, उसने बडे शान्त भावसे परिस्थितियोंसे समन्वय किया तथा भक्तिपरक जीवनकी ओर अग्रसर हुआ।"[१]

इतना सब कुछ होनेपर भी भक्ति-युगके साहित्यकी जडोमें राजनैतिक एव ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी समा ही चुकी थीं जिनकी छाया और प्रभाव उस साहित्यमें स्पष्ट है। "वीरगाथा कालके समाप्त होनेके पहले ही साहित्यके क्षेत्रमें क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी थी। मुसलमानोंके बढते हुए आतकने जनताके साहित्यको भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानी शक्ति और धर्मके विस्तारने साहित्यका दृष्टिकोण ही बदल दिया था और चारणोकी रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। वे अब विशेषतः राजस्थानमें ही सीमित थीं। मध्यदेशमें जहाँ मुसलमानी तलवारका पानी राज्योके अनेक सिंहासनोको डुबा रहा था, चारणोका आश्रयदाता कोई न था। न तो हिन्दू राजाओके पास बल था और न साहस ही। ऐसी असहायावस्थामें उनके पास ईश्वरसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पापर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्वकी चिनगारी भी कही दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती-थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टोको दण्ड देनेका कार्य उन्होंने ईश्वरपर ही छोड दिया और वे सासारिक वस्तु स्थितिसे पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरणमें ही विहार करने

---

१ सुखदेव वि० मिश्र हिन्दी साहित्यका प्रभाव, पृ० १९३–९४।

लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनोंके विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गये और वीरगाथा-कालकी वीररसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृंगार रसमें परिणत होने लगी।"[1]

हिन्दी साहित्यके सभी प्रसिद्ध इतिहास वेत्ताओंने यह स्वीकार किया है कि साहित्य किसी भी युगका हो उसपर अपने समयकी सभी परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ता है। जीवन उन्मुक्त, शान्त एवं रसमग्न रहा हो अथवा पंजरबद्ध, अशान्त एवं नीरस दशा हो, दोनोंका ही साहित्यकार-पर समानभावसे प्रभाव पड़ता है और वह इस प्रभावको अपनी प्रतिभा एवं काव्यकला-द्वारा विविध विधाओंसे व्यक्त करता है। "जनताकी चित्तवृत्ति पर देशकी राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक परिस्थितियों अथवा दशाओंका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, कह सकते हैं कि जनताकी चित्तवृत्तिकी परम्परा इन्हींसे निर्मित होती है, अत साहित्यकी परम्पराको समझनेके लिए इनका प्रथम ही पर्याप्त या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, क्योंकि साहित्यकी परम्परा जनताकी परम्परागत चित्तवृत्तिसे ही पूर्णतया प्रभावित होती हुई बना करती है।"[2]

मध्य युगके साहित्यसे स्पष्ट है कि उस समय हमारा समाज एक ओर रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता एवं पारम्परिक असहिष्णुताका जीर्ण निर्मोक किसी भी प्रकारसे वहन करनेमें गौरवका अनुभव कर रहा था तो दूसरी ओर मुसलमानी शासनके कारण इतिहास भी नित नयी करवटें ले रहा था और राजनीति भी वारांगना सदृश छलपूर्ण, चंचला एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हो रही थी। इस युगके साहित्यमें सामान्यतया सभी परिस्थितियोंका प्रभाव है परन्तु धार्मिक प्रभाव तो इतनी अधिक मात्रामें है कि उसे किसी भी कविके किसी भी पद्यमें देखा जा सकता है। इसी धार्मिक प्रभावके कारण हमारे प्रसिद्ध साहित्य इतिहासकारोंने इस युगको धार्मिक साहित्यका युग ही माना है। (पं० रामशंकर शुक्ल लिखते हैं—"हमारा दूसरा काल जिसे हमने हिन्दी साहित्यका मध्यकाल तथा धार्मिक काल कहा है, जैसा उक्त अनुच्छेदसे स्पष्ट है, पठान साम्राज्यके उत्तर अथवा अन्तिम कालसे ही प्रारम्भ होता है।"[3] "इस समय

१ डॉ० रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १६१, १६२।

२ रामशंकर शुक्ल 'रसाल' हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ११।

3 वही पृ० १०८।

भारतवर्षमें बौद्ध धर्मका ह्रास तथा पौराणिक एवं वैदिक धर्मका प्रचार दिनों दिन बढ़ रहे थे। स्वामी शंकराचार्यके प्रभावसे शैवधर्म एवं वेदान्तवाद भारतमें सुदृढ़ रूपसे जम ही चुका था। इस प्रकार धर्मकी दो धाराएँ भारतमें प्रवाहित हो रही थीं। एकमें तो दर्शन शास्त्रोंकी प्रधानता रहती थी और दूसरीमें शैवोपासना एवं शैवभक्तिकी प्रधानता रहती थी। जैन धर्मके अध्यात्म पक्ष एवं उपासना पक्षने तो आरम्भसे ही जैन एवं जैनेतर साहित्यको प्रभावित किया है तथा इस भक्ति युगमें विशेष रूपसे।"

गोरखपन्थने भी भक्तियुगीन साहित्यको प्रभावित किया है। "यह एक उपासना एवं तान्त्रिकवाद था। इसका सम्बन्ध योगसे भी था और कर्मकाण्ड तथा कुछ शारीरिक क्रियाओंका भी इसमें प्रधान स्थान था। हाँ, इसमें विवेक और दार्शनिक धर्मका अंश कुछ भी न था। यह गोरखपुर और उसके आस-पास ही बहुत संकीर्ण रूपमें चल रहा था। इसका प्रचार प्रसार विशेष रूपसे साधुओंमें (जो प्रायः अपढ़ ही होते थे और निम्न श्रेणीके लोग थे) ही रहता था। वाममार्गका कुछ तत्त्व इसमें भी पाया जाता था, और इसका एक विशेष रूप जिसमें वाममार्गकी विशेषता रहती है, अघोरपन्थके नामसे चलने लगा था।

कबीर पन्थ, जो निर्गुणवादका प्राधान्य लेकर चला था, ने भी साहित्यको पर्याप्तरूपेण प्रभावित किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मोंके साधारण नियम इसमें सम्मिलित हैं। योगसम्बन्धी कुछ क्रियाओं तथा चारित्रिक बातोंकी भी विशेषता है।"[1]

मुगलकालीन समाज धार्मिक एवं राजनीतिक पाटोंके बीच पिसनेके कारण अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो रहा था। अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदिकी निस्सारताका संस्कार फैलानेका कार्य वज्रयानी सिद्ध और नाथपन्थी जोगी कर ही चुके थे। जनताकी दृष्टिको आत्म-कल्याण और लोक कल्याण विधायक सच्चे धर्मोंकी ओर ले जानेके बदले उन्हें वे कर्मक्षेत्रसे ही हटानेमें लग गये थे। सामान्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनतापर इनकी बानियोंका प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभ कर्मोंके मार्गसे तथा भगवद्भक्तिकी स्वाभाविक हृदय-पद्धतिसे हटकर अनेक प्रकारके मन्त्र, तन्त्र और उपचारोंमें

---

[1] वही, पृ० १०५ ।

होती हैं । एकमें भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्तिका प्राधान्य है और दूसरीमें नियम-निष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिताका स्वर है, एकमें सहज सत्यको आध्यात्मिक वातावरणमें सजाया गया है, दूसरीमें ऐहलौकिक वायुमण्डलमें, चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दीमें दोनो प्रकार की रचनाएँ एकमें सिमिटने लगी थीं । दोनोके मिश्रणसे उस भावी साहित्यकी सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहासमें अपने ढगका अकेला साहित्य है । इसीका नाम भक्ति साहित्य है ।"[1]

यह एक नयी दुनिया है और जैसा कि डॉ० ग्रियर्सनने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवी तथा बादकी शताब्दियोका साहित्य पढ़नेका मौका मिला है उस भारी व्यवधानको लक्ष्य किये बिना नही रह सकता जो पुरानी और नयी धार्मिक भावनाओमें विद्यमान है । हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते है जो उन सब आन्दोलनोसे कही अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्षने कभी भी देखा है । यहाँ तक कि वह बौद्धधर्मके आन्दोलनसे भी व्यापक और विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव आज भी वर्तमान है । इस युगमें धर्म ज्ञानका नही बल्कि भावावेशका विषय हो गया था । यहाँसे हम साधना और प्रेमोल्लासके देशमें आते हैं और ऐसी आत्माओका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पण्डितोकी जातिका नही है, बल्कि जिनकी समता मध्य युगके यूरोपीयन भक्त बर्नर्ड ऑव क्लेयरवक्स, टामस-ए केम्पिन और सेण्टथेरिसा से है ।"[2] भक्तियुगके साहित्यकी महानतापर कविप्रवर रवीन्द्रनाथ टैगोरने लिखा है—"मध्ययुगके साधक कवियोंने हिन्दी भाषामें जिस भावधाराका ऐश्वर्य विस्तार किया है उसमें असाधारण विशेषता पायी जाती है । वह विशेषता यह है, कि उनकी रचनाओमें उच्चकोटिके साधक एव कवियोका एकत्र सम्मिश्रण हुआ है । इस प्रकारका सम्मिलन दुर्लभ है । जबसे इन सब काव्योंके साथ मेरा परिचय हुआ है तबसे ही मेरी हार्दिक कामना रही कि इन सबके सग्रह एव रक्षाकार्यके लिए योग्य व्यक्तियोंके हृदयमें उत्साह उत्पन्न हो । बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिन काव्योमें अलकार आदि गुणोंकी प्रचुरता होती है, उन्हीके प्रति जन साधारणका चित्त विशेष

---

१ वही, पृ० ८७ ।

२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य' पृ० ८७ ।

रूपसे आकृष्ट होता है। यही कारण है कि भारतीय विचारधारा भाव-गाम्भीर्य है, इसीके कारण ही वे जन-साधारण द्वारा उपेक्षित हो रहे हैं।"[1]
जो लोग इस युगके विकासकी वास्तविक कथा नहीं जानते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हुआ। स्वय डॉक्टर ग्रियर्सनने लिखा है कि—"बिजलीकी चमकके समान अचानक इन समस्त पुराने धार्मिक मतोंके अन्धकारके ऊपर एक नयी बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँसे आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भावका कारण निश्चय नहीं कर सकता।"[2] भारतवर्षका भक्तियुगीन साहित्य कितना अनुपम है इस सम्बन्धमें सभी विद्वान् मुक्त कण्ठसे इस साहित्यको विश्व साहित्यमें प्रथम स्थान देते हैं। यों, धार्मिक उथल-पुथलसे प्रभावित एव अत्यन्त भावावेशमय साहित्य यूरोपमें भी रचा गया है परन्तु उसमें वह आत्म-समर्पण एव तन्मयता नहीं आ सकी है जो भारतीय भक्त कवि दे सके हैं। "धर्म और भक्तिका सघर्ष यूरोपीय कविताएँ बहुत अच्छा दिखलाती हैं। अंगरेजी कविता भी मानव हृदयको आशा-निराशा, चिन्ता और परलोक चिन्तन यथेष्ट दृष्टि पथमें लाती है विश्वचेतनाका चित्र खींचती है। परन्तु उनकी भावनाएँ जब प्रबल हुई तब भी सामयिक ज्ञानसे सामयिक काव्य-शैलियोंसे मुक्त नहीं हुई। पक्ष दबे ही रहे। गीतोंके ससारमें ऊँचे नहीं उड़ पाये। अँगरेजी कविताके अधरोंपर मिस्टिक माधुरी केवल लिपिस्टिक से ही लगी हुई है। न वह रस है न वह मधुराई, न वह सत्य जो भारतीय भक्तिमें है।"[3]

भक्तिकालीन साहित्यने मानव मात्रके सम्मुख आत्मकल्याणका सरल-सात्त्विक पथ धर्मकी सर्वग्राह्य आदर्श व्याख्या-द्वारा कर दिया। साम्प्रदायिकता जातीयता एव सकुचित-द्विविधामय व्याख्याकी क्षुद्र पाखण्डीसे उठकर अब धर्म विश्व मानवताके ऐसे विशाल एव भव्य चतुष्पथपर आया, जहाँ उसका कोटि-कोटि कण्ठों और हृदयों-द्वारा भव्य स्वागत हुआ। भक्तिकालीन साहित्यके मूल प्रेरणा-स्रोत धर्मके कारण प० रामशकर शुक्ल 'रसाल'ने तो इसे 'धार्मिक काव्यकाल' ही घोषित कर दिया। "हिन्दी साहित्यके जिस माध्यमिक कालका वर्णन हम कर रहे हैं उसमें

१ हरिनारायण शर्मा, 'सुन्दर ग्रन्थावली' भूमिका पृ० ४ रवीन्द्रनाथ ठाकुर।
२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ८८।
३ 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' पृष्ठ ६, बगीय हिन्दी परिषद्।

धार्मिक विचारो एवं आन्दोलनोकी ही प्रधानता एव विशेषता सर्वोपरि रही है, इसीलिए हमने उसे धार्मिक काल कहा है और इसी आधारपर हम उस समयके काव्यको धार्मिक काव्यकी एक व्यापक एव साधारण सज्ञा दे रहे हैं।"[1] इस भक्तिकालीन धार्मिक साहित्यका विभाजन 'रसाल'जी दार्शनिक काव्य (फ़िलासोफिकल), नीत्यात्मक काव्य (मोरल एण्ड एथिकल), एव मिश्रित काव्यके रूपमें करते हैं।

१ दार्शनिक काव्य—'जिसमें दार्शनिक एव आध्यात्मिक सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारो एव भावोका ही पूर्ण रूपसे प्राधान्य रहता है। इस प्रकारके काव्यकी दो मुख्य धाराएँ हो जाती हैं। प्रथम तो दार्शनिक एव वेदान्तात्मक निर्गुण तथा निराकारवादको लेकर प्रवाहित होती है और आध्यात्मिक (एगोइस्टिक आर सब्जेक्टिव) प्रेमके रससे मानव-समाजको परिप्लावित करती है। इस प्रकारके काव्यको हम निर्गुण या निराकार-सम्बन्धी प्रेमकाव्य कह सकते हैं। इसके भी मुक्तक (लैरिक) एव कथात्मक (नेरेटिव) दो मुख्य रूप हो जाते हैं जिनमें प्रथममें भावकी प्रधानता और द्वितीयमें कथानक एव घटना तत्त्वकी विशेष महत्ता रहती है, हाँ, शृङ्गार रस तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली रतिके साथ-ही-साथ प्रेमका सर्वथा अनवरत प्राधान्य रहता है। द्वितीय धारा दार्शनिक सिद्धान्ताचलसे फूटकर सगुण तथा साकारवादको लेती हुई शारीरिक एव मानसिक दशाओंके साथ-ही-साथ लौकिक प्रेमके रससे सहृदयजनोंको स्नेह-सुखसे सिंचित करती है और ज्ञान और योगको गौण रूपमें रखकर भक्ति और अनुरक्तिको ही विशेष महत्ताके साथ परिपुष्ट करती है। इसीकी दो धाराएँ रामभक्ति एव कृष्ण भक्तिकाव्यके रूपमें विख्यात हैं।'[2]

२ नीत्यात्मक—इसमें चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले उत्तम उपदेशो एवं नियमोका चारुताके साथ प्राधान्य रहता है, और सुनीतिके ही आधारपर इसकी रचना की जाती है। इसका उद्देश्य जनतामें सच्चरित्रताके भावोका भरना, उसे सदाचारी और सुकर्मी बनाना है।'[3]

३ मिश्रित धारा—इस काव्य-धारामें उक्त सभी धाराओका भिन्न-भिन्न मात्राओ अथवा अशोंमें सामजस्य रहता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो अथवा

---

१ रसाल, 'हिन्दी सा० का इतिहास', पृ० १४७।
२ रसाल, वही, पृ० १४८।
३ वही, पृ० १४९।

परम्पराओंके आधारपर इसकी भिन्न-भिन्न बड़ी छोटी-छोटी शाखाएँ हो गयी हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक पं० रामचन्द्र शुक्लने हिन्दी साहित्यके भक्ति-कालके जो ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति रूपमें चार भेद किये हैं वे भी लगभग (नाममात्रके भेदके साथ) इन भेदोंसे ही मेल खाते हैं। अन्य विद्वान इतिहासकार भी हिन्दी साहित्यके इस युगके साहित्यकी उक्त शाखाएँ ही निश्चित करते हैं। कवि मनीषी परिभू स्वयम्भूके रूपमें कविको हम भक्ति-युगमें ही देखते हैं। वीरगाथा कालमें कवि राजाश्रित थे अतः उनमें उनकी कवितामें आश्रित वृत्तिका परिचय आद्यन्त प्राप्त होता है। भाषा और भाव भी मानव हृदयको स्थायी रूपसे आकृष्ट करनेवाले न बन सके। वीरगाथा काल तक हमारे कवियोंका कोई जीवन-लक्ष्य न था, उनके सम्मुख कोई महान् आदर्श न था जैसा कि हम भक्ति-युगमें देखते हैं। "रामानन्द और वल्लभाचार्यके पहले हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्शसे चालित नहीं था। आश्रयदाता राजाओंके गुणकीर्तन और काव्यगत रूढ़ियोंपर आधारित साहित्य रूढ़ियोंको जन्म दे सकता है, पर वह समाजको किसी नये रास्तेपर चलनेकी स्फूर्ति नहीं दे सकता। चौदहवीं शताब्दीसे पूर्वके साहित्यने कोई नयी प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवनके एक निश्चित लक्ष्य और आदर्शको लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्त्विक जीवन, और साधन है भगवान्‌के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओंका निर्मल गान। इस साहित्यको प्रेरणा देनेवाला तत्त्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यसे सब प्रकारसे भिन्न है। उसका लक्ष्य था राज-संरक्षण, कवि यश और वाक् सिद्धि। प्रेरक तत्त्व बदलनेके कारण पन्द्रहवीं शताब्दीके बादका साहित्य बिलकुल नवीन-सा जान पड़ता है। चन्द, जज्जल, विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि की रचनाओंमें अनाडम्बरित स्वस्थ जीवन और अलौकिक पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्त करनेकी स्फूर्तिदायिनी प्रेरणा नहीं है। परन्तु इस युगके साहित्यमें वह प्रेरणा पूरी शक्तिके साथ काम करती दिखाई देती है। यही कारण है कि इस कालके आरम्भमें ही कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, मलिक मुहम्मद जायसी और दादूदयाल जैसे महान् साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने अपने क्षेत्रमें दिक्पाल-जैसे दिखाई देते हैं। इस कालका हिन्दी साहित्य ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होनेसे ही साहित्य बड़ा होता

है ।"[1] भक्तिकालके हिन्दी साहित्यकी विशेषताओंकी चर्चा करते हुए डॉ० जी० राय चौधरी कहते हैं—"चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें उत्तर भारत एक कोनेसे दूसरे कोने तक यूरोपके 'रिफॉरमेशन' आन्दोलनकी भाँति धार्मिक क्रान्तिसे खिल उठा था। इसका विशेष प्रभाव वैष्णव सम्प्रदायपर था। इस क्रान्तिके धार्मिक नेताओंने विश्वत्यागिनी स्वतन्त्र और उदार दृष्टिकोणकी रूह-सी फूँक दी थी।"[2] किस महानताके साथ सभी धर्मोंकी रक्षा करते हुए मानव-धर्मका प्रचार सभी धर्मोंके सन्त कविता-द्वारा कर रहे थे। युग युगसे दलित एवं उपेक्षित जनतामें भी किस आदर्श-पद्धतिसे जीवनका सचार कर रहे थे, उसमें आत्मगौरवका भाव जगा रहे थे, इस सम्बन्धमें प० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धतिका प्रचार था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेद-भावका कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजाका खण्डन ये मुसलमानी जोशके साथ करते थे और मुसलमानोंकी कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदिकी असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदिकी चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजाकी उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियोंपर-से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्ममें भेद-भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवनका प्रचार करना चाहते थे।"[3] डॉ० श्यामसुन्दरदास इस युगकी साहित्यिक स्थितिको उत्कृष्टताके सम्बन्धमें लिखते हैं —"भक्तिकी इस धारामें अनेक उपास्य देवों और उपासना-भेदोंके रूपमें अनेक स्रोतोंका प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु मूल धारामें कुछ भी अन्तर न पडा, वह एकरस बहती रही। विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बाल कृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवोंके सम्मिलित प्रभावसे भक्ति अधिकाधिक शक्तिसम्पन्न होती गयी। साथ ही जनताका विशेष मनोरजन और दुःख निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्ति सम्प्रदायोंका हमारे साहित्यपर भी प्रभाव पडा और वीरगाथा कालकी एकाङ्गिता दूर होकर हिन्दीमें एक प्रकारकी व्यापकता और आध्यात्मिकताका समावेश हुआ। मध्य युगका हिन्दी साहित्य हिन्दीके इतिहासमें

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य' पृ० ११० ।

२, 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' पृ० ११३ ।

३ प० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी सा० का इतिहास' पृ० ७० ।

तो उत्कृष्टताकी दृष्टिसे अतुलनीय है ही, उसकी तुलना संसारके अन्य समृद्ध साहित्योंसे भली भाँति की जा सकती है। हिन्दीके इस उत्कर्ष-वर्धनमें तत्कालीन भक्ति अभ्युत्थानने विशेष सहायता पहुँचायी थी।"[1]

इस प्रकार विषयकी दृष्टिसे भक्तियुगका साहित्य धार्मिक भक्ति-परक तथा नैतिक एवं सामाजिक ऐक्यकी विचारधारासे परिपूर्ण है। इस युगके साहित्यका मुख्य कार्य आत्मजागृति एवं जन-जागरण (अलौकिक सुखके लिए) का सन्देश था, अतः सर्वत्र सुधामिश्रित भावधाराका अजस्र प्रवाह ही दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद एवं माधुर्य गुणोंसे अभिमण्डित शैली एवं भावप्रेषणमें पूर्ण सहायक भाषा प्रयत्न-साध्य न होकर देहकी परछाईं सदृश स्वतः चली आयी है। सामान्यतया सर्व-रस निर्झरिणीका कादाचित्क प्रवाह इस युगके साहित्यमें है, परन्तु प्रमुख रूपसे तो अजस्र भक्ति-ऊर्मियोंसे अभिमण्डित शान्त रसकी सरस धारा इतने प्रभावक एवं व्यापक रूपसे प्रवाहित होती है कि अन्य सभी रस गौणरूपसे प्रतीत होते हैं।

जैन साहित्यकारोंका योगदान

हिन्दी साहित्यके उद्भव और विकासमें जैन साहित्यकारोंकी सेवाएँ आज हिन्दी संसारको सुविदित हैं। भाषा, शैली एवं विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे इन साहित्य-सेवियोंने सदैव अपने अन्य साथियोंका भरपूर साथ दिया है और अनेक अवसरोंपर विभिन्न दिशाओंमें तो पथ-निर्देशनका भी सौभाग्य इन्हें ही प्राप्त हुआ है। हिन्दी साहित्यके मूल स्रोत अपभ्रंश भाषाके प्रथम महाकवि स्वयम्भूसे लेकर आजतक हिन्दी साहित्यके सभी युगोंमें अपनी अजस्र भावधारा प्रवाहित करते हुए जैन साहित्यकारोंने माँ-हिन्दीकी श्रीवृद्धि बड़ी सजगता एवं भावुकतासे की है। आज हिन्दीके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् भी मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि—"जैन आचार्य भी अपने गहन तत्त्व विचारोंको सरल करके कहनेमें अपने ब्राह्मण और बौद्ध साथियोंसे किसी प्रकार पीछे नहीं रहे हैं। सही बात तो यह है कि जैन पण्डितोंने अनेक कथा और प्रबन्धकी पुस्तकें बड़ी सहज भाषामें लिखी हैं।"[2] (केवल हिन्दी साहित्यमें ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयमें

---

१ डॉ० श्यामसुन्दरदास, 'हिन्दी साहित्य' पृ० १२६।

२ 'दो हजार वर्ष पुरानी जैन कहानियाँ' पृ० ८। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भूमिका लेखक, पुस्तक लेखक डॉ० जगदीशचन्द्र जैन।

चय न देंगे। साम्प्रदायिक साहित्य वह है जिसमें बाह्याडम्बर, निष्प्राण श्रुति आचार तथा क्रियाकाण्ड आदिकी कट्टरताके साथ विवरण प्रधान नीरस चर्चा मात्र हो। यद्यपि ऐसे ग्रन्थ सभी धर्मोंमें हैं, परन्तु हम उन्हें ललित साहित्यके अन्तर्गत नहीं लेते, वे सामान्य साहित्यमें ही आते हैं। वस्तुत उत्तम साहित्य वही है जो क्षणिक सस्ता मनोरंजन न देकर शाश्वत सत्यका जो शिव एवं सुन्दरसे अभिमण्डित हो, उद्घाटन कर सके।'[1] इस कटौतीका जैन साहित्य विपुल है।

अभीतक जितना प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य प्रकाशमें आया है, प्राय जैनों-द्वारा ही लिखा हुआ मिला है।[2] "इन जैन लेखकोंने देशके कोने-कोनेमें बैठकर रचनाएँ की। जैन साहित्यका रचना-क्षेत्र बहुत विस्तृत था।"

मध्यकालीन साहित्यकी चर्चा करते हुए बाबू कामताप्रसाद कहते हैं—[3] "भारतके इस परिवर्तनसे जैनी अछूते न रहे, वे भी यहाँके निवासी थे और अपने पड़ोसियोंसे पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन जगत्में इसकी प्रतिक्रिया सर्वांगीण हुई। जैन कवियोंने अपनी मूलभूत मानव धर्मकी व्याख्याके साथ-साथ यथासाध्य समाज, धर्म और राजनीतिक परिस्थितियों-का भी सशक्त एवं सम्मोहक चित्रण किया है। इस दिशामें भी कई स्थानोंपर कई जैनेतर कवियोंमें और इनमें भाषा भाव एवं शैली तकमें अपार साम्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं दोनों एक-दूसरेसे प्रभावित हैं, ऐसा भी परिलक्षित होता है।

जैन आम्नायके महाकवि स्वयम्भू जो आज हिन्दीके आदि कवि निश्चित हो चुके हैं। उनके विषय, शैली एवं वर्णन-पद्धतिने हिन्दीके चोटीके महा-कवियोंको विविध प्रकारसे प्रभावित किया है। महाकवि तुलसीदासका रामचरित मानस एवं जायसीका पद्मावत निश्चित रूपसे महाकवि स्वयम्भू-के 'पउमचरिउ' की परम्परामें ही रचे गये हैं। साथ-ही-साथ 'भविसयत्त-

---

१ 'साहित्य-सन्देश' पृ० ४७४, जून १९५६, अंक १२।
"नाटकीय प्राकृत, सेतुबन्ध और गाथा सप्तशती, गोडवहो अजैनों-द्वारा लिखे गये हैं। अपभ्रंशमें अब्दुल रहमान कृत 'सन्देश रासक' विद्यापतिकी कीर्ति-लता, दोहाकोष, विक्रमोर्वशीयके कुछ पद्य एवं कुछ हेमचन्द्रके व्याकरणमें भी अजैनों-द्वारा लिखे प्राप्त हुए हैं।"

२ राम सिंह तोमर : 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० ४६४।

३ बाबू कामताप्रसाद 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास' पृ० ६३।

रयायन कहते हैं"[1] केवल दोहा चौपाईमें ही तुलसी रामायण और स्वयम्भू रामायणमें समानता नही है बल्कि कितनी ही जगहोपर दोनोकी उक्तियोमें भी समानता मिलती है।"

"जैन विद्वानोने लोक-रुचि और लोक-साहित्यकी कभी उपेक्षा नही की। जन-साधारणके निकट तक पहुँचने और उनमें अपने विचारोका प्रचार करनेके लिए वे लोक भाषाओका आश्रय लेनेसे भी कभी नही चूके। यही कारण है जो उन्होने सभी प्रान्तोकी भाषाओको अपनी रचनाओसे समृद्ध किया है। अपभ्रंश भाषा द्रविड प्रान्तो और कर्नाटकको छोडकर प्राय सारे भारतमें थोडे-बहुत हेर फेरके साथ समझी जाती थी। अतएव इस भाषामें भी जैन कवि विशाल साहित्यका निर्माण कर गये हैं।"[2] हिन्दीके आद्य स्रोत अपभ्रंशकी भांति जैन साहित्यकारोने आगे चलकर हिन्दी साहित्यके सभी युगोमें अबाध गतिसे अपनी उज्ज्वल प्रतिभा एव उर्वर मस्तिष्कका एक सच्चे साधककी भांति—निष्पक्ष—निर्लोभी सेवककी भांति परिचय दिया है। वीर काव्योंके समय अनेक रासा ग्रन्थ जैन विद्वानोने रचे।[3] "जैन साहित्यमे छोटे-बडे सैकडो रासा ग्रन्थ सुरक्षित हैं और भाषाकी दृष्टिसे वे साहित्यके इतिहासके लिए महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।"

भक्ति-युगमें अनेक जैन कवियोने जन कल्याणपरक साहित्य सृजन किया और यथावसर सामाजिक तथा राजनीतिक दशाका चित्रण कर अपने अन्य विद्वान साहित्यकारोके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर चले। महाकवि रइधू (१५वीं शती), ब्रह्म जिनदास (१६वी शती) तथा कविवर बनारसीदासने (१७वी शती) प्रमुख रूपसे पर्याप्त मात्रामें परिमाण और वैशिष्ट्य दोनो ही दृष्टियोसे साहित्य रचा। (आज तक इस वर्गके साहित्यकार अपना निश्चित लक्ष्य अर्थात् आत्मकल्याण एव जन-कल्याण (जो ससारके किसी भी महान् साहित्यका लक्ष्य हो सकता है) लेकर जनभाषामें काव्य, नाटक तथा कथा आदि-द्वारा कार्य कर रहे है।)

जैन साहित्यकारोकी परम्परा

सस्कृत, प्राकृत एव अन्य प्रान्तीय भाषाओकी दृष्टिसे जैन साहित्यकी

---

१ राहुल साकृत्यायन 'प० चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ', पृ० ४१३।

२ प्रेमी 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० ३७०।

३ कामताप्रसाद . 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास', पृ० १०।

अनुकूल बनानेके लिए इन कवियोने अपने काव्यको सामाजिक जीवनके अधिक निकट लानेका प्रयत्न किया है। सरलता और सरसताको एक साथ प्रस्तुत करनेका जैसा प्रयत्न इन कवियोने किया है, वैसा अन्यत्र कम प्राप्त होगा।"

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य एव हिन्दी जैन साहित्यकी परम्पराका सूत्रपात अपभ्रश (हिन्दी जननी) के महाकवि स्वयम्भूसे होता है।[1] "जैन साहित्य स्रष्टाओने अखण्ड चैतन्य आनन्द रूपमें आत्माका ही अपने अन्तस्में साक्षात्कार किया और साहित्यमें उसीकी अनुभूतिको मूर्त रूप प्रदान कर सौन्दर्यके शाश्वत प्रकाशकी रेखाओ द्वारा वाणीका चित्र अकित किया। इन्होने अपनी अनुभूतिको आत्म-साधनाका विषय बनाकर चिरन्तन मगल प्रभातका दर्शन किया। इन्होने आभ्यन्तरिक धरातलमें अकुरित अशान्ति एव असन्तोषका उपचार ऊपरी सतहपर लगे दोषोके परिमार्जनसे न कर प्रस्फुटित अनुभूतिके झरनेमें मज्जन कर किया।" मानवात्मा जब भी अपने कल्याण-पथसे विचलित हुई है, राजनैतिक, आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियोने जब भी इसे अशान्त किया है तभी अपने समकालीन अन्य साहित्यकारोकी भाँति जैन साहित्य स्रष्टा भी समाजको साहस, धैर्य एव अद्‌भुत सामजस्यका पाठ अपनी रचनाओं द्वारा सरल ललित माध्यमसे देते रहे हैं।[2] "इन साहित्यकारोने अधूरी और अपूर्ण मानवताके मध्यमें उस सक्रान्ति एव उथल पुथलके युगमें, जब कि भारतकी राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव आर्थिक परिस्थितियाँ प्रबल वेगके साथ परिवर्तित होती जा रही थीं, खडे होकर पूर्ण मानवताका आदर्श प्रस्तुत किया।"

हिन्दी साहित्यका आदि बीज हमें अपभ्रशमें ही प्राप्त होता है अत हिन्दी वाङ्मयकी जानकारीके लिए हमें सर्वप्रथम अपभ्रश साहित्यपर भी एक दृष्टि डालनी होगी।[3] "हमारी सम्मतिमें अपभ्रश काव्यको हिन्दीसे पृथक् गिनना ठीक नही। अपभ्रश काल (८-११वी शती) हिन्दी भाषाका आद्यकाल है। हिन्दीकी काव्य धाराका मूल विकास सोलह आने

---

१. प० नेमिचन्द्र शास्त्री 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन', पृ० २०।

२ वही, पृ० २०।

३ डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास', पृ० ६, कामताप्रसाद-द्वारा लिखित।

प्राकृतमें जो स्थान हालने प्राप्त किया, हिन्दीमें तुलसी जिस स्थानपर है, अपभ्रंशके सारे कालमें स्वयम्भू वही स्थान रखते है।"

दशम शताब्दीमें मुनि रामसिंहकी लोक कल्याण-परक एव अध्यात्म प्रधान काव्य धाराने जन-मानसमें अपार उज्ज्वल भाव-रत्न भरे। सरलतम अभिव्यक्ति द्वारा गम्भीर भावानुभूतिके हृदयाकर्षक चित्र कविके काव्यमें पर्याप्त मात्रामें देखे जा सकते है। मनुष्य सासारिक क्षणिक आकर्षणपूर्ण वस्तुओंके मोह-जालमें आबद्ध होता जाता है और धीरे-धीरे वह इस जालको ही अपना जीवन-लक्ष्य समझ बैठता है। आत्माका स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। पार्थिव देह आत्मासे सर्वथा भिन्न है अज्ञजन ही इसमें अनुराग करते हैं। मुनिरामसिंह जो अपने 'पाहुड दोहा' मे लिखते हैं—

> मूढा देहम रज्जियइ, देह ण अप्पा होइ।
> देहहिभिण्णउ णाण मऊ, सो तुहुअप्पाजोइ॥

अर्थात्—मूर्ख व्यक्ति ही देहमें अनुरक्त होते हैं मूढ देह कदापि आत्मा नही हो सकता। देहसे भिन्न ज्ञानमय आत्मा है उसीमें अनुराग कर। इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादन मुनि रामसिंहने किया है।

ग्यारहवी शताब्दीमें अध्यात्म-प्रधान इस जैन साहित्यकी परम्पराका प्रतिनिधित्व महाकवि पुष्पदन्त करते है। यह स्पष्ट ही हो चुका है। आपकी कृतियाँ पौराणिक महापुरुषोंके जीवन वृत्तोके साथ आपके प्रौढ प्रतिभाभिराम एव अध्यात्म ललाम व्यक्तित्वको स्पष्ट करती हैं। विषयकी पावनता–शालीनता एव गम्भीरता कलाका अभिनव सौन्दर्य लिये हुए अत्यन्त मोहक प्रतीत होती है।

बारहवीं शतीमें हेमचन्द्र सूरि, हरिभद्रसूरि, शालिभद्रसूरि आदि अनेक आत्मचेता कवि हुए जिन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्यकी पर्याप्त स्वास्थ्य-वृद्धि की एव उसे अपनी मौलिक वर्णन शक्ति तथा उद्भावनाओं द्वारा अत्यन्त लोकप्रिय बनाया।

तेरहवीं एव चौदहवी शतियोंमें रासा ग्रन्थो एव कथा-प्रधान चउपई काव्य ग्रन्थोंके निर्माणकी एक स्वस्थ परम्परा रही। महापुरुषोंके लोक-रजनकारी एव आत्मशक्तिके प्रबल प्रेरक समर्थक चरित इस युगमें पर्याप्त मात्रामें आये। सामान्यतया सम्पूर्ण जैन साहित्यमें अहिंसाका युक्ति-युक्त

१ विद्या, अनुभव तथा वशादिके विशेष परिचय हेतु देखिए—प० नाथूराम प्रेमी कृत 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० ३७०–३९५।

ग्रन्थ इसी शतीमें रचे गये। जैन कवियोंने अपने पूर्ववर्ती कवियोंकी भाँति इस समय भी समाज और देशके सम्मुख अपनी स्वस्थ-साहित्य-परम्पराका क्रम प्रवहमान रखा। ये कवि नवीन युगकी चेतना भी साथ-ही-साथ ग्रहण कर सके।

१७वी शतीमें जैन साहित्य-गगनमें ऐसे कवि-नक्षत्रोंका उदय हुआ जिन्होंने अपनी भास्वर प्रतिभा, ज्ञान गरिमा एव अनुराग-विरागात्मक ससारके अनुभवो-द्वारा इस साहित्यको अक्षय निधिसे परिपूर्ण कर दिया। अपने समकालीन महाकवि तुलसीदास, केशवदास एव भक्तप्रवर सुन्दर-दासके समान इन कवियोंने भी अपनी साहित्य सर्जना-द्वारा एक नवीन सृष्टि उत्पन्न कर दी। गद्य एव पद्य दोनो ही दिशाओमें इस शतीमें पर्याप्त कार्य हुआ। कविवर बनारसीदास, रूपचन्द्रजी एव श्री जिनमय सुन्दर-जैसे कविरत्नोंने इस समय अत्यन्त ठोस साहित्य-द्वारा, जर्जरित एव आत्मानुभूतिसे स्खलित मानव समाजका वास्तविक दिशा निर्देशन किया था। इस समय तक खण्डन-मण्डन एव शास्त्रार्थोंकी कटु प्रथासे जनता अरुचिके साथ-साथ घृणा भी करने लग गयी थी। अब उसे धर्मका आडम्बर युक्त रूप अत्यन्त खोखला प्रतीत होने लगा था। आत्मा अब अपने उद्धारका सरल, युक्तिसगत एव निर्विवाद मार्ग पानेके लिए छटपटा रही थी। इस शताब्दीके अध्यात्म सन्तोंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-कल्याणकी इसी मौलिक समस्याके सुलझानेमें लगा दिया। सच्चे आत्म-स्वरूपकी ऐसी पावन स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई कि सम्पूर्ण उत्तर भारत अपने पुरातन एव बोझिल निर्मोकको शत खण्ड कर इसीमें निमज्जित होने लगा। कविवर बनारसीदासने भटके हुए मानवकी प्रवृत्तियोंकी कितनी मार्मिक चुटकी ली है —

"धर्म तरु भजन को महा मत्त कुजर से,
आपदा भडार के भरन को करोरी हैं।
सत्यशील रोकवे को प्रौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति के मारग चलायवे को धोरी हैं॥
कुमति के अधिकारी कुनै पथ के विहारी,
भद्र भाव ईंधन जरायवे कों होरी है।
मृषा के सहाई दुरभावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं।"

कथन चातुर्य अथवा भाव प्रकाशनकी व्यंग्यात्मक एवं सरल व्याख्यात्मक शैलियोंपर कविवरका पूर्ण अधिकार है। व्यंग्य बाण यदि पैना हो तो मर्मपर चोट किये बिना नहीं रहता। जब सैकड़ों उपदेश काम नहीं करते तब एक हलका सा व्यंग्य कार्यकर हो जाता है। उल्लिखित पद्यमें हम यही बात पाते हैं।

कवि श्रीकी सरल भावाभिव्यक्ति भी कितनी मोहक है। आत्म-बोधकी अनोखी पद्धति भक्त पाठकका बरबस बना ही देती है—

चेतन उलटी चाल चले।
जड़ संगत सौं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले,
हित सौं विरचि ठगनि सौं राचे, मोह पिसाच छले,
हँसि हँसि फंद सवारि आप ही, मेलत आप गले,
आये निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले।
कैसे परगट होय आग जो, दबी पहार तले।
भूले भवभ्रम बीचि बनारसि, तुम सुरज्ञान भले,
धर शुभ ध्यान ज्ञान नौका चढ़ि, बैठे ते निकले ॥चेतन०॥

अध्यात्मका उपदेश इतनी प्रबलता एवं मार्मिकताके साथ, जिसका जनता भी सरलतासे रसास्वादन कर सके, इससे पूर्व नहीं हो सका।

बनारसीदासजी इस शतीके ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दी जैन साहित्यके शिरोमणि कवि हैं। समस्त विद्वानोंने भी आपकी काव्य-प्रतिभा एवं ज्ञान गरिमाकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। जो स्थान वैष्णव धर्मको सरल एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यामें, मानवको एक निश्चित सन्मार्ग दिखानेमें तथा सगुण भक्तिकी पुनः स्थापना करनेमें महाकवि तुलसीदासका हो सकता है ठीक वही स्थान कविवर बनारसीदासजीका हिन्दी जैन साहित्यमें है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके कारण तथा दुर्भाग्यपूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियोंके कारण जैन सम्प्रदायमें बनारसीदासजीके समय तक शिथिलाचारकी पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। आहार-विहारमें, धार्मिक क्रियाओंमें तथा वस्त्रादिकमें कोई क्रम, नियम-संयम न रह गया था। साधुजन अपनी प्रत्येक शिथिलताको, 'आपद्धर्म' कहकर अथवा स्वयंको सुधारवादी कहकर, ढकते चले जा रहे थे। धार्मिक दृढ़ता (कट्टरता नहीं) का प्रायः अभाव होता जा रहा था। यवन शासनने जैनत्वकी दृढ़ताको समाप्त करनेमें कोई कसर न उठा रखी। ११वीं शताब्दीके बादसे कविवर

बनारसीदासजीके समय तक दिगम्बर मुनि सघोका प्राय. अभाव-सा हो गया था। साधारणतया जनतामें यह विश्वास हो चला था कि जैन साधुओका इतना ऊँचा आदर्श पुराणोकी ही शोभा हो सकता है, व्यवहारमें सम्भव नहीं। कविवर बनारसीदासजीने ठोस चर्चा-द्वारा जनतामे फिर वे भाव भरे जिनसे छोटे मोटे मुनि सघोकी पुन. सृष्टि होने लगी।

बनारसी दासजीने जहाँ धार्मिक दृढ़ताका समर्थन किया वहो दूसरी ओर उसमें प्रविष्ट वाह्याडम्बरो एव क्रियाकाण्डोका—जिनसे धर्मका आत्मा लुप्तप्राय एव बोझिल-सा हो चला था, डटकर विरोध किया। धर्मका मूल स्वर है आत्मानुभूति जिसके अभावमे मनुष्य कुछ नही कर सकता। आचार्य कुन्द-कुन्द कृत 'समयसार' की हिन्दी पद्यमय सर्वजनीन व्याख्या कविवर बनारसीदासने इसी उद्देश्यसे की थी। इस ग्रन्थरत्नमे आत्म-स्वरूपका अत्यन्त स्पष्ट, सुलझा हुआ एव हृदयस्पर्शी वर्णन है। आत्म-चिन्तन एव आत्म-जागृतिके मधुर स्वरोंसे ही कविकी साहित्य वीणा आद्यन्त मुखरित हुई है।

१७वी शतीमें हम साहित्यकी झुकाव हिन्दीकी ओर अधिक मात्रामें देखते है। अब कवि एक लम्बी सीमा तक अपभ्रंशका पल्ला छोड चुके थे, परन्तु अपभ्रंश अभी सर्वथा पृथक् नही हुई थी। बाबू कामताप्रसादजी लिखते हैं—[1] "सत्रहवीं शताब्दीमे तो उच्च कोटिकी हिन्दी रचनाएँ रची जाने लगी थीं, किन्तु उस समय तक पुरानी अपभ्रंश भाषा मिश्रित हिन्दी-में रचना करनेका मोह जनतासे उठा नही था। इस समयसे १९वी शताब्दी तक ऐसी मिश्रित भाषाकी रचनाएँ मिलती है।"

अठारहवी शतीमें भैया भगवतीदास एव कविवर द्यानतरायने इस परम्पराका प्रतिनिधित्व किया है। इस समय अध्यात्मप्रधान पद एव बडे-बडे पुराणोके अनुवाद देश-भाषामें बहुत बडी मात्रामें हुए है। प० दौलत-रामने गद्यानुवादो एव विस्तृत व्याख्याओ द्वारा साहित्य-जगत्में एक नयी दिशाका निर्देशन किया। इससे भाषाका सौन्दर्य निखरा तथा प्राचीन कवियोके ग्रन्थ रत्नोका उचित मूल्याकन हो सका। आगे चलकर १९वी शतीमें यही गद्यानुवादका कार्य प० टोडरमलजीने एव प० जयचन्दजीने पर्याप्त मात्रामें किया। ये कवि केवल अनुवादकर्ता ही न थे, सफल कवि भी थे। २०वीं शतीमें अनुवादोकी परम्परा क्षीण पड गयी। कलाकारोंने स्वतन्त्र रचनाएँ कीं।

---

१ कामताप्रसाद . 'हिन्दी जैन साहित्यका सक्षिप्त इतिहास', पृ० ३७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य स्रष्टाओंने अपनी अध्यात्म प्रधान समन्वयकी परम्पराका पालन पूर्ण दृढ़ताके साथ किया है। कभी स्वतन्त्र रचनाओं-द्वारा, कभी प्राचीन आचार्यों-द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंकी विस्तृत टीकाओं-द्वारा, तो कभी जन-भाषामें किये गये पद्यमय अनुवादोंसे ये साहित्यकार अपनी सेवाएँ देते रहे हैं।

साहित्य-सेवाका स्वरूप

आज तकके जैन साहित्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि देश एवं कालकी परिस्थितियोंके कारण इसकी भाषा एवं शैलीमें समय-समयपर अन्तर अवश्य हुआ है। जो स्वाभाविक भी था। परन्तु विषय-चयनमें जैन साहित्यकार सदासे एक रहे हैं, हाँ सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओंका चित्रण (धर्ममूलक) यथावसर थोड़ा-बहुत अवश्य हो गया है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। जैन साहित्यकी आधारशिला धर्म है अतः इस बातकी साहित्यिक सेवाओंको समझनेके लिए धर्म-भावनाका भी ध्यान रखना होगा। सम्पूर्ण विश्वके साहित्यके मूलमें निश्चित रूपसे धार्मिक भावना कार्य कर रही है अतः संसार-भरका साहित्य धर्ममूलक है।[1] "मनुष्यने संसारसे अपना जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके धार्मिक विश्वासोंसे प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसारसे उसका सम्बन्ध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वासमें शिथिलता आनेसे उसका सामाजिक जीवन भी शिथिल हो जाता है। उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्योंमें दिखलाई देती है। साहित्यमें मनुष्यके धार्मिक परिवर्तनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्यका स्वरूप भी बदल जाता है। धर्मसे साहित्यका अच्छेद्य सम्बन्ध है। डॉक्टर वीवर नामके विद्वान्ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्यका एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलम्बी यूरोपके सभी सभ्य देशोंकी भाषाका धर्म ईसाई-मतका ही अवलम्बन करता है। वहाँ ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जातिकी विशेषताको ग्रहण कर साहित्यमें विद्यमान है। वीवर साहबके इस मतका समर्थन कितने ही विद्वानोंने किया है। अब यह सर्व सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जातिका जो धर्म है उस जातिकी भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्मके अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषाके प्रत्येक

१ डॉ० उदयभानु सिंह 'जीवन और साहित्य', पृ० ६७।

शब्द, रचना शैली, अलकारके समावेश और रसके विकासमें भी उसी धर्मकी ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्यसे धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस कालका साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्थाका चित्र अकित होगा।"[1]

जैन साहित्यमें मानव-हित-विधायिनी अध्यात्म-परक अनेक बहुमूल्य चर्चाएँ है। महापुरुषोके वीरता, साहस, धैर्य, क्षमाप्रवणता एव लोकोपकारितासे ओतप्रोत जीवनवृत्त प्राजल भाषा एव प्रसाद गुण युक्त शैलीमें निबद्ध है। ये चरित ग्रन्थ आज भी मानव समाजके जीवन संबल है—मार्गदर्शक है। (साहित्य द्वारा इन साहित्य-सेवियोने अर्थ-अर्जन अथवा यश प्राप्तिका लक्ष्य कभी नहीं अपनाया, क्योंकि ऐसा करनेसे फिर साहित्यकार अर्थपतियो, राजाओ एव सम्राटोके मनोभावोको उत्तेजित एवं अनुरंजित करनेमें ही अपनी काव्य-शक्तिका उपयोग किया करता है। भक्तिकालके प्राय सभी कवि स्वतन्त्र रहे। वे कभी किसी प्रलोभन (आर्थिक अथवा पद-सम्बन्धो) के पीछे नहीं पडे। यही कारण है कि उनका साहित्य किसी युग विशेषकी लाचारी अथवा, रसिक वृत्तिका परिणाम न होकर चिरन्तन जीवन-सत्यका निश्छल एव भावप्रवण उद्घाटन करता है।)

(यह बडे गर्वकी बात है कि जैन साहित्यकारोने कभी भी किसीके आश्रित रहकर अपने आत्म-भावोका हनन नहीं किया है। विविध कथाओं-द्वारा, काव्यों-द्वारा, पदो-द्वारा गद्यग्रन्थो-द्वारा तथा नाटको-द्वारा जैन साहित्य स्रष्टा सदासे एक सास्कृतिक मर्यादा एव पूर्वाचार्योंके धर्म-न्यायकी रक्षा एव वृद्धि करते रहे हैं। इन स्रष्टाओने नवीन युगमे समन्वय न किया हो यह बात नही है। अवसर आनेपर सामाजिक कुरीतियो, छुआछूत, साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता तथा प्रशासन-सम्बन्धी अत्याचारोंके विरोधमें बडे सशक्त एव प्रभावक कवि-धर्मका परिचय दिया है।)

धर्म और चरित्र ही मानव जीवनमें ऐसे सबल सहयोगी है जिनके बलपर जीवन-भर हम सकटोसे भयभीत नहीं होते एवं मानवताकी पराजय कभी भी स्वीकार नहीं करते। व्यक्ति, समाज एव देशकी ऐक्य-शृखला धर्म एव चारित्रपर एक बहुत बडी सीमातक निर्भर करती है। "धार्मिक

---

[1] रसाल 'हिन्दी साहित्यका इतिहास', पृ० १४।

"जीवो[1] उवओ गमओ, अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणो
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्ससो ठगई ।"

अर्थात् यह जीव उपयोगमय है, अमूर्तीक है, स्वदेह प्रमाण है, भोक्ता है, ससारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है। इन आत्मगुणोकी चर्चा जैन साहित्यमें पर्याप्त मात्रामें मिलती है। ससारके प्रलोभनो और झंझटो-में उलझी हुई मानवात्माको आचार्योंने विविध प्रकारसे सम्बोधित किया है।

अध्यात्म सन्त कविवर दौलतरामजी किस मार्मिकताके साथ मानवात्माको सम्बोधित करते हैं—

"रे मन तेरी को कुटेव यह करन विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तें निज स्वरूप न लखावै है,
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है।"

इन्द्रिय-विषयोका स्वाद कुछ ऐसा होता है कि मनुष्य आस्वादनके समय इनकी दु खान्तताका ध्यान नहीं रखता। अनेकों वार घने कष्ट उठा चुका है फिर भी सावधान नही होता। उक्त पद्यमें गम्भीरता एव सरलताका कितना चित्ताकर्षक साम्य है, पाठक स्वय अनुभव कर सकता है।

कविवर भूधरदासजी किस आकर्षक पद्धतिसे मानवको उसकी भूलोका बोध करते हैं, और ससारके कष्टोंसे मुक्त होनेका एक अचूक मार्ग (भगवद्भक्ति) बताते हैं।

"भगवन्त भजन क्यों भूला रे!
यह ससार रैन का सपना, तन-धन, वारि बबूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाढ़ा, क्या समझै मन फूला रे।"

क्षणिक यौवनके मदमें आकर मनुष्य अपने परम लक्ष्य आत्म-कल्याणसे भटक ही जाता है, वह भूल जाता है कि जल-बुद्बुदसे बढकर कुछ भी महत्त्व इस यौवनका नही है। धन-बल, ज्ञान-बल, कुल-बल, जाति-बल, शारीरिक-बल तथा यश-बलके अभिमानमें पडकर मनुष्य कितना पतन कर लेता है। यह स्पष्ट है। अभिमान मनुष्यकी प्रगतिमें एक गहरी पथ-बाधा है—

"गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।
झूठी काया, झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।"

---

[1] 'द्रव्यसग्रह' गाथा २।

आत्माकी विशुद्ध अवस्था ही अनेक नामोसे व्यवहृत होती है। सभी अपनी-अपनी रुचिसे उसके आकार-प्रकार एव नामादिककी स्थापना करते हैं। इसपर सर्व धर्म समन्वयका उदारतम भाव कार्य कर रहा है।

दशम शताब्दीके प्रसिद्ध सन्त कवि, मुनि रामसिहजी कोरे क्रिया-काण्डकी (जिसमें शुद्धाचरणका अभाव है) खुलकर भर्त्सना करते हैं। कविवरका 'पाहुड दोहा' अत्यन्त उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसके उद्धरण इसके पूर्व दिये जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि जैन पदोमें गम्भीरतम आत्म-भावोकी अनुभूति सुकुमार एव श्रुतिमधुर शब्दोंके माध्यमसे हुई है। भावदुरूहता अथवा भावदीनता और शब्दोकी तोड-मरोड कही भी दृष्टिगोचर नही होती। कविवर बनारसीदास, भूधरदास, दौलतराम, बुधजन एव आनन्दघन आदिके पद हिन्दी-साहित्यकी अमूल्य एव स्थायी निधि हैं। इन कवियोमें महात्मा कबीर, सूर एव तुलसी-जैसी भाव-व्यजना सर्वत्र उपलब्ध होती है।

इस प्रकार जैन साहित्यकारोकी साहित्य सेवाके स्वरूपकी एक झलक हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। सम्पूर्ण साहित्य इसी कोटिके अमूल्य रत्नोसे परिव्याप्त है। अध्यात्म, शुद्धाचरण एव महापुरुषोके पवित्र जीवन वृत्तोसे सम्बद्ध विषयोंके प्रतिपादनमें ही जैन कवि अपना जीवन अर्पित करते रहे हैं।

■

द्वितीय अध्याय

कविवर बनारसीदास
का
जीवन-वृत्त

है। अध्यात्मरसिक कविवर बनारसीदासजी इसके अपवाद हैं। आपने अत्यन्त सरल, संक्षिप्त, सत्यात्मक एवं निष्पक्ष रूपमें अपनी पद्यबद्ध आत्मकथा स्वयं लिखी है। सौभाग्यकी बात है हमें आपके सम्बन्धमें अटकलबाजियों एवं गौरवगान-भरी उक्तियोंमें नहीं उलझना पड़ता। कविवरके 'अर्धकथानक' के आधारपर उनका ५५ वर्षका जीवन हमारे सम्मुख एक निर्मल दर्पणकी भाँति आज भी विद्यमान है। बनारसीदासजी-के जीवन वैचित्र्यको सूचित करके पं० बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं,

"कोई तीन सौ वर्ष पहलेकी बात है। एक भावुक हिन्दी कविके मनमें नाना प्रकारके विचार उठ रहे थे। जीवनमें अनेक उतार-चढ़ाव वे देख चुके थे। अनेक संकटोंमेंसे वे गुजर चुके थे, कई बार बाल बाल बचे थे, कभी चोर-डाकुओंके हाथ जान माल खोनेकी आशंका थी, तो कभी सूलीपर चढ़नेकी नौबत आनेवाली थी, और कई बार भयंकर बीमारियोंके शिकार हो गये थे। गार्हस्थिक दुर्घटनाओंका शिकार उन्हें कई बार होना पड़ा था। एकके बाद एक उनकी दो पत्नियोंकी मृत्यु हो चुकी थी और उनके नौ बच्चोंमें से एक भी जीवित नहीं रहा था। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक रंग देखे थे—नाना प्रकारके खेल खेले थे—कभी वे आशिकी-के रंगमें सराबोर थे, तो कभी धार्मिकताकी धुन उनपर सवार थी, और एक बार तो आध्यात्मिक सिद्धिके लिए नवरस पद्यावलि लिखा गया अपना ग्रन्थ उन्होंने गोमती नदीमें प्रवाहित कर दिया था। सन् १६९८ में उनकी तृतीय पत्नीके साथ बैठे हुए यदि उन्होंने विचार किया हो। आत्म-चरित्रका विचार हुआ हो तो उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं—

"नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यौं तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूठ से होइ॥"

अपने आत्मचरित पद्योंमें लिखते हुए इस कविने यह आशा स्वप्नमें भी न की होगी कि ये पद्य कई सौ वर्ष तक हिन्दी जगत्में उनके यश-शरीरको जीवित रखनेमें समर्थ होंगे।"[1]

सुप्रसिद्ध विचारक एवं अनुभवी लेखक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदीकी इन पंक्तियोंमें कविवर बनारसीदासका जीवन-वृत्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हमें अपने चरित-नायकके जीवनकी एक ऐसी प्रेरक झलक मिलती है जो हमारे अन्तस्तल एवं हृदय प्राणोंमें भी

१ पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। 'अर्धकथानक' भूमिका, सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

आशा और उत्साहका सचार करती है तथा हमें एक दिव्य जीवनकी ओर मोडती है। विभिन्न प्रकारके दुस्साध्य कष्टो और विषमताओकी अमाको चीरते हुए कविने अपना मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि अनेक अवसर ऐसे आये जब कि कविका जीवन अवरुद्ध हो सकता था—उनका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो सकता था, परन्तु वे एक असाधारण व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे, अत गार्हस्थिक, आर्थिक, शासन सम्बन्धी एव शारीरिक, मानसिक उतार-चढाव उन्हें थकित न कर सके।

अब हम विस्तारसे कविप्रवरके जीवनका अध्ययन करेंगे

वश-परिचय

मध्य भारतमें रोहतकपुरके पास विहोली नामका एक ग्राम है। वहाँ राजवशके राजपूतोकी वस्ती है। एक समय इसी बीहोली नामक ग्राममें एक जैन मुनिका शुभागमन हुआ। मुनिराजके पावन चरित्र, सरल स्व-भाव एव पाण्डित्यपूर्ण उपदेशसे प्रभावित होकर वहाँकी समस्त राजपूत जनताने अपने परपीडक एव अनुचित आचरणका त्याग कर दिया तथा तत्काल जैन धर्ममें दीक्षा ले ली। पच नमस्कार मन्त्रकी माला धारण की और श्रीमाल कुलकी स्थापना करके गाँवके आधारपर अपना गोत्र 'बीहो-लिया' निश्चित किया।

"याही भरत सुखेत में, मध्य देस सुभ ठॉव।
बसै नगर रोहतगपुर, निकट बिहोली गॉव ॥८॥
गॉव बिहोली में बसै, राज वस रजपूत।
ते गुरु मुख जैनी भये, त्यागि करम अघभूत ॥९॥
पहिरी माला मन्त्र की, पायौ कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली रखपाल ॥१०॥"

इस[1] प्रसिद्ध बीहोलिया कुलकी विशाल परम्परामें अनेक धर्मात्मा, कुशल व्यापारी एव विद्वान् पुरुष हुए। बहुत समयके पश्चात् इसी परम्परामें गगधर और गोसल नामके दो भद्र पुरुष हुए। फिर गगधरके वस्तुपाल, वस्तुपालके जेठमल, जेठमलके जिनदास और जिनदासके मूलदास उत्पन्न हुए। ये मूलदास ही कविवर बनारसीदासजीके पितामह थे। हिन्दी और फ़ारसीके ये अच्छे विद्वान् थे। मालवाके नटवर नगरमे वहाँ मुसलमान नवावके मोदी होनेका भी इन्हे अवसर मिला था। यह पद इन्हें अपनी

१ 'अर्धकथानक' ११-१८।

विद्वत्ता और सचाईके कारण ही मिला था। कविके प्रपितामह जिन-दासका तो प्रसिद्धिसूचक साका भी चलता था। मातामह मदनसिंह चिना-लिया तो जौनपुरके विख्यात जौहरी थे ही। कुछ समय पश्चात् मूलदास-जीके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम खडगसेन रखा। दो वर्षके अनन्तर एक पुत्र और हुआ जिसका नाम घनमल रखा। दुर्भाग्यवश यह पुत्र तीन वर्षकी अल्पायुमें ही चल बसा।

"घनमल घन दल उड़ि गये, काल पवन संयोग।
मातपिता तरुवरतये, लह आतम सुत सोग॥"

घनमलके आकस्मिक निधनसे मूलदासजीको इतना शोक हुआ कि वे भी दिवगत हो गये। मूलदासकी मृत्युका समाचार सुनते ही मुग़ल हाकिमने आकर सब जायदाद जब्त कर ली। विधवा पत्नी अपनी असहाय अवस्था-पर अत्यन्त दु खी हुई और पुत्र खडगसेनको लेकर मार्गके अनेक कष्ट सहती हुई अपने पिताके घर आ गयी–

"मदन जौहरी कौ सदन, ढूँढ़त बूझत लोग।
खरगसेन-माता सहित, आये करम संजोग॥"

मदनसिंह चिनालियाने अपनी पुत्रीके प्रति गहरी आत्मीयता दिखायी। उसके पुत्र और पुत्रीकी मृत्युकी तथा सम्पत्तिहरणकी वेदना सुनकर उसे अपार ढाढस बँधाया और कहा

"कहै मदन पुत्री सौं रोइ, एक पुत्र सौं सब कछु होइ।
पुत्री सोच न कर मन माँहि, सुख-दुख दोऊ फिरती छाँहि॥"

बालक खडगसेन अपने नानाके घर सुखपूर्वक रहते हुए धीरे-धीरे बढ़ने लगा। व्युत्पन्नमति होनेके कारण थोडे ही समयमें पत्र-लेखनमें निपुण हो गये एव सोना-चाँदी तथा जवाहिरातका व्यापार भी सीख लिया। कुछ समयके पश्चात् बगालके 'गौड' नामक स्थानमें पोतदार नियुक्त हुए। थोडे दिनो पीछे ये जौनपुर फिर आ गये। सवत् १६२६ में व्यापारके लिए आगरे गये। लगभग चार वर्ष बडी कुशलतासे व्यापार किया, फलस्वरूप पर्याप्त धन लाभ हुआ। अगले वर्ष कुटुम्बजनोंके प्रयत्नसे मेरठ-के सूरदासजी श्रीमालकी पुत्रीसे इनका विवाह भी सम्पन्न हो गया। सवत् १६३३ तक आगरामें ही व्यापार करते रहे, फिर पर्याप्त धन-सचय कर जौनपुर आये। जौनपुरमें रामदासजी अग्रवालके साथ साझेमें जवाहिरात-का व्यापार किया। सवत् १६३५ में खडगसेनके प्रथम पुत्र उत्पन्न

"चिरजीवि कीजै यह बाल, तुम्ह सरनागत के रखपाल।
इस बालक पर कीजै दया, अब यहु दास तुम्हारा भया॥"

इस विनीत प्रार्थनाके समय मन्दिरका पुजारी भी खड़ा था। थोड़ी देर बनावटी ध्यान लगाकर बोल उठा—[1]भगवान् पार्श्वनाथके यक्षने मुझे संकेत किया है कि यह बालक दीर्घायु होगा। इसके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। और बालकका नाम—

"जो प्रभु पार्श्व जन्म को गांव, सो दीजै बालक को नांव।
सो बालक चिरजीवी होय, यह कहि लोप भयो सुर सोय॥"

मायावी पुजारीकी इस मायात्मक बातको खड्गसेनजीने सत्य समझकर प्रसन्न भावसे पुत्रका नाम 'बनारसीदास' रख दिया।

समस्त कुटुम्बी जनोंका अगाध स्नेह बालकको प्राप्त होने लगा। इकलौते पुत्रपर एक सम्पन्न कुटुम्बमें लाड़-प्यार और लालन-पालनमें कमी भी क्या हो सकती है! धीरे-धीरे द्वितीयाके चन्द्रकी भाँति बालक बढ़ने लगा।[2] पूर्व अशुभ कर्मोदयके कारण संवत् १६४८ में अर्थात् ५ वर्षकी अवस्थामें बनारसीदासजीको भयंकर संग्रहणीने घेर लिया। घर-भरपर दुःखके बादल छा गये। एक वर्षकी भारी वेदना सहकर इससे मुक्ति मिली। एक वर्षके पश्चात् शीतलाका प्रकोप हुआ। कठिन उपचारके पश्चात् यह कष्ट भी दूर हुआ। बालकका यह डेढ़-दो वर्षका समय बड़े कष्टोंमें व्यतीत हुआ। संवत् १६५० में बालक ठीक हो सका।

शिक्षा

अपने शैशवमें उक्त दोनों भयंकर बीमारियोंसे जर्जर हुए बनारसीदासजीने धीरे-धीरे एक वर्षमें पुनः अपना स्वास्थ्य सँभाला और विद्याध्ययनके लिए गुरुचरणोंका आश्रय लिया। पाण्डेजीने बड़ी तत्परतासे पढ़ाया। बनारसीदासजी भी व्युत्पन्नमति थे अतः अल्प समयमें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। आठ वर्षके बालककी प्रखर बुद्धिसे गुरु भी परम प्रसन्न थे।

"आठ बरस कौ हूओ बाल, विद्या पठन गयौ चटसाल।
गुर पांडे सौं विद्या सिखै, अक्खर बांचे लेखै लिखै॥

---

१ 'अर्धकथा' ८६–९१।
२ वही, ९५–९७।

युवावस्थामें प्रवेश [गार्हस्थ्य जीवन, अनग-रग, कुष्ठ रोग, परिणाम-स्वरूप सन्तान-क्षय इत्यादि]

कविवर बनारसीदासजीके समयसे बहुत पहलेसे ही हमारे देशमें मुसलमानोंका शासन चला आ रहा था। ये लोग विविध प्रकारके अमानवीय एव अनैतिकतापूर्ण अत्याचार आये दिन करते रहते थे। इन्ही अत्याचारोंके भयसे बाल्यकालमें ही जनता अपने बेटे-बेटियोंके विवाह कर लेती थी। बनारसीदासजीका भी विवाह संवत् १६५४ में १० वर्षकी अवस्थामें खैराबादके कल्याणमलजी तांबीकी बेटीके साथ सम्पन्न हो गया। बडी घूमधामके साथ खडगसेनजी अपनी पुत्रवधूको बिदा कराकर घर लाये। जिस दिन पुत्रवधू घर आयी थी, उसी दिन खडगसेनजीके एक पुत्रीका जन्म हुआ। उसी दिन एक आकस्मिक दु खद घटना भी घटी—कविकी नानीकी मृत्यु हो गयी। इस सुख एवं दुःखमय ससारकी दशाका चित्रण कविने बडे मार्मिक ढगसे किया है —

"नानी मरन सुता जनम, पुत्र वधू आगौन।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन॥
यह ससार विडम्बना, देख प्रगट दुख खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहिं भेद॥"

विवाहके पश्चात् इनका पढना तो प्राय समाप्त हो गया था। अब ये व्यापारकी ओर लगना चाहते थे। उसी समय जौनपुरमें वहाँके नवाब कुलीचने समस्त जौहरियोंको बुलवाया और कोई बहुत बडा नग (मणि-रत्नादिक) उनसे माँगा, परन्तु जब जौहरियोंने लाचारी दिखायी तो बडी निर्दयतापूर्ण कोडोंकी मार लगवायी और छोड दिया। सभी जौहरी नवाबके इस व्यवहारसे दु खी एव भयभीत होकर जौनपुर छोडकर अन्य नगरोंमें चले गये। खडगसेनजी शाहजादपुरमें जा बसे। लगभग १० महीने वहाँ रहकर कुटुम्बको वहीं छोडकर इलाहाबाद चले गये। यहाँ बनारसीदास अपनी दादीके पास सुखसे रहने लगे। ये कौडियाँ खरीदने और बेचनेका छोटा सा कार्य करने लगे। जो दो-चार पैसे बचा पाते वे अपनी दादीके सामने रख देते थे। दादी अपने पौत्रकी इस कमाईसे अत्यन्त प्रसन्न होती और भविष्यमें उसके कुशल व्यापारी होनेकी आशासे फूली न समाती। बच्चेकी कमाईके पैसोंकी सीरनी और नुकती लाकर सतीके नामसे वितरित कर देती थी।

"दादी बाँटे सीरनी, लाडू निकुती नित्त।
प्रथम कमाई पुत्र की, सती अऊत निमित्त ॥१२६॥"

इसी क्रमसे बनारसीका समय व्यतीत हो रहा था कि पिताकी आज्ञानुसार कुछ दिन फतहपुर और फिर कुछ समय तक इलाहाबाद रहकर जौनपुरकी कुशलताका समाचार पाते ही सकुटुम्ब वहाँ लौट आये। अब ये जौनपुरमें सकुशल रहने लगे।

इस समय तक बनारसीदासजी १४ वर्षके हो चुके थे। बाल्यावस्थाकी समाप्ति और कुमारावस्थाका प्रारम्भ था। घरमें सब प्रकारकी सम्पन्नता थी। माता-पिताका अपार प्रेम था। इकलौते पुत्र होनेके कारण कविकी उद्दाम प्रवृत्तियोंको भी माता-पिता लाड़-प्यारसे समझा-बुझाकर सह लेते थे। परन्तु युवावस्था जैसी कि मदान्धताके लिए प्रसिद्ध है हमारे चरितनायक-पर भी इसका प्रभाव अपनी पूर्णताके साथ आया। कुलकी प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति और आत्मसम्मान आदि सभी कामुकताकी चपेटमें छार-छार हो जाते हैं। शास्त्रज्ञान, माता-पिता और गुरुओंके उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं। बनारसीदास इस समय इतने कामान्ध हो गये कि इनकी दिन-चर्यामें नाममात्रका ही पढ़ना रह गया और भरपूर विषयासक्तिका साम्राज्य छा गया। कवि अपने सम्बन्धमें लिखते हैं—

"तजि कुल-कान लोक की लाज, भयो बनारसि आसिख बाज।१७०।
करै आसिखी धरत न धीर, दरदबद ज्यों सेख फकीर।
इक टक देख ध्यान सो धरै, पिता आपने को धन हरै ॥१७१॥
चौर चूनी मानिक मनी, आने पान मिठाई घनी।
भेजै पेसकसी हितपास, आप गरीब कहावै दास ॥१७२॥"

माता-पिताकी दृष्टि बचाकर घरसे मणि, रत्न तथा रुपये चुराकर स्वयं उड़ाना-खाना और अधिकांश प्रेमपात्रोंमें वितरित करनेका एक लम्बा सिलसिला बँध गया था। मुनि भानुचन्द्रजीने भी उन्हें सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न किया और इससे कविके परिणाम कुछ समयके लिए कुछ सुधरे भी परन्तु थोड़े समयके पश्चात् फिर वही आशिक़ी इनके गलेका हार बन गयी।

"कबहूँ आय शब्द उर धरै, कबहूँ जाय आसिखी करै।"

यह चित्तकी अव्यवस्थित दशा एक लम्बे समय तक चली। कवि अनगरगमें इतने निमग्न हो गये कि उन्होंने एक सहस्र मनहर दोहा-

चौपाइयोंसे युक्त एक नवरसपर पद्यमय काव्य ही रच डाला। यद्यपि इसमें सामान्यतया सभी रस थे परन्तु आशिक़ी अर्थात् सम्भोगप्रधान कविताकी अधिकता थी। बनारसीदासजी विवेकी तो थे ही अत वे अपनी इस कामुक प्रवृत्तिकी समय-समयपर निन्दा भी करते हैं, छूटना भी चाहते हैं, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म ऐसा प्रबल रहा कि इनकी तीव्र आत्मशक्तिको दीर्घ कालतक प्रकट न होने दिया। वे लिखते हैं —

"पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा-चौपई ॥१७८॥
तामैं नवरस रचना लिखी, पै विशेष वरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसि भये, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नये ॥१७९॥
कै पढ़ना कै आसिखी, मगन दुहूँ रस माँहि।
खान पान की सुध नहीं, रोजगार किछु नाहिं ॥१८०॥"

कविवर लिखते हैं—

"ऐसी दसा बरस द्वै रही, मात पिता की सीख न गही।
करि आसिखी पाठ सब पढ़े, सवत् सोलह सौ उनसठे ॥१८१॥"

दो वर्ष इसी प्रकारकी भौतिक-प्रेमकी सकीर्ण गलियोंमें कविने व्यतीत कर दिये। इस समय तक इनकी अवस्था १५ वर्ष १० माहकी हो चुकी थी। अत्यन्त साज-सज्जासे अभिमण्डित होकर बनारसीदास अपनी ससुराल खैराबाद पत्नीका द्विरागमन कराने गये। एक माह तक खूब सुखसे रहनेके पश्चात् कविको पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मोंके उदयके कारण भयकर कुष्टरोग हो गया। रसिक युवकका मनोहर शरीर रोगकी दुर्गन्धसे भर गया, अंग-प्रत्यगमें अगणित विस्फोटक हो गये। सभी व्यक्ति नाक-भौं सिकोडकर और किनारा करने लगे। केवल पत्नी और सासने ही सेवा की।

"भयो बनारसि दास तन, कुष्ठ रूप सर वग।
हाड हाड़ उपजी विथा, केस रोम भ्रुव भंग ॥१८५॥
विस्फोटक अगनित भये, हस्त चरन चौरग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करहिं न सग ॥१८६॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आवै कोइ।
सासू और विवाहिवा, करहिं सेव तिय दोइ ॥१८७॥
जल भोजन की लेहिं सुध, देहि आनि मुख माँहि।
ओखद ल्यावहिं अग में, नाक मूँदि उठि जाँहि ॥"

कई प्रकारकी औषधियाँ दी गयीं परन्तु बनारसीदासजीको पीडा ठीक

न हुई, वरन् असह्यसे असह्यतर ही होती गयी। भाग्यवशात् इस रोगका एक नाई-चिकित्सक मिल गया जिसने जी-भरके इनकी औषधि और परिचर्या लगभग छह महीनेकी और कविवरको स्वस्थ कर दिया। दस-पाँच दिनके पश्चात् वैद्य नाईको यथोचित भेंट देकर श्वसुरालयसे अकेले ही घर लौट आये। ससुरालवालोंने पत्नीको साथ नहीं भेजा।

घर लौटकर अपने माता पिताके सम्मुख बनारसीदासजी खूब रोये, पिताजीने भी इनकी बहुत भर्त्सना की।

कुछ दिनों पश्चात् पुन पाठशाला जाने लगे और अपनी इश्ककी पुरानी प्रवृत्ति फिर तीव्र रूपसे इन्होंने अपना ली।

"कै पढना कै आसिखी, पकरी पहली चाल।"

चार महीने व्यतीत हो गये। पिताजी व्यापारके लिए पटना पहले ही चले गये थे। खैराबादसे बनारसीदासजी पत्नीको बिदा करा लाये और गृहस्थ बनकर रहने लगे। गुरुजनोंने विविध प्रकारके उत्तम उपदेश दिये। परन्तु इनकी कामान्ध प्रवृत्तिपर एकका भी प्रभाव न पडा और इनका जीवन पूर्ववत् ही चलता रहा।

"गुरुजन लोग देहिं उपदेश आसिखबाज सुने दरवेस ॥१९९॥
बहुत पढैं बामन अरु भाट, बनिक पुत्र तौ बैठे हाट।
बहुत पढैं सो माँगे भीख, मानहु पूत बडे की सीख ॥२००॥
इत्यादिक स्वारथ बचन, करे सबनि बहु भाँति।
मानै नहीं बनारसी, रह्यौ सहज रस भाँति ॥२०१॥"

धीरे-धीरे विषयोन्मद इतना प्रबल हो गया कि पढना, जो अबतक यत्-किंचित् चल रहा था वह भी अब (सम्वत् १६६०) स्थगित कर दिया। और—

"आसिखबाजी दिन-दिन बढै।
काहू कह्यौ न मानै कोई, जैसी मति तैसी गति होई ॥२०२॥"

वास्तवमें विषयासक्त चित्त व्यक्तियोंके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। विद्वत्ता, विवेक और कुलीनता उनसे छूमन्तर हो जाती हैं।

[1]"विषयासक्तचित्तानां गुण को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥"

सौभाग्यसे इसी वर्ष बनारसीदासजीके एक कन्याका जन्म हुआ परन्तु ६-७ दिनमें ही वह चल बसी। साथ ही पिताकी भी एक दीर्घकालीन

१ 'क्षत्र चूणामणि' श्लोक ७, आ० वादीभसिंह।

ज्वर देती गयी। वैद्यने इन्हें बीस लघनें करायी। भूखके मारे कवि अत्यन्त उद्विग्न हो रहे थे परन्तु वैद्यने अभी भोजन निषिद्ध कर रखा था। रात्रिमें घर सूना देखकर आधा सेर पूड़ियाँ उठाकर सहसा खा गये और सयोगकी बात है कि नीरोग भी हो गये—

"–आध सेर की पूरी दोइ।

खाट हेट लै धरी दुराइ, सो बनारसी भखी चुराइ।

वाही पथ सौं नीकौ भयौ, देख्यौ लोगनि कौतुक नयौ ॥२०७॥"

कुछ अन्धविश्वासमय मनोरंजक घटनाएँ

वैसे जनश्रुतियोपर आधारित अनेक चित्ताकर्षक घटनाएँ कवि-जीवनमें घटीं जिनका उल्लेख यथावसर आगे किया जायेगा, यहाँ उन घटनाओंकी ही चर्चा की जा रही है जिनका बनारसीदासजीने स्वय उल्लेख किया है।

निश्चित है, विषय-सेवनकी प्रवृत्तिके साथ अपव्यय, फैशनपरस्ती तथा आवारागर्दी स्वय ही आ जाती है और इस सबकी पूर्तिके लिए अधिकाधिक धनकी आवश्यकता होती ही है जिसकी पूर्ति घरवाले समर्थ होनेपर भी नहीं करते। विषयी मनुष्य इतना विषयोन्मुख हो जाता है कि वह धन-प्राप्तिके लिए श्रम नहीं करना चाहता और धनके बिना उसका समस्त कार्यक्रम रुकता है। ऐसी ही स्थितिमें वह दैवी चमत्कारो और अन्धविश्वासोंके मायाजालमें फँसता है। धन-प्राप्तिका लोभ मनुष्यके विवेक और ज्ञानपर यदि वज्रपातका कार्य करे तो आश्चर्य ही क्या—

[1]सवत् १६६१ में एक संन्यासीने बनारसीदासजीको धन-प्राप्तिके लिए एक मन्त्र बताया। सन्यासीने कहा—"मेरे पास एक ऐसा मन्त्र है कि यदि कोई व्यक्ति विधिपूर्वक गुप्त रूपसे एक वर्ष तक विश्वास रखकर एकान्त स्थानमें उसका जाप करे तो वर्ष पूर्ण हो जानेपर उसे प्रतिदिन प्रात काल अपने द्वारपर एक स्वर्णमुद्रा एक वर्ष तक पड़ी मिला करेगी। फिर यदि उसी प्रकार मन्त्रका जाप किया जायेगा तो फिर एक वर्ष तक स्वर्णमुद्रा मिला करेगी। अब क्या था बनारसीदासजीने तत्काल—

"यहु सब बात बनारसी सुनी, जान्या महापुरुष है गुनी।

पकरे पाय लोभ के लिए, मॉगे मन्त्र बीनती किये॥"

संन्यासीका पाँसा ठीक पड़ा। पर्याप्त धन लेकर मन्त्र लिख दिया। अब बनारसीदासजी बड़ी श्रद्धासे पूरी शक्तिके साथ लगे जप करने। उधर

---

१. 'अर्धकथा' छन्द २०९–२११।

सन्यासी भी दो ग्यारह हो गया। एक वर्ष तक बनारसीदासजी इस मन्त्र-जालमें फँसे रहे। वर्ष पूर्ण होनेपर अगले दिन प्रात अगाध उत्सुकता लेकर द्वारपर स्वर्णमुद्रा पानेके लिए आये। जब एक फूटी कौडी भी न मिली तब बहुत पश्चात्ताप किया और सन्यासीका कपटजाल समझ गये। लोभके कारण दो-एक दिन और द्वार देखा पर परिणाम निराशाजनक ही रहा। दुःखके कारण भोजनादिक भी अरुचिकर लगने लगा। कवि लिखते हैं—

"बरस एक जब पूरा भया, तब बनारसी द्वारे गया।
नीची दिष्टि विलोके धरा, कहुँ दीनार न पावे परा ॥२१६॥
फिर दूजे दिन आयो द्वार, सुपने नहिं दीखें दीनार।
व्याकुल भयो लोभ के काज, चिन्ता बढ़ी न भावै नाज ॥२१७॥"

मनकी चिन्ता चिताके समान कविको क्षण-प्रति-क्षण भस्म कर रही थी, तब अपने गुरु भानुचन्द्रजीसे सारी व्यथा कही और जब गुरुने वह सब क्रिया मिथ्या बतायी तब मनकी द्विविधा नष्ट हुई तथा शान्ति मिली—

"कही भान सौं मन की दुधा, तिनि जव कही बात यह मुधा।
तब बनारसी जानी सही, चिन्ता गयी छुधा लहलही ॥"

यह घटना अभी विशेष पुरानी नहीं हुई थी कि एक-दूसरे साधुने बनारसीदासजीपर अपना मायाजाल फैलाया। मुक्ति प्राप्तिके अमर आनन्द-का सहज द्वार कविके सम्मुख उपस्थित कर दिया। जोगीने शख तथा कुछ पूजनकी सामग्री देकर कहा कि यह शिवाजीकी मूर्ति है, इसके पूजनसे मुक्ति मिलती है।

"कहै सदाशिव मूरति एह, पूजै सो पावै सिव गेह।"

बनारसीदासजीपर इसका भी पूरा प्रभाव पडा और शीघ्र ही बड़ी भावुकताके साथ उस मूर्तिको उठा लिया। जोगीकी बडी भक्ति की। बडे आदरके साथ उन्हें द्रव्यादि भेंट देकर बिदा किया। अब नित्यप्रति शिव-शिवका जाप करने लगे, अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगे। आचरण और भोजनादिकमें पूर्ण सयम रहा। यदि किसी दिन शिव-भक्तिमें कोई असाव-धानी या त्रुटि हो जाती हो तो आगामी दिन रूखा भोजन करते थे और भूलपर पछताते थे।

"पूजें तब भोजन करैं, अनपूजै पछिताइ।
तासु दण्ड अगले दिवस, रूखा भोजन खाइ ॥२२२॥"

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये। अपनी इस क्रियाको कविने अपने किसी भी कुटुम्बीसे व्यक्त नहीं किया।

संवत् १६६१ का चैत्रमास आया, खड़गसेनजी एक विशाल संघके साथ शिखरजीकी यात्राको चले गये। पिताकी अनुपस्थितिमें बनारसी अत्यन्त निरंकुश हो गये और मातासे बनारस-यात्राके लिए आये दिन हठ करने लगे। माताजीने बनारसीजीकी यह बात टाल दी। इसपर आपने प्रतिज्ञा की कि जबतक बनारसमें भगवान् पार्श्वनाथकी यात्रा नहीं करूँगा तबतक दूध, दही, घी, चावल, चना, तेल, ताम्बूल, पुष्प इन वस्तुओंका प्रयोग नहीं करूँगा।

"दूध दही घृत चावल चने, तेल तम्बोल पहुप अनगिने।
इतनी वस्तु तजी तत्काल, पन लीनौं कीनौं हठ बाल॥"

इसी प्रकार छह-सात माह व्यतीत हो गये। कार्तिकी पूर्णिमा आयी सभी शिवमती गंगा स्नानके लिए काशी चले। जैन पार्श्वपूजनके लिए चल पड़े। बनारसीदासजी भी उनके साथ चले गये। पार्श्वनाथजी और शिव-जीकी पूजा बड़े भक्ति-भावसे की।

"अकस्मात् बानारसी, सुनि अकबर को काल।
सीढी परि बैठ्यो हुतौ, भयौ भरम चित चाल॥२४८॥
आइ तवाला, गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ 'देव' मुख भाखि॥२४९॥
लागी चोट पखान की, भयो गृहांगन लाल।
हाइ हाइ सब करि उठे, मात तात बेहाल॥"

संवत् १६६२ में अकबरकी मृत्युका समाचार पाते ही बनारसीदास-जी घरकी सीढ़ीपर-से बेहोश होकर गिर पड़े। अकबरकी शासन नीति, धर्म-रक्षा और प्रजा-प्रेम आदि गुणोंपर ये मुग्ध थे। जब कविवरको होश आया तो विचारमें मग्न होकर कह उठे—

"जब मैं गिर्‌यो पर्‌यो मुरझाय,
तब शिव कछु नहीं करी सहाय॥"

और उक्त भक्ति-पद्धतिसे भी इन्हें अरुचि हो गयी।

इसी बीचमें कविके एक पुत्र उत्पन्न हुआ और कुछ दिनमें ही नरभव समाप्त कर चला गया।

कवि कहते हैं—

> "नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ ।
> ज्यों तरवर पतझार ह्व, रहैं ठूठसे होइ ॥"

रागसे विरागकी ओर

एक दिन अपनी रसिक मित्र मण्डलीके साथ कविवर घूमते-घूमते गोमतीके पुलपर आ बैठे। नवरसका ग्रन्थ साथमें था। मित्रोंके बीच बनारसीदासजी ही रसिकशिरोमणि और नवनवोन्मेषशालिनी-प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अत समवयस्क मित्रोंने बडे रसिक भावसे कुछ पद्य सुनानेका कविसे आग्रह किया और प्रतिभाभिराम कविवरकी शृगार-सरिता लगी रसिकोंको आपादमस्तक निमग्न करने। रसराजका आस्वादन मित्रोको आत्म-विभोर कर रहा था, बनारसीदासजी भी आत्म-विस्मृत-से हो रहे थे कि सहसा अध्यात्मकी एक ऐसी आवेगवती लहर आयी जिसने कविकी ऐन्द्रिकता, शृगारिकता एव क्षुद्र भौतिक दृष्टिमय भावुक मनोभूमिको चकनाचूर कर दिया। कविके अज्ञान-तिमराच्छन्न हृदयमें आत्मज्ञानका अरुणोदय हुआ। इस अध्यात्म-रत्नके सम्मुख अबतकके सभी कार्य उन्हें नगण्य काचखण्डवत् प्रतीत होने लगे। उन्हें अपने कपोल-कल्पित असत्यसे भरपूर कवितापर अत्यन्त पश्चात्ताप होने लगा। वे इस महापापसे मुक्तिमार्गकी खोजमें अत्यन्त विकल हो उठे, और सहसा उनकी दृष्टि सरिताकी वेगवती धारापर पडी। एक झटकेके साथ सम्पूर्ण पुस्तिकाको उसी अपार जलराशिमें सदाके लिए समाधि दे दी। यह हाल देखते ही मित्र-मण्डलीमें घबराहटकी एक लहर दौड गयी, सभी हाय-हाय करने लगे। ऐसा उत्तम ग्रन्थ उन्हे अब प्राप्त न हो सकेगा—यह सोच-सोचकर वे सभी अत्यधिक खिन्न हुए। नदी अथाह और अत्यन्त भयावह थी अत बिखरे हुए पत्र एकत्रित करनेका किसीका साहस भी न हो सका। घडी-दो-घडी पछताकर और मानवकी विचित्र मनोदशापर विचार करते-करते सभी मित्र अपने-अपने घर चले गये।

कविवर इसी घटनाको किस सरलता, मितभाषिता एव सत्यसमन्वितताके साथ व्यक्त करते है

> "एक दिवस मित्रह्न के साथ, नौ-कृत पोथी लीन्ही हाथ।
> नदी गोमती के बिच आइ, पुल के ऊपर बैठे जाइ।
> बाचे सब पोथी के बोल, तब मन में यह उठी किलोल।

एक झूठ जो बोलै कोई, नरक जाइ दुख देखै सोई।
मैं तो कलपित बचन अनेक, कहे झूठ सब साँचु न एक॥
कैसे बने हमारी बात, भई बुद्धि यह आकसमात।
यहु कहि देखन लागे नदी, पोथी डार दई ज्यों रदी॥२६७॥
हाइ हाइ करि बोले मीत, नदी अथाह महा भयभीत।
तामै फैलि गये सब पत्र, फिरि कहु कौन करै एकत्र॥२६८॥
घड़ी द्वैक पछताने मित्र, कहैं कर्म की चाल विचित्र।
यहु कहि कैं सब न्यारे भये, बनारसी अपने घर गये॥२६९॥"

बनारसीदासजीकी इस घटनाका पता जब उनके पिता खड्गसेनजीको लगा तो उनकी प्रसन्नताका पार न रहा। वे पुत्रकी स्वराचारितासे बडे चिन्तित रहते थे और अनेक प्रकारके प्रयत्न करनेपर भी बनारसीदासको ठिकानेपर न ला सके थे। खड्गसेनजीको बडी सान्त्वना मिली।

"खरगसेन सुनि यह विरतन्त, हूए मन मैं हरषितवन्त।
सुत के मन ऐसी मति जगै, घर की नाव रही-सी लगै।"

इस घटनाके पश्चात् तो कविवरके जीवनमे एक गहरा परिवर्तन आया। जिस सदाचरण और धार्मिक श्रद्धानके साथ उत्तम विचारोका पाठ माता-पिता और गुरुजन एक लम्बे समयसे सिखाते आ रहे थे और असफल से हो चुके थे, वही पाठ समय आनेपर कविने स्वय ही सीख लिया। अब विषय वासनाकी चर्चा करना भी इन्हे अरुचिकर लगने लगा। कविवर लिखते है—

"तिस दिन सौ बानारसी, करै धरम की चाह।
तजी आसिखा फासिखी, पकरी कुल की राह॥२७१॥
कहैं दोष कोउ ना तजै, तजै अवस्था पाइ।
जैसे बालक की दसा, तरुन भये मिटि जाइ।
उदै होत सुभ करम के, भई असुभ की हानि।
तातैं तुरति बनारसी, गही धरम की बानि॥२७२॥"

अशुभ कर्मोका अन्धकार नष्ट हुआ और शुभ कर्मोंकी ओर कविकी प्रवृत्ति हुई। अब वे एक सदगृहस्थके समान ही अपना आचरण रखने लगे। व्रत, नियम, सयम एव शास्त्रोके पठन-पाठनमे ही उनका अधिकाश समय व्यतीत होने लगा।[1]

---

१ 'अर्धकथानक' छन्द २७४–२७५।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कार्य ही उसे क्रमश. विख्यात—लोकप्रिय तथा कुख्यात बनाते हैं। जो बनारसीदास अपने दुराचरण और उच्छृखल स्वभावके कारण उपेक्षित एव निन्दित हो चुके थे वे ही जब सत्यप्रिय, सदाचारी एव धार्मिक हो गये तो माता पिता और समाजके गलेके हार भी बन गये।

"तब अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात।"

कविवरको सभी प्रकारसे ठीक देखकर खडगसेनजीने बडे प्रेमसे अपने पास बुलाकर कहा, बेटा अब तुम समर्थ हो गये हो। हमारी वृद्धावस्था भी आ गयी है। तुम गृहस्थीका भार सँभालो, घरके कर्ता-धर्ता अब तुम्हीं रहोगे। योग्य पुत्र माता-पिताकी सेवा करते हैं, हमें तुमसे भी ऐसी ही आशा है। पुत्र बनारसीदास लज्जित-से खडे रहे। पिताका अगाध स्नेह देखकर गद्गद हो उठे। पिताजीने भी तत्काल पुत्रका तिलक किया और घरका समस्त कार्य-भार इन्हें सौंप दिया। इस समय तक कविवर बनारसीदासजी २५ वर्षके हो चुके थे। सवत् १६६७ में कविने गृहस्थीका भार सँभाला।

व्यापारिक जीवन

यह बात निश्चित है कि जबतक मनुष्यपर उत्तरदायित्व नही आता तबतक उसका झुकाव गम्भीरता, सतर्कता एव मितव्ययिताकी ओर नही होता। बनारसीदासजीमें उत्तरदायित्वके साथ ही ये सब बातें शनै शनै प्रविष्ट होने लगी।

सर्वप्रथम बनारसीदासने आगरेमें व्यापार करनेकी इच्छा प्रकट की। पिताजीने यह बात मान ली और इन्हें दो पहुँची, दो मुद्रिका, चौबीस माणिक, चौंतीस मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, चार गाँठ फुटकर चुन्नी, बीस मन घी, दो कुप्पे तेल, दो सौ रुपयेका कपडा और कुछ रुपये नक़द देकर व्यापारके लिए आगराको विदा किया। मार्गमे इटावा आदिके अनेक कष्ट सहते हुए किसी प्रकार बनारसीदासजी आगरा आये। आगरेके मोती कटरा नामक मुहल्लेमें कविवर अपने बहनोईके घर ठहरे। कुछ दिन बाद इन्होंने किरायेपर एक स्वतन्त्र मकान भी ले लिया। अब धीरे-धीरे आपने क्रय-विक्रय प्रारम्भ कर दिया। कपडा, घी और तेल बेचकर सब

---

१ 'अर्धकथानक' छन्द २८२-८७।

रुपया हुण्डीसे घरको भेज दिया। बनारसीदासजीका व्यापार करनेका यह प्रथम अवसर ही था अत ये सभी व्यापारिक चतुराइयोंसे अनभिज्ञ थे। कुछ अशुभ कर्मका उदय भी था। कविका प्रत्येक वस्तुके विक्रयमें घाटा हो पड़ा। बहुत से बहुमूल्य मणि आदिक तो इनकी असावधानीसे खो गये। कुछ लोग विश्वासपात्र बनकर इन्हें धोखा दे गये।

"देहि तागि जो मार्ग कोइ, साधु असाधु न देखे कोइ।
कोऊ वस्तु कहूँ ले जाइ, कोऊ लेइ गिरा धरि खाइ॥
आया उदै असुभ का जोर, घटती होत चली चहुँ ओर।"

कुछ छूटे हुए जवाहरात एक कांचीमें कमकर बांध रखे थे, दुर्भाग्य-से उसका नाड़ा टूट गया और पेटमें बँधी हुई वह कांची भी कब गिर गयी इन्हें पता ही न लगा। अभी घटना ताजी ही थी कि एक और दुखद घटना घटी। कविने डेरेमें एक वस्त्रमें कुछ मणि बांधके रख दिये थे वह चूहे काटकर न जाने कहाँ ले गये।

"मानिक नारे के पल्ले, ऑण्यो साट उचाट।
धरी इजार अलगनी, मूसा ले गया काटि॥"

दो जड़ाऊ सुन्दर स्वर्णमय पहुँची एक सराफको बेची थी, दाम मिलनेके पहले ही उसका दिवाला निकल गया।

एक जड़ाऊ मुद्रिका गाठ लगाते समय ही मार्गमें गिर पड़ी, ध्यान आनेपर नीचे देखा भी परन्तु किसी धूर्तने उसे पहले ही उठा लिया था अत हाथ मलते ही रह गये। इस प्रकार इनके पास जो कुछ भी था धीरे-धीरे सब निकल गया, कुछ टाटेमें तो कुछ स्वयकी असावधानीसे भरी भोली प्रकृतिके कारण। एकके बाद एक करके इन अनेक दुखद घटनाओंने कविके कुसुम सुकुमार हृदयको झकझार दिया, दुख और चिन्ताकी तीव्रताके कारण कविको ज्वर आने लगा। दस लघनें कीं तथा महीने भर इतने दुर्बल रहे कि बाजार भी न जा सके। इसी बीच खडगसेनजीके कई पत्र आये परन्तु व्यापारमें हुई आर्थिक क्षति और उक्त सभी घटनाओके कारण हमारे कवि इतने दुखी और लज्जित थे कि पिताके एक भी पत्रका उत्तर तक नहीं दिया।

"खड्गसेन की चीठी घनी, आवहिं पै न देहि आपनी।"

आगरामें कई व्यक्ति बनारसीके कुटुम्बसे परिचित थे ही, बात

खडगसेनजी तक पहुँच ही गयी। बनारसीदासजीके बडे बहनोई उत्तमचन्द जोहरीने खडगसेनजीको एक पत्र लिखा जिसमें बनारसीदासके सम्बन्धमें लिखा—

"पूँजी खोइ बनारसी, भये भिखारी भेख।"

इस समाचारके आते ही खडगसेनजीके घरमें डटकर रुदन और कलह हुई। अपनी पत्नीसे वे बहुत ही क्रुद्ध हुए और कहने लगे मैंने तो तेरे कहनेमें आकर तिलक कर दिया था, मैं तो जानता ही था कि यह घर बिगाडकर ही रहेगा। उस निर्लज्जने तो समस्त पूँजी भी खो दी।

"कहा हमारा सब थयाँ, भया भिखारी पूत।
पूँजी खोई बेहया, गया बनज का सूत॥"

खडगसेनजी अन्तमें दुःख-भरी श्वास भरकर रह गये और उक्त समाचार खैराबाद भी भेज दिया वहाँ भी सभी रिश्तेदार दुःखी हुए। यहाँ आगरेमें बनारसीदासजीकी दिनचर्या भी अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। जो कुछ बचा था बेच-बेचकर सब खा गये और जब दो-चार टके ही हाथमें रह गये तो बाजारका जाना भी छोड दिया।

"घर की वस्तु बनारसी, बेंचि बेंचि सब खाहि।
लटा कुटा जो किछु हुतौ, सो सब खायौ डारि।
हडवाई खाई सकल, रहे टका द्वै चारि।
तब घर में बैठे रहैं, जाई न हाट बजार॥"

अब बनारसीदासजीका बेकारीका समय था। मधुमालती और मृगावती नामक दो प्रेमाख्यान रात्रिके समय पढ़ते थे। दश-बीस रसिक जन सुनते थे और चर्चा करते थे, रात्रि अधिक हो जानेपर अपने-अपने घर चले जाते थे। कविवरकी यह दशा आ गयी कि घरमें खानेको भी कुछ न बचा।

कचौडीवाला

एक कचौडीवाला भी रात्रिके समय इनकी कथा सुना करता था, ये उसीकी दुकानसे एक सेर कचौडियाँ उधार लेकर खाने लगे। जब एक सवा महीना हो गया तो स्वयं ही कचौडीवालेसे अपनी असली निर्धनताकी दशा कह दी—भाई, तुमने मुझे बहुत उधार दिया अब आगे मत देना, मेरे पास तो कुछ है ही नहीं, तुम दाम लोगे भी कहाँसे !—

इसके पश्चात् कविवरका जीवन प्राय आगरेमें ही व्यतीत हुआ। अब ये निर्वाह लायक द्रव्यकी चिन्ता करते थे और बचा हुआ समय स्वाध्याय, सत्सग एव काव्य-रचनामें ही लगाते थे।

बनारसीदासजीका धार्मिक सम्प्रदाय

जैनोंके दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं। कविवर बनारसीदासजी वंशानुक्रमसे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायके अन्तर्गत श्रीमाल कुलमें उत्पन्न हुए थे, अत ये जन्मसे श्वेताम्बर जैन थे। श्रीमाल जाति आज भी श्वेताम्बर जैन है। यह जाति आज अहमदाबाद और बम्बईमें अल्प मात्रामें पायी जाती है। बनारसीदासजीके सभी पूर्वज दृढ जैनी थे, यावज्जीवन जैन धर्मका पालन करते थे। यही कारण है कि हमारे चरितनायकके बचपनके सस्कार भी पूर्वजोंके धर्मानुसार ही पडे। कविवर बनारसीजीके गुरु उद्भट विद्वान् भानुचन्द्रजी खरतरगच्छ (श्वेताम्बर सम्प्रदायकी एक शाखा) की लघु शाखाके साधु थे। इनके प्रति कविकी अगाध श्रद्धा थी, अपनी रचनाओंमें कई स्थानोंपर आपको स्मरण भी किया है। बनारसीदासजीके प्राय सभी सम्बन्धी एव मित्र भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही थे। स्नानविधि, सामायिक, पडिकोना (प्रतिक्रमण), अस्तोन (स्तवन) आदि श्वेताम्बरी क्रियाकाण्डका बनारसीदासजीने अध्ययन किया था तथा इसीके अनुसार वे अपना धार्मिक आचरण भी करते थे। पोसालमें वे नित्य-प्रति जाया करते थे।[1] प० नाथूराम प्रेमी लिखते हैं —

"उदाहरणके लिए अर्धकथानकका ५८३ नम्बरका छप्पय ले लीजिए। उसमें शान्ति कुन्थ अरनाथके माता-पिताके नाम श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार है। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार अरनाथकी माताका नाम मित्रा और लाछन (चिह्न) मत्स्य होना चाहिए। इसी तरह राग आसावरी (बनारसीविलास पृ० २६६) का प्रसन्नचन्द ऋषिका उल्लेख भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार जान पडता है। दिगम्बर कथाकोशोंमें या अन्य कथा-ग्रन्थोंमें प्रसन्नचन्द्रकी कथा नहीं है परन्तु श्वेताम्बर कथाकोशोंमें प्रसन्नचन्द्र और वल्कलचीरिन्की कथा सुलभ है। कुमारपाल प्रतिबोध (पृ० २८४–९२) में भी है।"

---

१ 'अर्धकथा', पृ० १५ : स० प० नाथूराम प्रेमी।

वे फिर अपनी सात्त्विक वृत्तिके साथ जैन धर्मकी ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार कविके जीवनपर उक्त धर्मोंका भी सामयिक प्रभाव रहा।

दिगम्बर जैन सम्प्रदायके प्रति आस्था

संवत् १६८० तक पं० बनारसीदासजीमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताओंके प्रति आस्था देखी जा सकती है। यह बात उनकी रचनाओं और कार्यों-द्वारा ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। संवत् १६८० के पश्चात् कविवरका झुकाव स्पष्ट रूपसे दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यताओंकी ओर हो गया। हाँ, इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि कविने कहीं भी अपने धर्म या सम्प्रदाय-परिवर्तनका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्यताओंपर किसी भी प्रकारका अपना मत व्यक्त नहीं किया। दोनों ही धार्मिक शाखाओंके प्रति उनकी गहरी आस्था थी। वास्तवमें वे इतने उदार थे कि भेद शब्द उनकी जिह्वापर आ ही न सकता था। इतनी उदार भावना होनेपर भी वे सदैव सच्चे धर्मकी खोजमें रत रहते थे। जिस प्रकार उनके श्वेताम्बर सम्प्रदायके लिखित प्रमाण मिल जाते हैं उसी प्रकार उनके परिपक्व जीवनमें दिगम्बर धर्मने प्रवेश किया इसके भी प्रमाण उनकी रचनाओंमें स्पष्ट रूपसे प्राप्त होते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके तेरहपन्थ और बीसपन्थके रूपमें प्रमुख दो भेद हैं। बीसपन्थी क्रियाकाण्ड-को प्रमुखता देते हैं और तेरहपन्थी अध्यात्मको। क्रियाकाण्ड और अध्यात्मकी मान्यता दोनोंमें है, परन्तु कहीं किसीकी प्रमुखता है कहीं किसीकी। बनारसीदासजी दिगम्बर सम्प्रदायकी अध्यात्मपरक तेरहपन्थ-शाखाके स्वीकर्ता थे।

दिगम्बरत्वके अंकुर

संवत् १६८० में खैराबादनिवासी अर्थमलजी ढोरने बनारसीदासजी-की धार्मिक अस्त-व्यस्तता देखकर उन्हें 'समयसार'की हिन्दी अर्थसहित राजमल्ली टीका सौंप दी और कहा, इसके स्वाध्यायसे धर्मकी वास्तविकता आपके सामने हस्तामलकवत् आ जायेगी। बनारसीदासजीने अध्यात्मरस-सिक्त समयसारका बड़ी तन्मयतासे अध्ययन-मनन किया। परिणामस्वरूप उनका झुकाव शुद्ध निश्चय नयकी ओर हो गया, वे एक दृढ़ अध्यात्मी बन गये। उन्हें क्रियाकाण्ड अत्यन्त थोथा प्रतीत होने लगा। जप, तप, सामायिक, परिक्रमा, पूजन आदि छोड़कर उनकी दृष्टि एकमात्र आत्म-तत्त्वमें स्थिर हो गयी। उनके मित्र चन्द्रभानजी, उदयकरनजी और थान-

सिंहजीकी भी इसी दिशामें दृढ़ आस्था थी। बारह वर्षके लम्बे समय तक जब इन सबकी दृष्टि एक मात्र अध्यात्मकी ओर ही रही, क्रियाकाण्डकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी तो धार्मिक लोग उन्हें 'खोसरामती' अर्थात् एक असन्तुलित मतका अनुयायी कहने लगे।

संवत् १६९२ में अध्यात्मके प्रकाण्ड पण्डित रूपचन्द्रजी आगरे आये। आगराके समस्त अध्यात्मप्रेमी व्यक्तियोंने पण्डितजीसे 'गोम्मटसार' ग्रन्थकी वचनिका करायी। पं० जीने गुणस्थानोंके अनुसार ज्ञान और क्रियाका समन्वय अर्थात् निश्चय और व्यवहारका मेल ही सच्चे सुखका कारण बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि पं० बनारसीदासजी भी अब कर्मकाण्ड अर्थात् धार्मिक क्रियाओंको सर्वथा हेय न समझकर आत्मकल्याण-में कुछ उपयोगी समझने लगे। बादमें कविवरकी अध्यात्मरसिकता इतनी प्रबल हो गयी कि आपने १६९३ में नाटक समयसारको सुललित हिन्दी पद्योंमें आबद्ध किया। आपका यह अध्यात्म-ग्रन्थ आज भी दोनों ही सम्प्रदायोंमें अत्यन्त लोकप्रिय है। इस ग्रन्थमें शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे ही आत्म-तत्त्वपर विचार किया गया है।

पण्डित रूपचन्द्रजीका सम्पर्क और गोम्मटसारका श्रवण तथा समय-सारकी हिन्दी पद्योंमें रचना इत्यादि बातें बनारसीदासजीके दिगम्बरपरक झुकावको द्योतित करती हैं। कविवरकी रचनाओंमें से ऐसे उद्धरण भी दिये जा सकते हैं जो इस बातको प्रमाणित करते हैं।

[1]"उत्तम कुल श्रावक सचार, तासु गेह प्रासुक आहार।
भुंजै दोष छियालिस टाल, सो मुनि बन्दौं सुरति सँभाल ॥११॥
भूमि शयन मजन तजन, वसन त्याग कच लोच।
एक बार लघु असन, थिति-असन दूतवन मोच ॥
द्विविधि परिग्रह, दशविधि, जान, सल, असल अनन्त बखान।
सकल संग तज होय निरास, सो मुनि लहै मोक्ष पद वास ॥
लोक लाज विगलित भयहीन, विषय वासना रहित अदीन।
नगन दिगम्बर मुद्राधार, सो मुनिराज जगत सुखकार ॥
सघन केश गर्भित मलकीच, त्रस असंख्य उतपति तसु बीच।
कच लुंचै यह कारण जान, सो मुनि नमहुं जोर जुग पान ॥"
साधुवन्दना (बनारसी विलास, पृ० १२९।३०)

१ 'अर्धकथानक', पृ० १७ - पं० नाथूराम प्रेमी।

(इन उद्धरणोंमें जितनी बातें आयी हैं वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुओंमें नहीं पायी जातीं। दिगम्बर साधुओंको लक्ष्य करके ही उक्त बातें लिखी गयी हैं। इससे कविवर बनारसीदासजीकी आस्था दिगम्बर सम्प्रदायपर हो गयी थी इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है। इतना अवश्य है कि प० बनारसीदासजीने अपने अन्तिम समय तक अपने श्वेताम्बरगुरु प० भानुचन्द्रजी तथा प० रूपचन्द्रजी आदिके प्रति श्रद्धा ही व्यक्त की है, साथ ही अपने सम्प्रदाय-परिवर्तनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है।)

(बनारसीदासजीके इस विचित्र परिवर्तनके कारण तात्कालिक विद्वानोंने भी उन्हें दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर न कहकर स्वतन्त्र रूपसे एक 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत' का प्रवर्तक कहा है। प० नाथूरामजी प्रेमी लिखते हैं 'सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य यशोविजयजीने बनारसीदासजीके मतको जैसा कि आगे बतलाया गया है 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत' कहा है और महोपाध्याय मेघविजयजीने 'आध्यात्मिक' या 'वाणारसीय' कहा है। उनके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उक्त विद्वान् बनारसीदासजीको दिगम्बर सम्प्रदाय युक्त मानते हुए भी सर्वथा दिगम्बर नहीं मानते थे, बल्कि दिगम्बर सम्प्रदायके एक नये ही पन्थका प्रवर्तक समझते थे।")

ग्यारहवीं शती अर्थात् यवन शासनके समयसे ही दिगम्बर साधुओंका अभाव सा हो गया था और बनारसीदासजीके समय तक तो दिगम्बर जैन साधुओंका आदर्श एक अशक्यानुष्ठान-जैसी बात बन चुकी थी। लोग पुराणोंमें पढ लेते थे परन्तु विचारते यही थे कि कभी रहे होंगे ऐसे साधु, आज तो सम्भव नहीं हैं। बनारसीदासजीके समयमें परिग्रहधारी भट्टारकोंके हाथोंमें ही धर्मकी बागडोर थी। क्रियाकाण्डको ही धर्म घोषित कर दिया था। अध्यात्म-चर्चाको भुला दिया गया था। भट्टारकोंकी बात एक धर्म-वाक्यके रूपमें मानी जाती थी। बनारसीदासजी प्रतिभासम्पन्न कुशाग्र-बुद्धि विद्वान् थे। उनका जैन सिद्धान्तके शास्त्रोंका अध्ययन-मनन भी खूब हो चुका था। वे इस सब मायाचारको शीघ्र ही समझ गये और उन्होंने इस क्रियाकाण्ड और परिग्रहकी मान्यताको एकदम अस्वीकार कर दिया। वे स्वयं आगे आये और जनताके सम्मुख धर्मका वास्तविक स्वरूप रखा।

सामान्यतया प्रत्येक महान् व्यक्ति किसी विशेष धर्ममें दीक्षित होनेपर भी आगे चलकर अपनी उदार वृत्तियोंके कारण एक सामान्य युगधर्मका

अनुयायी हो जाता है। बनारसीदासजीकी भी सात्त्विक वृत्ति इतनी प्रबल हो चुकी थी कि उनकी दृष्टिमें जाति-भेद, छुआछूत, क्रियाकाण्ड आदिका कोई मूल्य न रह गया था। मानव धर्मसे उद्वेलित हो उनकी अन्तश्चेतना बोल उठी—

"मेरे नैनन देखिए घट घट अन्तर राम।

एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मानकर भये एक सौं दोय।
दोऊ भूले भरम में, करें बचन की टेक।
राम राम हिन्दू कहें, तुर्क सलामालेक॥" इत्यादि।

जनश्रुतियाँ

सभी विख्यात महापुरुषोंके सम्बन्धमें कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हो ही जाती हैं। इन सबमें इतना सत्य अवश्य होता है कि वह व्यक्ति एक असाधारण नररत्न था। सभी किंवदन्तियां असत्य हैं अथवा भक्तों-द्वारा अपने श्रद्धेयकी प्रसिद्धिके लिए गढ़ दी गयी हैं ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता और सत्य है यह प्रमाणित नहीं हो पाता अतः स्थिति मध्यकी ही रहती है। यहाँ हमारा कार्य जनश्रुतियोंमें प्रामाणिकता खोजना नहीं है, उनका उल्लेख मात्र करना है जिससे कवि-जीवनकी किसी रूपमें एक और झलक हमें मिल जाये। निम्नस्थ जनश्रुतियाँ आज भी कविके भक्तोंमें प्रचलित हैं—

१ एक समय बनारसीदासजी उपयुक्त भूमि देखकर पेशाब करने बैठ गये। सिपाहीने आकर उन्हें डाटा और एक थप्पड़ भी मार दी। कविवर शान्त भावसे घर चले गये। अगले दिन दरबारमें जब ये सम्राट्के पास ही बैठे थे, वही सिपाही किसी कार्यसे बुलाया गया। उन्हें देखते ही सिपाही अत्यन्त भयभीत हुआ, परन्तु जब वह लौट गया तो बनारसीदासजीने सिफारिश करके उसका वेतन बढ़वा दिया, यह जानकर वह सिपाही सदाके लिए उनका भक्त हो गया।

२ एक बार आगरेमें दो नग्न मुनियोंका आगमन हुआ। सभी व्यक्ति उनके दर्शन करने जाने लगे। बनारसीदासजी परीक्षाप्रधानी थे। जबतक परीक्षा न कर लेते थे किसी मुनिको नमस्कार न करते थे।

दोनों मुनि मन्दिरकी ऊपरकी दहलानमें शास्त्रप्रवचन करते थे।

नीचेसे कवि एक ऐसे स्थानमें खडे हो गये जहाँसे उन्हें दोनो मुनि दिखते थे। वनारसीदासजीने उँगलियाँ दिखा-दिखाकर मुनियोको चिढाना प्रारम्भ कर दिया। मुनियोंने दो-चार बार उपेक्षा करके शान्त भावका परिचय दिया। जब तग आ गये तो क्रुद्ध होकर भक्तोसे जोरसे कहा देखो तो नीचे कुत्ता उपद्रव कर रहा है। भक्तजन शीघ्र ही देखने गये। वनारसी-दासजी मुनिजीकी वात सुनते ही चल दिये थे। भक्तोंने केवल कविवरको ही जाते हुए देखा और किसीको नही और मुनिजीसे निवेदन भी कर दिया कि महाराज नीचे तो कोई नही था, हाँ, प० वनारसीदासजी ही लम्बे-लम्बे पैर रखकर जल्दीसे जा रहे थे। ,मुनि सब बात समझ गये और दो चार दिनमें ही वहाँसे विहार कर गये।

३. 'बाबा शीतलदासजी' नामक सन्यासीका आगरेमें आगमन हुआ। भक्तोंने उनके शान्त स्वभावकी बहुत प्रशसा की। वनारसीजी उनकी परीक्षा लेने चल पडे। थोडी देर तक एक भोले भक्तकी भाँति उनसे बातें करते रहे। चलते समय वावाजीका नाम जानना चाहा। वावाजीने बडी सरलतासे अपना नाम 'शीतलदास' बता दिया।' थोडी देर तक कुछ और बातें करके फिर वनारसीदासजीने वावाजीका नाम पर पूछा और उत्तरमें वही 'शीतलदास' मिला। इसी प्रकार रुक रुककर पूछे जानेपर वावाजीने दो-तीन वार तो सरलतासे उत्तर दिया और फिर झुँझलाकर बोल उठे 'अरे मूर्ख, कह तो दिया शीतलदास, शीतलदास, शीतलदास। यह सुनते ही वनारसीदासजी उठ खडे हुए और बोले, आपका नाम 'ज्वालाप्रसाद' होना चाहिए था। मुझे आपका शीतलदास नाम गुणहीन होनेसे ही तो याद नहीं हो रहा था।

४ सम्राट् जहाँगीरके दरबारमें वनारसीदासजीकी प्रसिद्धिकी चर्चा चली। साथमें यह बात भी उठी कि वे अपने इष्टदेवके अतिरिक्त किसीके सम्मुख नतमस्तक नहीं होते। सम्राट्के सम्मुख उनसे नत होनेको जब कहा गया तो वनारसीदासजीने यह कवित्त तत्काल रचकर सुनाया—

"जगत् के प्रानी जीत, ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ,
आस्रव असुर दुखदानी महाभीम है।
ताकौ परताप खडिवे कौं प्रगट भयौ,
धर्म को धरैय्या, कर्मरोग को हकीम है॥
जाके परभाव आगे, भागे परभाव सब

आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत ।
शुभोपयोग वानर दल मंडित, वर विवेक रन खेत ॥
ध्यान धनुष टकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग ।
भई भस्म मिथ्यामत लका, उठी धारणा आग ॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरे निकांछित सूर ।
जूझे राग द्वेष सेनापति, ससे गढ़ चकचूर ॥
विलखित कुम करण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव ।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतु बन्ध समभाव ॥
मूर्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरण अनुमान ।
घटी चतुर्गति परिणति सेना, छुटे छपक गुणवान । वि०
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन ।
फिरै कबन्ध महीरावण की, प्राणभाव शिर हीन ॥ वि०
इह विधि सकल साधु घट अन्तर, होय सहज सग्राम ।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥ वि०

(बनारसीविलास, पृ० २३३)

तुलसीदासजी बनारसीदासजीके इस काव्य-कौशलसे अत्यधिक प्रभावित हुए और स्वय भी पार्श्वनाथ स्तोत्रके बदलेमें 'भक्ति विरदावली' नामक कविता भेंट की । इसके पश्चात् भी समय-समयपर दोनो विद्वान् एव प्रतिभाभिराम कवियोकी भेंट होती रही ।

७ एक बार एक अत्यन्त कुख्यात चोर बनारसीदासजीके घरमें घुसा । बहुमूल्य वस्तुएँ एक गठरीमें बाँधकर चलनेका प्रयत्न करने लगा, परन्तु गठरी इतनी भारी हो गयी थी कि उससे नही उठ सकी । उसने कई बार उठानेका प्रयत्न किया पर सफलता न मिली । इतनेमें बनारसीदासजी स्वय जाग उठे और वह गठरी स्वय ही उसके मस्तकपर रखवा दी । चोर प्रसन्न होकर गठरी लेकर घर पहुँचा और सारी अद्भुत घटना अपनी माताको सुनायी । माता इस घटनाको सुनते ही बोल उठी, बेटा यह माल बनारसीदासके अलावा किसीका नहीं हो सकता, उसके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नही कर सकता, तू शीघ्र ही हाथ जोडकर यह माल उन्हें लौटा आ । मुझे बहुत दुःख हो रहा है । ऐसे धर्मात्माकी तो हमें सेवा ही करनी चाहिए । चोरने सब धन बनारसीदासजीके चरणोमें रख दिया और क्षमायाचना की ।

८ लाला किशनलालजी जैन आगरेवालाने भी कविवरके सम्बन्धमें एक घटना मुझे सुनायी है। एक बार मन्दिरमें एक सज्जन दधि, घृत तथा दुग्धसे भगवान्‌का अभिषेक कर रहे थे। बनारसीदासजी वहाँ पहुँचे और उस भक्तको केवल जलसे अभिषेक करनेका परामर्श दिया। भक्त बहुत क्रुद्ध हुआ और कविसे विवाद करने लगा। कविवर बनारसीदासजीने बड़ी सरलतासे कहा भई इस अनुचित कार्यका परिणाम तुम्हें शीघ्र ही मिल जायेगा, इसमें विवादसे क्या लाभ है। इतना कहकर वे चले गये। भक्तने अपना कार्य आरम्भ किया ही था कि उसके गालपर किसी दैवी शक्तिसे एक ज़ोरकी थप्पड़ लगी। वह वेदीसे बाहर आया और सारी बात अन्य दर्शनार्थियोंको सुनायी। लोगोंके पूछनेपर उसने बताया कि एक व्यक्ति बड़ी सरलतासे बोलता था, धोती, अँगरखा और मोतिया पगड़ी बाँधे था, कद लम्बा और गोर वर्ण था, उसीने मुझे इस कार्यसे रोका था। लोग एक ही स्वरमें बोल उठे वे तो प० बनारसीदास ही हो सकते हैं।

९ प० बनारसीदासजीके देहावसान समयके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रचलित है। यद्यपि कविवरके देहोत्सर्ग समयके सम्बन्धमें आजतक प्रामाणिक ढंगसे कुछ नहीं कहा जा सका है, फिर भी यह (सन्दिग्ध-प्रामाणिकता) किंवदन्ती एक हलकी प्रकाश-रश्मि अवश्य ही उक्त विषयपर छोड़ती है। अबतक जिन एक-दो विद्वानोंने कविवरके मृत्यु-कालपर विचार किया है उन्होंने भी इसी किंवदन्तीका आश्रय लिया है।

कहते हैं अन्त समयमें बनारसीदासजीका कण्ठ अवरुद्ध हो गया अत वे बोलनेमें असमर्थ थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी मृत्यु अति निकट है अत वे ध्यानावस्थित हो गये। लोगोंने समझ लिया कि अब वे दो-चार घण्टोंके ही मेहमान हैं। जब समय अधिक टल गया और प्राणान्त न हुआ तब लोगोंने मनमानी कल्पनाएँ करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ लोग कहने लगे इनके प्राण कुटुम्बीजनोंके मोहमें अटक रहे हैं। कुछने कहा इन्होंने जीवन भर धनके लिए दौड़ धूप की है और उसे कम ही पा सके हैं अत आज भी इनके प्राण उसीमें अटक रहे हैं। इनके आगे जबतक दौलतकी गठरी न होगी इनके प्राण नहीं निकलेंगे। इस विचारपर प्राय सभीने हाँ कहा। किसीने भी इसे अनुचित नहीं बताया। कविवर लोगोंकी इन मूर्खतापूर्ण धारणाओंसे विचलित हो उठे पर शक्तिहीन इतने थे अत बोल तो न सके किन्तु एक लेखनीके लिए लोगोंको संकेत किया। बड़े

प्रयत्नके पश्चात् लोग कविवरके सकेतको समझ सके। लेखनी पाकर कवि-
ने दो छन्द रच दिये। उन्हें पढकर लोगोंको धारणा एकदम बदल गयी
और कविवरको एक शुद्ध हृदयवाला धर्मात्मा और विद्वान् मानकर सभी
व्यक्ति उनकी आवश्यक परिचर्यामें लीन हो गये।

छन्द थे—

"ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनन्त सु सोहना॥
जा पर जै को अन्त, सत्य कर मानना।
चले बनारसिदास, फेर नहिं आवना॥"

समकालीन विख्यात कवियोंसे मैत्रीपूर्ण सम्पर्क

हिन्दी साहित्यके भक्तियुगकी १७वीं शतीमें इस साहित्यके चोटीके
कवि तुलसीदासजी, केशवदासजी, मीरा, सुन्दरदासजी आदि हुए। इसी
शतीके हमारे चरितनायक कविवर बनारसीदासजी भी हुए थे। कविवरका
सम्पर्क अपने समकालीन सभी कवियोंसे अवश्य ही रहा होगा, परन्तु
प्रामाणिक रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। (महाकवि तुलसीदासजी और
महात्मा सुन्दरदासजीसे बनारसीदासजीका सम्पर्क रहा है इस सम्बन्धमें
विद्वानोंने अबतक स्वीकृति दी है अथवा वे मौन रहे हैं, अस्वीकृति कहीं
नहीं आयी है।) बनारसीदासजीने तो कहीं इन कवियोंका नामोल्लेख भी
नहीं किया और ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवियोंकी मिलकर भी वे चर्चा कहीं न
करते इसपर सहसा विश्वास नहीं होता। सम्भव है उक्त कवियोंसे साम-
यिक सम्पर्क रहा हो, एक दूसरेके वे प्रशसक भी रहे हों परन्तु अपनी रच-
नाओंमें अप्रासंगिक नामोल्लेख उन्हें रुचिकर न लगा हो अत. नहीं किया
हो। यह भी सम्भव है कि उक्त कवियोंसे कविका परिचय कई वर्षोंमें एक-
दो बार ही हुआ हो और कविताका क्षेत्र चूँकि दोनोंका प्राय स्वतन्त्र था
अत एक दूसरेका नामोल्लेख न कर सके हों, अस्तु हम यहाँ कुछ साम्य-
सूचक रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं जो न केवल भावोंकी दृष्टिसे ही समान हैं
बल्कि भाषा और शैलीकी भी अद्भुत एकरूपता भी उनमें प्राप्त होती है।
जीवनकी परिस्थितियाँ भी पर्याप्त मात्रामें मेल खाती हैं। इस सबको
विद्वान् परखें और जैसा उचित समझें, मानें।

स्थिति-साम्य

कवि तुलसीदासजीका सवत् १६८० में देहान्त हुआ था, उस समय

उद्देश्य महान् थे और महानता अन्तिम रूपमें एक हो जाती है। कुछ स्थल अवश्य ही दोनोमें ऐसे हैं जो अत्यन्त समान प्रतीत होते हैं।

दोनोमें भाव और भाषाका साम्य देखिए —

तुलसीदासजी

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिह मह अति दारुण दुखद माया रूपी नारि॥"

बनारसीदासजी

"माया छाया एक है, घटै बढै छिन माहिं।
इनकी संगति जे लगें, तिनहिं कहीं सुख नाहिं॥
ज्यों काहू विषधर डसें, रुचि सों नीम चवाय।
त्यों तुम माया सों मढे, मगन विषय सुख पाय॥"

महामारी रोगका दोनोका अनुभव कवितावद्ध है, मार्मिक है। दोनोने सरस्वती-वन्दना की है जिसमें भारी साम्य है।

बनारसीदासजी

"सुधा धर्म ससाधनी धर्मशाला,
सुधा ताप निर्नाशिनी मेघमाला।
महा मोह विध्वंसनी मोक्षदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैन वाणी।" इत्यादि

गोस्वामीजी

"यहै सरस्वती हंसवाहिनी प्रकट रूप,
यहै भव भेदिनी भवानी शंभु घरनी।
यहै ज्ञान लाछन सों लच्छमी विलोकियत,
यहै गुन रतन भंडार भार भरनी॥"

इसी प्रकारके और भी कई साम्य स्थल दोनो ही कवियोंमें देखे जा सकते हैं।

दोनो ही अपने-अपने इष्टदेवोके अनन्य भक्त थे। अलंकार-विधानमें दोनोंने ही प्रमुख रूपसे अनुप्रास, रूपक, श्लेष, उपमा आदिका प्रयोग किया है।

सन्त सुन्दरदासजीसे समागम

सन्त सुन्दरदासजीका जन्म समय विक्रम सवत् १६५३ और मृत्यु-काल सवत् १७४६ है। बनारसीदासजीका जन्म-सवत् १६४३ है अत इन दोनो सन्तोका समागम होना सम्भव है। दोनो ही कविवरोको बडी घनिष्ठता थी, समय-समयपर मिलते थे। परस्पर पद्योका आदान-प्रदान भी हुआ था। दोनो ही सन्तोके काव्यमें अद्भुत साम्य (भाषा, भाव और शैलीकी दृष्टिसे) परिलक्षित होता है। सुन्दर ग्रन्थावलीकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकामें पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० लिखते हैं —[1]"अपने सम्प्रदायके साधु-सन्तोके अतिरिक्त आगरेमें कवि बनारसीदासजी जैन, काशीमें महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी, महाकवि केशवदासजी, महाकवि रायसुन्दरजी, पजाबके कविश्रेष्ठ सिक्ख कवि भाई गुरुदासजी आदिक समकालीन थे।" पुरोहितजी आगे लिखते हैं —

[2]"प्रसिद्ध जैन कवि महात्मा बनारसीदासजीके साथ सुन्दरदासजीकी मैत्री थी। सुन्दरदासजी देशाटनमें जब आगरे गये तब ही बनारसीदासजी आदिकोंके साथ समर्ग हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासजीकी योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारोंसे मुग्ध हो गये थे, तब ही उनकी श्लाघा मुक्त कण्ठसे उन्होंने की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदासजी भी तो थे। इनके गुणोंसे सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये तब ही वैसी अच्छी प्रशसा उन्होंने भी की थी। परस्पर हिन्दी भाषाके दो सुयोग्य कवियों और त्यागियोंका यह प्रेम सत्सग, स्तवन और सद्भाव मनपर कितना गहरा प्रभाव डालनेवाला है। इसको साधु, सत्सगतिके स्वादको जाननेवाले पुरुष सहज ही अवगत कर सकते हैं। अपने समयके बनारसीदासजी भी अद्वितीय कवि और ज्ञानी थे। नाटक समयसारमें [3]'कीच सो

१ 'सुन्दर ग्रन्थावली' पृ० ५६ प्रथम खण्ड, स० पुरोहित हरिनारायण शर्मा।

२ वही, पृ० ६८–६६।

३. कीच सो कनक जाकै नीच सौ नरेस पद,
मीच सी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जाहर सी जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहर सी हौंस, पुद्गल छवि छारसी॥
जाल सौ जग विलास, भाल सौ भवन वास,
काल सौ कुटबकाज लोक लाज लारसी।
सीठ सौ सुजास जाने बीठ सौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि बदत बनारसी॥ बन्धद्वार १६।

'नाटक समयसार' में नियति और हस्ताक्षर छन्द, सवैया मात्रिक और वर्णिककी चाल-ढाल सुन्दरदासजीसे मिलती-जुलती है। अडिल्ल छन्द और 'आत्मा ही राम है' वाला छन्द यथा—

"जैसे बनवारी में कुधातु के मिलाप हेम,
नाना भांति भयो पै तथापि एक नाम है।
कसि के कसौटी लीक निरखै सराफ ताहि,
बान के प्रमान करि लेतु देतु दाम है॥
वैसे ही अनादि पुद्गल सों संयोगी जीव,
नव तत्त्व रूप में अरूपी महाधाम है।
दीसे उनमान सों उद्योत वान ठौर-ठौर,
दूसरो न और एक आत्मा ही राम है॥ ६०॥"

तथा—"वरनादिक रागादि जड़, रूप हमारो नाहिं।
एक ब्रह्म नहि दूसरो, दीसै अनुभव माहिं॥" इत्यादि

तथा—"ऐसो सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयो,
ताको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भग्यो भान सों॥" (अ०३।५ में)

तथा—"पानी की तरंग जैसे पानी में गुडूप है।" (अ० ८।४९ में)
पुनश्च—"यह मन चंग तो कठौत माहि गंग है।" (अ० ८।४९ में)
इत्यादि।

इसी प्रकार परस्पर सभी दृष्टियोंसे मेल खानेवाले दोनों ही सन्तोंके अनेक छन्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

आज दुर्भाग्यसे अदालती ढंगसे हम भले ही यह न कह सकें कि ये दोनों सन्त परस्पर मिले थे और आदान-प्रदान भी किया था, परन्तु किंवदन्तियाँ भी सभी मिथ्या होती हैं यह भी कैसे कहा जा सकता है। सच्चे भक्त भी अपने श्रद्धेयको गलत बातोंसे बचाते ही हैं। फिर यह अपार साम्य कैसे भुलाया जा सकता है। अब विद्वान् आलोचक ही निर्णय करें कि वास्तविकता क्या हो सकती है।

महाकवि तुलसीदासजी और सन्त सुन्दरदासजीके बनारसीदासजीके साथ समागमकी चर्चा करके हमारा उद्देश्य एक-दूसरेके महत्त्वको बढ़ाना

कदापि नहीं और वह वास्तवमें बताना भी नहीं है, वे सभी स्वयं महान् थे। हमारा उद्देश्य केवल यही है कि ये समकालीन विद्वान् किस प्रगाढ स्नेह-भावसे एक-दूसरेसे मिले होंगे और एक दूसरेकी प्रतिभासे परिचित हुए होंगे।

रचनाएँ

कविवर बनारसीदासने कई सुन्दर पद्यबद्ध ग्रन्थ रचे जो उनकी काव्य-प्रतिभा और ज्ञान-गरिमाको आज भी द्योतित कर रहे हैं। गद्य यद्यपि थोड़ा-सा ही लिखा है, परन्तु कविवरकी गद्य-निबन्धन-पटुताका तो वह परिचायक है ही। यहाँ कविकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जा सकेगा। अग्रिम अध्यायमें प्रत्येक रचनापर सविस्तार विचार होगा।

१ नवरस

बनारसीदासजीकी यह सर्वप्रथम रचना थी। इसमें नव रसोंपर सुन्दर एवं ललित एक हजार पद्य थे। इसकी रचना कविने अल्पवयमें अर्थात् वि० सं० १६५७ में जब कि वे केवल १४ वर्षके थे, की थी। कविवरने लिखा है सामान्यतया इसमें सब रसोंपर चर्चा है— "पै विसेस बरनन आसिखो"। दुर्भाग्यसे कविने संवत् १६६२ में इस रचनाको गोमतीमें जलसमाधि दे दी। वे स्वयं लिखते हैं —

पोथी एक बनाइ नई, मित हजार दोहा चौपई ॥१७८॥
तामैं नवरस रचना लिखी, पै विसेस बरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसी भये, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नये ॥१७९॥

सारकी रचनाओंमें क्रमशः वर्धमान विज्ञता, काव्य-प्रौढ़ता एवं समुन्नत प्रतिभा परिलक्षित होती है। मोह-विवेकयुद्धका भावालालित्य, भावोंकी स्वाभाविक उठान तथा शैलीकी प्रवाहपूर्णता उसे कविकी प्रारम्भिक रचना सिद्ध करते हैं। इस रचनाके समय कविवरकी अवस्था लगभग २३-२४ वर्षकी रही होगी। यही उनकी विषय-विरतिका भी समय है।

उक्त रचना ११० छन्दोंमें पूर्ण हुई है। इसकी प्रामाणिकता आदिपर विशेष चर्चा तृतीय अध्यायमें की जायेगी।

(इस रचनाको बनारसीदासजीकृत माननेमें नाथूरामजी प्रेमीको आपत्ति है, इसके लिए उन्होंने कई युक्तियाँ भी दी हैं। समर्थ शोधक अगरचन्द नाहटा-जैसे विद्वानोंने इसे बनारसीदासकृत ही माना है और अनेक युक्तियों-द्वारा इसका समर्थन भी किया है) अग्रिम अध्यायमें, जो रचनाओंकी सविस्तार चर्चाके लिए ही है, इसपर विचार होगा।

२ बनारसी-नाममाला

जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है ऐसी उपलब्ध कृतियोंमें बनारसीदासजीकी नाममाला सर्वप्रथम है। यह एक हिन्दीमें लिखा गया पद्यबद्ध शब्दकोष है। इसमें १७५ दोहे हैं। ये दोहे अत्यन्त सुबोध हैं।[1] अपने घनिष्ठ मित्र नरोत्तमदास और थानमलके आग्रहपर कविवरकी इस रचनामें प्रवृत्ति हुई थी।[2] बनारसीदासजीके इस नामक सम्बन्धमें लिखे गये एक दोहेसे यह स्पष्ट होता है कि इसमें २०० छन्द[3] थे, पर प्राप्त प्रतिमें १७५ दोहे ही हैं। (इस सम्बन्धमें प्रेमीजी लिखते हैं—[4]"जान पड़ता है कि कविने उक्त दो सौकी संख्या बत्तीस अक्षरोंका एक श्लोक मानकर ही रखा है। प्रत्येक दोहेमें बत्तीस अक्षरोंसे कुछ अधिक ही अक्षर हैं। इसके रचनाकालके सम्बन्धमें बनारसीदासजीने स्वयं ही लिखा है—)

> "सोरह सै सत्तरि समै, आसौ मास सित पच्छ।
> विजै दसमि ससिवार तट, स्रवन नछत्र परतच्छ ॥१७१॥"
>
> —नाममाला

---

[1] प्रेरणा स्रोत—मल्ल, लालदास, गोपालके मोह विवेकयुद्धको 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटकसे प्रेरणा, बनारसीदासको इनसे प्रेरणा।

[2] मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि।
तास वचन परवान कियौ निबन्ध विचार मन ॥१७०॥ —नाममाला।

[3] करी नाम माला सै दोइ, राखे अजित छन्द उर पोइ ।६०७। 'अर्धकथा'।

[4] 'अर्धकथानक' पृ० २८, सं० नाथूराम प्रेमी।

अर्थात् जो आश्विन शुक्ला दशमी सोमवार संवत् १६७० में जौनपुर-में पूर्ण हुई।

कविने रचनाके प्रारम्भ और अन्तमें अपने गुरु भानुजीका उल्लेख किया है।

प्रेरणा-स्रोत

"मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि।
तास वचन परवान, कियौ निबन्ध विचार मन ॥"

से ही स्पष्ट है कि अपने मित्र नरोत्तमदास खोबरा और थानमल बदलिया-की प्रेरणासे ही कविवर बनारसीदासने यह कार्य किया। (रचनाका आकार-प्रकार देखकर यह भी स्पष्ट-सा झलकता है कि बनारसीदासजीने अपनी रचनाका आधार या प्रेरणा-स्रोत महाकवि धनंजयकृत 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला' को चुना था। उक्त दोनों ग्रन्थोंके सम्मुख रहनेपर भी बनारसीदासजीने यह रचना पूर्ण स्वतन्त्र रूपसे की है। उनकी शैली और शब्द-गठनकी मौलिकताके साथ साथ प्राकृत और हिन्दीके शब्दोंका आव-श्यक मेल भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह रचना इतनी सरल और स्पष्ट है कि सहजमें ही कण्ठ की जा सकती है।)

४ नाटक-समयसार

यह एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक रचना है। बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओंमें यह रचना सर्वाधिक लोकप्रिय है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें इसकी भारी मान्यता है। आत्मतत्त्वकी इतनी स्पष्ट विवेचना अन्यत्र दुर्लभ है। संसारके अन्त बाह्यका वास्तविक दिग्दर्शन कराते हुए आत्माकी शुद्धातिशुद्ध अवस्थाका निरूपण अत्यन्त स्पष्टता, युक्तियुक्तता तथा प्रांजलताके साथ कविने किया है।

(इसमें ३१० दोहा—सोरठा, २४५ सवैया इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ सवैया तेईसा, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं। समस्त छन्द ७२७ हैं। इस कृतिमें बनारसीदासजीने भावोंके पात्र खड़े किये हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व ही अभिनय करनेवाले पात्र हैं। भावोंका नाटकीय ढंगसे चित्रण करनेके कारण ही इस कृतिके नामके साथ नाटक शब्द जोड़ा गया है। समयसार शब्द आत्मतत्त्व स्वयंके लिए है।)

उत्तमता सिद्ध करती है। अपनी भूलों, त्रुटियों और असफलताओंका वर्णन जितनी सीधी और स्पष्ट भाषामें कविने किया है उसे देखकर पाठक उनकी मानस-निश्छलताके सम्मुख नत हुए बिना नहीं रहता।

इस कृतिमें कविकी आत्मकथा तो प्रमुख रूपसे है ही, यथावसर ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थितिके भी ऐसे उल्लेख कविने दिये हैं जिनसे आज भी इतिहासके कलेवरमें एक सुन्दर अध्याय और जोडा जा सकता है।)

रचनाकी प्रेरणा

बनारसीदासजीने स्वतः प्रेरणासे ही यह रचना लिखी थी—वे लिखते है—

"बनारसी बिहोलिया, अध्यातमी रसाल ॥६७१॥
ताके मनु आई यहु बात, अपनौ चरित कहौं विख्यात।
तब तिनि बरष पच पचास, परमिति दसा कही मुखभास॥६७२॥

बाबर और जहाँगीरनामा कविके पूर्व ही लिखा जा चुका था, अतः अवश्य ही इससे प्रेरणा मिली थी।

रचना-काल—अगहन शुक्ला पचमी सोमवार सवत् १६९८ में आगरेमें यह कृति पूर्ण हुई।

सोलह सै अट्ठानवै, सवत् अगहन मास।
सोमवार तिथि पचमी, सुकल पक्ष परगास ॥६७०॥

६. बनारसी-विलास

कविवर बनारसीदासजीने पूर्वोक्त रचनाओंके अतिरिक्त बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी की थीं। इन रचनाओंकी सख्या अभी निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती, क्योंकि अभी जैन शास्त्रभण्डारोंकी खोज बाकी है और इनमें कविवरकी कुछ और स्फुट रचनाएँ मिलनेकी सम्भावना है। कविवरकी रचनाओंके सग्रहकर्ता प० जगजीवनजीने चैत्र सुदी २ वि०स० १७०१ को यह सग्रह किया था और उन्होंने इस सग्रहको यह नाम दिया था। इसमें एक छन्द-द्वारा ५७ रचनाओंका उल्लेख है और वे सभी रचनाएँ इसमें है। (इन रचनाओंके अतिरिक्त ३ पद प० नाथूराम प्रेमीको और दो पद प० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एम० ए० को कविवरके और मिले हैं। इन पाँच पदोंको भी कासलीवालजीने स्वसम्पादित बनारसी-

विलासमें दे दिया है। अत अवतक कुल ६२ फुटकर रचनाएँ इसमें हैं।)

इस सग्रहमें समय समयपर कवि द्वारा रचित विविध विषयोकी विविध छन्दोमें विविध रचनाएँ है। इन रचनाओको विषयकी दृष्टिसे हम निम्न भागोमें विभक्त कर सकते हैं—

१ धार्मिक कविताएँ, २ आध्यात्मिक कविताएँ, ३ अनूदित कविताएँ और ४ उपदेशप्रद कविताएँ।

(कविवर बनारसीदासजीने जितनी स्फुट रचनाओंका उल्लेख किया है उन सबके अतिरिक्त 'कर्म प्रकृति विधान' नामक रचनाका भी, सग्रहकर्ताने सग्रह कर दिया है अत कोई विशेष रचना छूटनेकी सम्भावना नहीं है।)

७ बनारसी-पद्धति

स्व० बाबा दुलीचन्दजी-द्वारा सग्रहीत ग्रन्थोकी सूची (जैन शास्त्र नाममाल) में 'बनारसी-पद्धति' नामक एक ग्रन्थका नाम दिया गया है जिसकी श्लोक सख्या ५०० लिखी है। इसकी सम्भावनाओपर कई प्रकारसे विचार हो चुका है परन्तु यह कृति प्राप्त कृतियोका अंश सिद्ध नही होती। कोई स्वतन्त्र रचना ही हो सकती थी। विद्वानोने इसे खोजनेका बहुत प्रयत्न किया है परन्तु आज ५० वर्षके लगभग हो जानेपर भी यह कृति नही मिली है। एकमात्र यही सम्भावना प्रवल मात्रामें विद्वानोको मोहित और लालायित किये हुए है कि कही कविकी यह शेष जीवनी न हो। परन्तु जैसी कविकी मृत्युके सम्बन्धमें १७०० की प्रेमीजोकी धारणा है, यदि उसका सवत् उसी रूपमें मान लिया जाये तब तो जीवनीका प्रश्न उठता ही नही है, क्योंकि १६९८ में तो अर्धकथानक समाप्त हो हुआ था, भला दो वर्षमें वे लिखते भी क्या!

दुर्भाग्य है कि आज वह रचना प्राप्त नही है अन्यथा कुछ प्राणवान् विचार भी हो पाता।

बनारसीदासजीकी जन्मभूमि

कविवरकी जन्मभूमि जौनपुरमें आज जैनोकी सख्या बहुत कम है। बनारसीदासजीके सम्बन्धमें क्या जैन क्या जैनेतर कोई भी व्यक्ति किसी प्रकारकी सूचना नहीं देते हैं। लोगोको यह भी ज्ञात नहीं है कि एक सुयोग्य कवि एव विद्वान्ने कभी जौनपुरको अलकृत किया था। दो चार

लोग ही ऐसे मिलते हैं जो नाम लेने-भरमें अपना गौरव समझते हैं। लोगों-के इस प्रकार अपरिचित रहनेका एक प्रमुख कारण यह भी है कि जौन-पुरसे धनी-मानी लोगोंको कविवरके समयमें नवाबोंके अत्याचारोंके कारण कई बार भागना भी पड़ा था। इसमें जैनोंकी और अन्य वर्गोंके धनाढ्यो-की सख्या भी बहुत कम हो गयी। फिर बनारसीदासजीका अधिक समय अन्य स्थानोमें और एक लम्बा समय आगरामें व्यतीत हुआ अत जौनपुरमें पूरा बाल्यकाल भी मुश्किलसे बीत सका था।

मकान और मुहल्लाका पता तो असम्भव ही समझना चाहिए जबकि नाम लेनेवाले कम हैं।

देहावसान-समय

प० बनारसीदासजीने अर्धकथामें अपने ५५ वर्षके जीवनका उल्लेख किया है और यह बडी आशाके साथ लिखा है कि मनुष्यकी आयु ११० वर्षकी इस समय सम्भव है अत यह मेरा अर्धकथानक है। शेष फिर लिखूँगा। इससे तो वे अपने जीवनके प्रति बडे उत्साही और आशावादी प्रतीत होते हैं। अर्धकथानक १६९८ मे समाप्त हुआ था। कविवरकी अन्तिम रचना 'कर्म प्रकृति विधान' है। यह फाल्गुन सुदी सप्तमी सवत् १७०० को समाप्त हुई थी। इसके पश्चात्की उनकी कोई भी रचना आज तक प्राप्त नही हुई है। बनारसी विलासका सग्रह चैत्र शुक्ला दोज स० १७०१ को प० जगजीवनजीने किया था। स्पष्ट है कि कर्म प्रकृति विधानके ठीक २५ दिन बाद यह सग्रह किया गया था। (किसी व्यक्तिकी रचनाओंका सग्रह और इतनी शीघ्रताके साथ अवश्य ही किसी बहुत-बडे कारणसे होता है। सम्भव-सा लगता है कि इसी बीच बनारसीदासजीका देहावसान किसी गहरी अस्वस्थताके कारण हो गया हो।)

यद्यपि कविवरका देहान्त-समय अद्यावधि अनिश्चित है तथापि एक जनश्रुति जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं वह भी (जिसपर हम विश्वास करें या नही) उक्त निष्कर्ष ही हमें देती है।

यदि १७०० के पश्चात् कविवरका अस्तित्व रहा होता तो उनकी प्रौढ प्रतिभासे हमें अवश्य ही कुछ उज्ज्वल कविताएँ और प्राप्त होती।

उनके समकालीन किसी कविने उनके सम्बन्धमें कुछ भी नही कहा है अत बाहरसे भी इस सम्बन्धमें हमें निराशा ही मिलती है।

उनमें मुक्तको-द्वारा अपनी भावोर्मियोको प्रकट करनेकी भी भारी क्षमता है। 'बनारसीविलास' में हम कविवरके इसी मुक्तकमय उन्मुक्त रूपके दर्शन करते हैं। इस सग्रहके अधिकाश मुक्तक पाठकको अक्षय जीवन-सुरभिसे आभरित कर देनेवाले हैं। कविवरकी आत्मकथाकी प्रबन्धोत्कृष्टता एवं शालीनता तो आज सर्वविदित है ही। प्रस्तुत अध्यायमें आपकी सभी रचनाओका विस्तृत अध्ययन किया जायेगा।

बनारसीदासजीके नामसे प्रचलित रचनाएँ—नाममाला, समयसार, बनारसीविलास, अर्धकथानक, मोहविवेकयुद्ध एव नवरसपद्यावलि हैं। इनमें-से 'मोहविवेक युद्ध'पर ही विद्वानोका सर्वाधिक मतभेद रहा है। कतिपय विद्वान् इसे बनारसीदासकृत मानते हैं और कुछ आलोचक नहीं। इसपर इसी अध्यायमें विचार होगा। 'नवरस पद्यावलि' को तो कविने अपने ही समयमें स्वयं उसके अतिशृगारिक वर्णनोसे ऊबकर गोमती नदीकी भेंट चढ़ा दी थी अत. उसकी प्राप्तिका प्रश्न ही नही उठता है। कविकी अन्य रचनाएँ आज प्राप्त हैं।

नाममाला

बनारसीदासजीकी प्राप्त रचनाओमें 'नाममाला' सबसे पूर्वकी है। इसकी समाप्ति आश्विन सुदी १०, सवत् १६७० को हुई थी।[1] अपने परममित्र नरोत्तमदास खोबरा और थानमल खोबराकी प्रेरणासे कविकी प्रवृत्ति इस रचनामें हुई थी। यह हिन्दी पद्य-बद्ध शब्दकोश १७५ दोहोमें है। बनारसीदासजीकी यह रचना मौलिक नही कही जा सकती, हाँ इसकी साज-सज्जा, व्यवस्था, शब्दयोजना तथा इसमें लोक-प्रचलित शब्दोकी योजनाके कारण उनकी आशिक मौलिकताके दर्शन इसमें होते हैं। रचना मौलिक नही है परन्तु मौलिक ढगसे लिखी गयी है। यह नाममाला प्रसिद्ध कवि धनजयकी सस्कृत नाममाला और अनेकार्थ कोषके आधारपर रची गयी है। यद्यपि बनारसीदासजीकी नाममाला उक्त नाममालाओका

१ मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि (धन)।
ताम्रु वचन परवान, कियौ निबन्ध विचार मन ॥१७०॥
सोरह सौ सतरि समै, असोमास सित पच्छ।
बिजै दसमि ससि वार तह, स्रवन नखत परतच्छ ॥१७१॥
दिन-दिन तेज प्रताप जय, सदा अखण्डित आन।
पात साह किर नूरदी, जहाँगीर सुल्तान ॥१७२॥

धनजय और बनारसी नाममालाके कुछ उद्धरणोसे स्पष्ट हो जायेगा कि इन दोनोमें कितना साम्य है—

आकाशके नाम

(धनजय) खं विहायो वियद् व्योम गगनाकाशमम्बरम् ।
द्यौर्नभोऽभ्रोऽन्तरिक्ष च मेघवायुपथोऽप्यथ ॥५३॥

(बनारसी) पुहकर गगन विहाय नभ, अन्तरिक्ष आकाश ।

बनारसीदासजीने नाटक समयसारमें भी आकाशके नाम दिये हैं—

खं विहाय अम्बर गगन, अन्तरिक्ष जगधाम ।
व्योम नियत नभ मेघपथ, ये अकाश के नाम ॥

सूर्य नाम

(धनजय) तरणिस्तपनो भानु-ब्रध्न-पूषाऽर्यमा रवि. ।
तिग्म पतङ्गो द्युमणिर्मार्तण्डोऽर्को ग्रहाधिप ॥४९॥
इन. सूर्यस्तमोध्वान्त तिमिरारिर्विरोचन ।
दिन दिवाहर्दिवसो वासरस्तत्करश्च स ॥५०॥
चक्रवाकाऽब्जपर्यायबन्धुकुमुदविप्रिय ।
यमुनायमकानीनजनक सविता मत ॥५१॥

(बनारसी) सूर विभाकर धामनिधि, सहस किरन हरि हंस ।
मार्तण्ड दिनमनि तरनि, आदिति आतप अंस ॥३९॥
सविता मित्र पतग रवि, तपन हेलि भगमान ।
जगत विलोचन कमल हित, तिमिर हरन तिगमान ॥४०॥

वाण नाम

(धनजय) शिलीमुख. शरो बाणो मार्गणो रोपण कण ।
इषु काण्ड क्षुरप्रं च नाराच तोमरं खग ॥७८॥

(बनारसी) सरसायक नाराच खग, बान सिलीमुख कण्ड ॥१४१॥

इन चार प्रकारके नामोंके उद्धरणोंके देखनेसे स्पष्ट पता चलता है कि दोनोंमें कोई साम्य नही है। नामोकी सख्या और क्रम भी स्वतन्त्र हैं। अत यह कहना न्यायसगत नही होगा कि बनारसीदासजीने अनुवाद मात्र किया है। यही कहा जा सकता है कि कवि अपने पूर्वाचार्य धनजयसे प्रभावित अवश्य रहे और उनपर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष रूपसे देखा भी जा सकता है। अनेक नामोके साथ कविवर बनारसीदासने अपने समयमें प्रच-

उपयोगी एव लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इसमें अन्तिम ४६ श्लोक अनेकार्थक शब्दोके लिए है। ये ४६ पद्य तो वास्तवमें सस्कृत साहित्यके रत्न हैं। बहुधा लोग एक शब्दके एक या दो अर्थोको जानते हैं और जब वे शब्द किसी तीसरे ही अर्थमें प्रयुक्त हो जाते हैं तो उनकी बुद्धि और पाण्डित्य-को लज्जित होना पडता है। इस लज्जासे बचनेके लिए और स्वयका ज्ञान समृद्ध करनेकी दृष्टिसे ये ४६ श्लोक बडे उपयोगी है। उदाहरणार्थ एक-दो विविधार्थक शब्दोके पद्य प्रस्तुत है—

गो शब्द ११ अर्थोमें प्रयुक्त होता है देखिए—

[1]"वाचि वारि पशौ भूमौ, दिशि लोम्नि पवौ दिवि।
विशिखे दीधितौ दृष्टावेकादशसु गौर्मतः ॥२६॥"

गो शब्दके वाच् (बोली), वार् (पानी), पशु, भूमि, दिशा, लोमन् (रोम), पवि (वज्र), दिव् (आकाश), विशिख (बाण), किरण और दृष्टि ये ११ अर्थ हैं।

इसी प्रकार हरि शब्दके भी अनेक अर्थ देखिए—

"चन्द्रे सूर्ये यमे विष्णौ वासवे दर्दुरे हये।
मृगेन्द्रे वानरे वायौ दशस्वपि हरिः स्मृतः ॥ २७ ॥"

अर्थात् चन्द्र, सूर्य, यम, विष्णु, इन्द्र, दुर्दुर (मेढक), घोडा, सिंह, बन्दर और वायु ये १० अर्थ हैं।

बारहवी शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रने हेमलिंगानुशासनकी रचना की। इससे विद्यार्थी और विद्वान् आज भी लाभ ले रहे है। इसमें शब्दोके लिंग निर्णयका सुन्दर एव विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। यद्यपि मूलत यह एक व्याकरणका ग्रन्थ है परन्तु इसके द्वारा शब्दोकी एक विस्तृत एव सुलझी हुई परम्परा और व्यवस्थाके दर्शन होते है अत इसे हम कोपकी श्रेणीमें भी आशिक रूपसे रख सकते हैं।

इन सस्कृत कोषोके अतिरिक्त इस भाषामें फिर किसी कोपकी रचना नहीं हुई।

हिन्दीमे शब्दकोषोकी परम्परा

हिन्दीमें सबसे पहला पद्यबद्ध शब्दकोष कविवर नन्ददासका मिलता

१ 'धनजय नाममाला', (अनेकार्थ नाममाला) २६।

कई लाख शब्दप्रमाण कोषोकी रचना हो चुकी है। इस शताब्दीके प्रारम्भमें 'गौरी नागरी कोश', 'मगल कोश' आदि दो-चार लघु कोश ही मिलते थे जो उस समय किसी प्रकार हिन्दीकी पूर्ति कर रहे थे। हिन्दीमें विस्तृत, व्यवस्थित एव कलापूर्ण कोश-निर्माणका कार्य सर्वप्रथम काशी नागरी प्रचारिणी सभाने सन् १९०९ में आरम्भ किया और बीस वर्षोंमें उसने 'हिन्दी शब्द सागर' मुद्रित करके हिन्दी जनताके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। यह कोष हिन्दी-भाषी जनताके लिए आदर्श एव सर्वश्रेष्ठ था। भारतीय भाषाओमे भी अपने ढगका यह पहला शब्दकोश था। जहाँ इसकी इतनी प्रसिद्धि जनता में हो रही थी वहाँ इसके सम्पादक मण्डलके प्रमुख व्यक्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एव श्री रामचन्द्र वर्मा स्वय ही त्रुटियोका भी अनुभव कर रहे थे। आगे चलकर वर्माजीने सवत् २००७ में प्रामाणिक हिन्दी कोश अत्यन्त व्यवस्थित रूपसे प्रस्तुत किया। इसमें 'हिन्दी शब्द सागर' को छापे-सम्बन्धी एव क्रम-सम्बन्धी सभी भूलोका ध्यान रखा गया। नालन्दा शब्दकोष भी सुन्दर रूपमें प्रकाशित हो गया है, और भी कई हिन्दी कोष प्रकाशित हुए है। इस प्रकार हिन्दीमें कोषोकी भव्य परम्परा आज भव्यतर ही हो रही है।

प्रणालियाँ

शब्दकोषोंके इतिहास और परम्परापर दृष्टिपात करते समय उनकी विभिन्न रचना-प्रणालियोपर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। कोषकारोकी रचना-शैलियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। सस्कृतके शब्दकोषोकी रचना-प्रणाली पद्यात्मक ढगसे वस्तुओके विविध नाम गिनानेकी रही है। कही-कहीं शब्दोके लिंगादिकका भी सकेत कर दिया गया है।

स्वर्गके नाम—[1]"स्वरव्यय स्वर्ग नाक त्रिदिव-त्रिदशालया ।
सुरलोको द्यो-दिवौ द्वे स्त्रिया क्लीबे त्रिविष्टपम् ॥"

सस्कृत कोषकारोंने अकारादि क्रमसे अपने कोषोकी रचना नहीं की। इससे पाठकको किसी शब्दका अर्थ जाननेके लिए या तो शब्दकोष कण्ठ करना पडा है या कोष सागरमें अनेक गोते लगाकर उसे खोजना पडा है या किसी विद्वान्को (जिसे सम्पूर्ण कोष कण्ठस्थ रहा हो) शरणमें जाना पडा है। आज भी सस्कृत पढनेवाले छात्रोको अमरकोष कण्ठस्थ करना पडता है। एक वस्तुके अनेक पर्यायवाची शब्द एव एक शब्दके अनेक अर्थ

१. 'अमरकोष', श्लोक-सख्या ६।

लानेका कोई प्रयत्न नहीं किया, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। बनारसीदासजीकी नाममालाके प्रायः प्रत्येक दोहेमें पद-लालित्यवर्धक अनु-प्रासकी मोहक छटा मिलती है। उदाहरणार्थ कुछ दोहे प्रस्तुत हैं

समुद्रके नाम—"[1]सिन्धु समुद्र सरितापति, अम्बुधि पारावार।
अकूपार सागर उदधि, जलनिधि रत्नागार॥"

पवित्र नाम—"[2]पावन पूत पवित्र शुचि, अघमर्षण आचार।"

कलश, कोष नाम—"कुम्भ कलश भृंगार घट, गगर कोश भण्डार॥"

लता, फुलवारी—"[3]वल्ली बेलि प्रतति लता, वाटिक कुसुम आराम।"

सुगन्ध एवं मालानाम—"सुरभि सुगन्ध सुवासना,
माल हार स्रग दाम॥"

सिंहनाम—"[4]कण्ठीरव पुंडर इभन, हरि हरिपति मृगभूप।
पर्यो पंचमुख केसरी, सबल सिंह शार्दूल॥"

चार्यका प्रभाव भी अवश्य हो रहा है। बनारसीदासजीके समयसारमें जो मार्मिकता एवं भाव-गाम्भीर्य और विवेचन-पटुता है वह उनकी अद्भुत प्रतिभा एवं पाण्डित्यकी स्पष्ट परिचायिका है। बनारसीदासजीने आचार्य कुन्दकुन्दके 'समयपाहुड' के मर्मको जिस प्रतिभा क्षमता और विद्वत्ता (जो सर्वत्र सारल्यसे ओतप्रोत है) के वातावरणमें प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत है, वरेण्य है, श्लाघ्य है। यह कृति अपने बहुगुणी आकर्षणोंके कारण कविकी मौलिक कृति-जैसी ही प्रतीत होती है। 'नाटक समयसार' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है फिर भी एक मौलिक ग्रन्थ-जैसा मालूम होता है। कहीं भी क्लिष्टता, भावहीनता और परमुखापेक्षा नहीं दिखलाई देती। अर्थात् बनारसीदासजीने समयसारके कलशोंका अनुवाद ही नहीं किया है, उसके मर्मको अपने ढंगसे इस तरह व्यक्त किया है कि वह बिलकुल स्वतन्त्र ग्रन्थ-जैसा मालूम होता है और यह कार्य वही लेखक कर सकता है जिसने उसके मूल भावको अच्छी तरह हृदयंगम करके अपना बना लिया है। जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके अध्यात्मसम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंमें 'समयपाहुड' सर्वश्रेष्ठ है। इसका रसास्वादन विद्वज्जन भी बड़ी कठिनतासे कर पाते थे, सामान्य जिज्ञासु जनोंकी उत्सुकता निराशामें ही परिणत होती रहती थी। बनारसीदासजीने समयसारके हिन्दी पद्यानुवाद-द्वारा उत्तर भारतके जैन-जगत्‌के लिए वही कार्य किया जो महात्मा तुलसीदासजीने रामचरितमानस द्वारा सम्पूर्ण उत्तर भारतके लिए किया था। आचार्य कुन्दकुन्दकी वास्तविक प्रसिद्धिका श्रेय कविवर बनारसीदासजीको ही है। जनता कविवरके समय तक अपने प्रमुख महर्षि एवं अध्यात्म सन्त कुन्दकुन्द स्वामीको विस्मृत सा करने लगी थी।[1] बनारसीदासजीकी इस कृतिमें मौलिकता भी अनेक स्थलों-पर देखी जा सकती है। प्राय सम्पूर्ण ग्रन्थके प्रतिपादनमें कविने पदे-पदे मौलिकताके हृदयहारक पुट दिये हैं। कई स्थलोंपर एक ही पद्यके भावको सरलातिसरल एवं स्पष्ट करनेके लिए कविने कई पद्य दिये हैं। कविकी मौलिकता प्राप्त रचनाको मौलिक ढंगसे और यथावश्यक विस्तारसे भी उपस्थित करनेमें देखी जा सकती है।

बनारसीदासजीके[2] समयसारमें ३१० दोहा-सोरठा, २४५ इकतीसा

---

1. 'अर्धकथानक', पृ० ५८, स० प० नाथूराम प्रेमी।
2. 'समयसार', अन्तिम प्रशस्ति ३९।

अर्थात् 'समयसार'जीके अक्षयकोषमें जीव, अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद और साध्य साधक ये बारह द्वार हैं। यह उत्तम ग्रन्थ जीवको कर्मादिक पर-वस्तुओंसे पृथक् कर मोक्षमार्गकी निष्कर्म अवस्थाकी ओर बढानेवाले द्रव्यानुयोगका भण्डार है। यह आत्माका नाटक (विविध दशाओंका वर्णन करनेवाला) परम रस—उत्तम आत्मशान्तिका प्रदाता है। ज्ञानका प्रमुख स्रोत एवं शुद्ध चारित्रका वर्द्धक है।

कविने आत्माकी सभी सांसारिक अवस्थाओंसे निर्लिप्त दशाका अत्यन्त मार्मिक, हृदयग्राही एवं सिद्धान्त-समन्वित चित्र प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थका आरम्भ कवि तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथकी, सिद्धोंकी एवं साधुओंकी स्तुतिसे करते हैं। इसके पश्चात् सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि जीवोंके स्वभावोंकी चर्चा करते हुए वे अपने कविकर्मकी लघुताका भी बडी विनयसे उल्लेख करते हैं। अन्तमें वस्तुके नाम, जीवद्रव्यके नाम तथा दर्शन आदिके नामोंका उल्लेख करके ग्रन्थके अधिकारोंकी गणना करते हुए कविवरने ५१ पद्योंकी उत्थानिका समाप्त की है।

१ जीवद्वार

नाटक समयसारका यह प्रथम अधिकार है। इसमें जीवकी अर्थात् आत्माकी जैनदर्शनके अनुसार व्याख्या की गयी है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत एवं आनन्दघन है। अपनी अत्यन्त निर्मल अवस्था पाते ही परमात्मा पद यह आत्मा ही प्राप्त कर लेता है। यह अनादि अनन्त है। आत्मा अपने स्वरूपसे शुद्ध-स्वच्छ है परन्तु संसारी दशामें पडकर अनादि कालसे शरीर और कर्मोंसे मलिन हो रहा है। वास्तवमें कर्म और शरीर, आत्माका स्वयं कुछ नहीं बिगाड सकते परन्तु स्वयं आत्माने इनको अपने ऊपर बोझ समझ लिया है और अपनी अनन्त ज्ञान-दर्शनकी शक्तिको भूल बैठा है।

जैन दर्शनमें आत्माको समझनेके दो प्रकार हैं—एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। जीवको देहसे पृथक् शुद्ध एवं निर्विकल्प समझनेवाला निश्चय नय है और शरीरसे सम्पृक्त राग-द्वेष मोहादिकसे जीवको मलिन करनेवाला व्यवहार नय है। कविवरने स्पष्ट किया है कि इन नयों द्वारा जीवकी दशाओंका विचार करके अपने शुद्ध निर्विकल्प स्वरूपकी ओर अग्रसर होना चाहिए।

बनारसीदासजी आत्माका शुद्ध स्वरूप कितनी निखरी हुई शैलीसे

ही इनका कर्ता है, आत्मा नहीं। इस अधिकारमें कविने यही विचार सुन्दर शैली-द्वारा प्रस्तुत किया है कि शुभाशुभ कर्म तथा क्रिया आत्म-जनित नही हैं इनको आत्माका मानना अज्ञान है। आत्मा अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रियाका कर्ता है।

४ पुण्य-पाप-एकत्वद्वार

[दान, दया, सयम, शील, भक्ति तथा व्रतादिकमें उत्पन्न होनेवाली जीवकी विशुद्ध भाव दशा ही पुण्य है। विषयोंमें प्रवृत्ति, कलुषता, द्वेष, मैथुन एव परिग्रह आदिमें उत्पन्न हुआ अशुद्ध भाव पाप है। पुण्य और पाप ये दोनो ही ससारके कारण हैं। आत्माकी शुद्ध दशामें बाधक हैं। पुण्य सोनेकी बेडी है और पाप लोहेकी। ये दोनो ही बेडियाँ इस जीवको ससारमें बन्दी बनाकर भ्रमण कराती है। पुण्य शुभोपयोग है और पाप अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग इनमें-से कोई नहीं है। वास्तविक आत्मकल्याण शुद्धोपयोग अर्थात् पाप-पुण्यसे—राग द्वेषसे परेकी अवस्थामें ही सम्भव है। जबतक आत्मा पूर्णतया स्वलीन नही हो जाता तबतक मुक्ति सम्भव नही है।]

५ आस्रव-अधिकार

द्रव्यास्रव एव भावास्रवके भेदसे आस्रव दो प्रकारका है। शुभाशुभ पुद्गल प्रदेश अशुद्ध आत्मा-द्वारा आकृष्ट होकर जो क्रिया करते हैं वह द्रव्यास्रव है और राग द्वेष मोहादिक भाव भावास्रव हैं। आत्मामें कर्मोंका आगमन आस्रव है। उक्त दोनों ही आस्रव ससारके कारण हैं अत जीवके सम्यग्ज्ञानमें बाधक हैं। आस्रव विभाव-परिणति है, पौद्गलिक है, आत्मा-का निज स्वभाव नही है ऐसा विचार कर आत्मज्ञानी जन इससे पृथक् ही रहते हैं।

६. संवरद्वार

मिथ्यात्वमय आस्रव भावोंका निरोध करनेवाली क्रिया अथवा भाव ही सवर है। यह सवर भाव आत्माको निर्मल करता है और उसको मुक्तिमें भारी सहायक होता है। सवरभाव वास्तवमें जीवकी भेदविज्ञान-परक दृष्टि ही है। इस दृष्टिसे उसमें स्व-परविवेकका अनोखा भाव आ जाता है।

७ निर्जराद्वार

निर्जराका अर्थ है कर्मोंका झरना। विवेकी जीव जब पदार्थका वास्त-

चार्यके 'समयसार' में 'स्याद्वादद्वार' स्वय रचकर और जोड दिया इससे ग्रन्थकी उपयोगित और भी अधिक हो गयी। आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्-वादद्वारके सम्बन्धमें अत्यन्त भव्य उद्गार व्यक्त किये हैं। बनारसीदास-जीने वे उद्गार पद्यबद्ध किये हैं—

"[1]अद्भुत ग्रन्थ अध्यातम बानी, समुझै कोऊ बिरला ज्ञानी,
यामें स्याद्वाद अधिकारा, ताकौ जो कीजै विसतारा ॥ १ ॥
तौ गिरन्थ अति शोभा पावै, वह मन्दिर यह कलस कहावै।
तव चित अमृत बचन गढि खोलै, अमृतचन्द्र आचारज बोलै ॥२॥"

१२ साध्य-साधकद्वार

किसी वस्तुको प्राप्त करनेवाला तो साधक होता है और जिसे साधा जाये अर्थात् प्राप्तव्य वस्तु साध्य होती है। इस रीतिसे साध्य और साधक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है और व्यवहार दृष्टिसे है भी परन्तु शुद्ध निश्चय-नयकी दृष्टिसे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है। अन्तर इतना ही है कि जीवकी ऊँची अवस्था जो उसे आगे चलकर प्राप्त हो जायेगी साध्य है और नीची अवस्था अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक एव साधु आदि साधक हैं।

१३ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार

गुणस्थान अधिकारकी रचना बनारसीदासजीकी मौलिक रचना है। गुणस्थानका अर्थ इस प्रकरणमें है—गुण अर्थात् जीवके मनोभावो—परि-णामोके आधारपर उसका उन्नत एव अध पतित होना। जिस प्रकार विभिन्न रगोका सम्पर्क प्राप्त करनेसे वस्त्र बहुवर्णी एव अनेकाकार हो जाता है उसी प्रकार शुद्ध एव निरजन आत्मापर अनादि कालसे मोह और योगोंके सम्बन्धके कारण अनेक विकृत अवस्थाओके आवरण आ जाते हैं, इन्हीका नाम गुणस्थान है। ये आवरण अथवा अवस्थाएँ अनेक हैं परन्तु आचार्योंने उन सभीका समाहार जिन १४ गुणस्थानोमें किया है वे ये हैं १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरत, ५ देशव्रत, ६ प्रमत्त, ७ अप्रमत्त ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ, ११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण मोह, १३ सयोगी और १४वाँ अयोगो।

इसके पश्चात् बनारसीदासजीने अन्तमें प्रशस्ति दी है जिसमें जीवकी

---

१ 'समयसार', स्याद्वादद्वार १–२।

विभिन्न अवस्थाएँ, कुकवि-सुकवि वर्णन, ग्रन्थ लिखनेका प्रेरणा स्रोत आदि फुटकर बातोंका पद्यात्मक परिचय ४० पद्योंमें दिया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थको कविने अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक ढगसे व्यवस्थित करके अपनी योजनाशक्ति एव प्रबन्ध-पटुताका अनुपम परिचय दिया है।

प्रामाणिकता

बनारसीदासजी 'समयसार' में हमारे सम्मुख कोरे अनुवादकर्तासे बहुत आगे आते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके मूल पाठपर रचे गये कलश और उन कलशोपर बालबोधिनी टीका—ये दोनो रचनाएँ कविके सम्मुख थीं। हम कुछ उद्धरणो-द्वारा यह स्पष्ट जान सकेंगे कि बनारसीदासजीके सामने जो आधार थे उन्हें उन्होंने पूर्णतया हृदयगम करके पूर्ण स्वतन्त्र रूपसे ही पद्यमय विवेचन किया है—

कलश

"नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूत प्रतिपदमय बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते।
शुद्ध शुद्ध स्वरसविसरा पूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्ज ॥ १ ॥"

बालबोधिनी टीका

अथ ज्ञानपुञ्ज स्फूर्जति। अथ कहता विद्यमान छै। ज्ञानपुंज कहता शुद्ध जीव द्रव्य। स्फूर्जति कहता प्रगट होइ छै। तत्त्वार्थ सो जु रहा ताहि लेइ करि जीवको जैसे शुद्ध स्वरूप छै। तिसो कहि जे छै। किसो ज्ञान पुंज। टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा। टंकोत्कीर्ण कहता सर्व-काल रूप इसो छै। प्रकट कहता स्वानुभवगोचर। महिमा कहता स्वानुभव जिहिको इसो छै। और किसो छै। स्वरसविसरा पूर्णपुण्याचलार्चि। स्वरस कहता शुद्ध ज्ञान चेतना तिहि को। विसर कहता अनन्त अश तिनसू पूर्ण कहता सम्पूर्ण है। पुण्य कहता निरावरण। ज्योति कहता प्रकाश स्वरूप। और किसो छै। शुद्ध शुद्ध दोई बार कै कहता। निस्सन्देह पनै कै शुद्ध है। बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते प्रतिपद दूरीभूत। बन्ध कहता ज्ञानावरणादि कर्म पिण्ड सो बन्ध रूप एक क्षेत्र अवगाह। मोक्ष कहता सकल कर्मनासु होता जीवको स्वरूपको प्रगटपनो। तिहि क प्रक्लृप्ति कहता इसा कोई विकल्प तिहि थकी। प्रतिपद कहता इक इन्द्रिय आदि पचइन्द्रिय पर्याय रूप जहा-थै। तथा

दूरीभूत करता अति ही दूर छै। भावार्थ—इसो जु एक इन्द्रिय आदि देय पंच इन्द्रिय पर्याय करि जीव द्रव्य जहाँ, तहाँ द्रव्य स्वरूप को विचारता। वन्ध इसो मुक्त इसो। विकल्प नाहि रहित छै। द्रव्यको स्वरूप ज्यों छै त्यों ही छै। जीव द्रव्य इसो छै। अखिशान् कर्तृमोक्तादिभावात्। सम्यक् प्रलय नीत्वा। अखिशान् करता गणना करता। अनन्त छै इसा जे कर्तृ कहता कर्ता छै। इसो भोक्तृ कहता जीव भोक्ता है। सम्यक् कहता भला है। प्रलय नीत्वा कहता विनाश करि इसो छै।

इसी भावको बनारसीदासजीने किस अनुपम सारल्य एवं मार्मिकतासे पद्यबद्ध किया है। देखिए—

"करमनि कौ करता है, भोगनि कौ भोगता है,
जाकी प्रभुता में ऐसो कथन अहित है।
जामें एक इन्द्री आदि पंचधा कथन नाहिं,
सदा निरदोष बन्ध मोख सौं रहित है।
ज्ञान को समूह ज्ञान गम्य है सुभाव जाको,
लोकव्यापी लोकातीत लोक में महित है,
सुद्ध वंस सुद्ध चेतना के रस अंस भरयौ,
ऐसौ हंस परम पुनीतता सहित है॥ २॥"

इसी भावको कविने और भी स्पष्ट किया है—

"जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अन्त,
सो चिद्रूप बनारसी, जगत माँहि जयवन्त॥"

इस उद्धरण-द्वारा हमारे सम्मुख पाण्डे राजमल्लजीकी 'समयसार' की बालबोधिनी गद्यमय टीकाकी एक झलक आ जाती है, साथ ही बनारसी-दासजी उक्त आधारोंके होनेपर भी अपनी पद्यरचनामें कितनी मौलिकता-का पुट भर सकते हैं यह भी स्पष्ट हो जाता है।

अब हम एक दो ऐसे पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका बनारसीदासजीने कई पद्योंमें विस्तृत विवेचन किया है। इससे यही ध्वनित होता है कि कविके सम्मुख कोरे 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' के समर्थक अनुवादककी नीति नहीं रही है। उदार कविने अपने आराध्य पूर्वाचार्यके भावोंको आत्मसात् करके उनका अत्यन्त स्पष्ट एवं सारल्य-समन्वित विवेचन किया है। ऐसा करनेमें कविको कहीं-कहीं तक छन्दके विशद स्पष्टीकरण करनेमें चार-पाँच छन्द तक रचने पड़े हैं। इस दृष्टिसे हम बनारसीदासजीको एक अनुवादक-

की अपेक्षा प्रभावक प्रतिभासम्पन्न मौलिक व्याख्याकारके रूपमें ही अधिक देखते हैं। इस गुणका द्योतक अधस्तन छन्द देखिए।

आचार्य अमृतचन्द्र (कलश)

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है।

"सम्यग्दृष्टि स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता.॥५॥"

बनारसीदासजी द्वारा हिन्दीमें भावानुवाद अथवा व्याख्या–

"जो नर सम्यकवन्त कहावत, सम्यकज्ञान कला नहि जागी,
आतम अंग अबन्ध विचारत, धारत संग कहैं हम त्यागी,
भेष धरें मुनिराज-पटन्तर, अन्तर मोह महानल दागी,
सुन्न हिये करतूति करें पर, सो सठ जीव न होय विरागी॥"

(निर्जराद्वार ८)

पुन –

"ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पन्थ, लखै जग मैं बिवहार सुपत्ता,
साधि सन्तोष अराधि निरंजन, देइ सु सीख न लेइ अदत्ता,
नगधरंग फिरै तजि संग, छकै सरवंग सुधा रस मत्ता,
ए करतूति करें सठ पैं, समझै न अनातम आतम सत्ता॥९॥"

पुन –

"ध्यान धरै करै इन्द्रिय निग्रह, विग्रह सौं न गनै निज नत्ता,
त्यागि बिभूति बिभूति मढ़े तन, जोग गहै भव जोग विरत्ता,
मौन रहे लहि मन्दकषाय, सहे वध बन्धन होइ न तत्ता,
ए करतूति करें सठपैं, समुझै न अनातम आतम सत्ता॥१०॥"

पुन –

"जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोख पद चाहै,
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढ़न में मुखिया॥११॥"

इसी प्रकारके अनेक स्थल समयसारमें हैं। ऐसे स्थलोंकी एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन सकती है।

समयसारकी रचनामें बनारसीदासजीकी स्वतन्त्र प्रतिभाने कितना भी कार्य क्यों न किया हो फिर भी वे मूलत. एक अनुवादक–सफल अनु-

सकता है। शैलीमें मनुष्यका वास्तविक अन्त बाह्य स्पष्ट हुए बिना नही रहता। जहाँ साहित्यकार अपनी शब्दयोजना एव प्रवाहयुक्त शैली-द्वारा वर्ण्य विषयके साक्षात् चित्रसे प्रस्तुत कर देता है, वही उसका स्वयका गम्भीर, सरल, स्थिर अथवा प्रवहमान व्यक्तित्व भी उसकी रचनाशैली-द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है। कविवर बनारसीदासजीकी रचनाशैलीके अध्ययनसे हम काव्यमें उनकी कला-दृष्टिके साथ साथ उनके विनोदप्रिय, गम्भीर, समन्वयवादी अथवा स्थितिपालक व्यक्तित्वसे भी परिचित हो सकेंगे।

बनारसीदासजीने अपनी भावाभिव्यक्ति प्राय सर्वत्र सरल एव सुस्पष्ट शब्दोमें की है। उनका विषयज्ञान परिपक्व था और तदनुकूल सुलझी हुई ललित अभिव्यजना भी उनमें थी। अलकारोंमें अनुप्रासके लिए ही कहीं-कहीं वे प्रयत्नशील दिखते है और तो सर्वत्र स्वाभाविक रीतिसे जो अलकारादि आ गये है उन्हें ही कविने स्वीकार किया है। कविने अपनी भाषा-शैलीको चमत्कारपूर्ण बनानेके लिए अलकारादिमे खीच-तान नही की है। 'समयसार' में विषय-स्पर्शके साथ भाषा-शैलीका जो अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त होता है उसका एक मात्र कारण उसकी स्वत नि सृति है। सुबोधता और सरसताके मोहक स्थल 'समयसार' में सर्वत्र सुन्दरतासे दृष्टिगोचर होते है। बनारसीदासजीकी भाषा और शैलीमें भाव-प्रेषणीयता कितनी अद्भुत कोटिकी है—प्रस्तुत पदसे स्पष्ट हो जायेगा—स्थिर ज्ञानी सभी दशाओं और स्थानोंमें महान् ही रहते है—यह भाव प्रस्तुत छन्दमें है—

"जिन्हके सुमति जागी भोग सौं भये विरागी,
पर सग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवन मे,
रागादिक भावनि सौं जिनकी रहनि न्यारी,
कबहूँ मगन ह्वै न रहैं न धाम धन मे।
जे सदैव आपको विचारैं सरवाग सुद्ध,
जिन्हकैं विकलता न व्यापै कहुँ मन मे,
तेई मोख मारग के साधक कहावैं जीव,
भावैं रहौ मन्दिर मे भावै रहौ बन मे॥"[1]

अनेक स्थानोपर गम्भीर विषयको स्पष्ट एव सुबोध बनानेके लिए बनारसीदासजीने दृष्टान्तोका आश्रय लिया है। जबतक जीवमें शुद्धात्मानुभव रहता है तबतक वह सूर्यके समान देदीप्यमान रहता है इसी भावको

---

१ 'समयसार', मोक्षद्वार १६।

कविने अधस्तन पद्यमें स्पष्ट किया है—

"[1]जैसे रवि मंडल के उदै मही मंडलमें,
आतप अटल तम पटल विलातु है,
तैसें परमातमा कौ अनुभौ रहतु जौ लौं,
तौलौं कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है।
नय कौ न लेस परवान कौ न परवेस,
निच्छेप के वस कौ विधुंस होत जात है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेउ तहाँ बाधक हैं,
बाकी राग दोष की दसा की कौन वातु है॥"

अनुप्रासकी छटा देखिए—

"[1]करम भरम जगतिमिर हरन खग,
उरग लखन पग सिव मग दरसी।
निरखत नयन भविक जल वरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी॥
मदन कदन जित परम धरम हित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल जलद तन मुकट सपत फन,
कमठ दलन जिन नमत बनारसी॥

अलंकारोके मोहमें पड़कर कविने भावोमें दुरूहता कही नहीं आने दी है। बनारसीदासजीमें भाषा-शैली और भावोमें सन्तुलन रखनेकी जो अपूर्व क्षमता है वह सभीको वशवद बना लेती है—

"[2]धरति धरम फल हरति करम मल,
मन वच तन बल करति समरपन,
भखति असन सित चखति रसन रित,
लखति अमित वित करि चित दरपन।
कहति मरम धुर दहति भरम पुर,
गहति परम गुर उर उप सरपन,
रहति जगति हित लहति भगति रति,
चहति अगनि गति यह मति परपन॥"

---

१ 'समयसार', १।

२ वही, मोक्षद्वार ५।

इस प्रकार बनारसीदासजीकी शैली-द्वारा हम उनके सरल, प्रसादमय (प्रसन्न) एव व्यवस्थाप्रिय व्यक्तित्वके दर्शन करते है ।

पाठानुसन्धान

बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओमें 'समयसार' सर्वाधिक लोकश्रद्धा और लोकरुचिका विषय रहा है । इसकी इतनी प्रसिद्धिका प्रमुख कारण इसमें किया गया पुष्ट एव हृदयाकर्षक अध्यात्म-विवेचन है । प्राय प्रत्येक जैन मन्दिरमें 'नाटक समयसार' की एक हस्तलिखित प्रति अवश्य ही मिलती है । प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी जो जैन सिद्धान्तके मर्मको पूर्ण रूपसे सरल-सरस हिन्दी-कवितामें जानना चाहता है इस रचनाकी ही शरण लेता है । सम्पूर्ण आगरा जिला, अलीगढ़, मथुरा, दिल्ली, जयपुर और बीकानेर-के जैन मन्दिरोंके भण्डार तो मैंने स्वय ही देखे है । कुछ मन्दिरोंमें तो दो-दो, तीन तीन तक हस्तलिखित प्रतियाँ मुझे मिली है । कविवर बनारसी-दासजीके इस ग्रन्थका जितना प्रचार हुआ उतना उनके अन्य ग्रन्थों-का नहीं ।

इसका मुद्रण भी कई बार हो चुका है । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी 'समयसार' का भारी प्रचार रहा है । यह ग्रन्थ यदि जैन सम्प्रदायके लेबिल्से रहित होता तो निश्चय ही इसे आजतक 'गीता'-जैसा व्यापक महत्त्व मिलता ।[1] "इस ग्रन्थका प्रचार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अधिक रहा है और अबसे कोई अस्सी वर्ष पहले सन् (१८७६ में) इसे भीमसी माणिक नामके श्वेताम्बर प्रकाशकने ही गुजराती टीका-सहित प्रकाशित किया था । इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेक श्वेताम्बर साधुओंकी लिखी हुई मिलती हैं । दिगम्बर सम्प्रदायमें जहाँतक मुझे स्मरण है सबसे पहले स्व० बाबू सूरजभानजीने 'नाटक समयसार' देवबन्दसे प्रका-शित किया था । उसके बाद फल्टनसे स्व० नाना रामचन्द्र नागने और उसके बाद अनेक प्रकाशकोंने । भाषा टीकासहित भी अनेक स्थानोंसे प्राप्त हो चुका है ।" प० बुद्धिलाल श्रावक द्वारा सुसम्पादित एवं सटीक समयसार जो आषाढ़ वि० स० १९८६ में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित हुआ था आजतकके अन्य सस्करणोंसे श्रेष्ठ है । पाठोंकी दृष्टिसे एव टीकाकी दृष्टिसे भी ग्रन्थ प्रशंसनीय है । रूपचन्द्रकृत टीकासहित प्रह्ल-

---

१ प० नाथूराम प्रेमी 'अर्धकथानक', पृ० ६४ ।

छन्द मुद्रित	हस्तलिखित
मंगलाचरण	
१ सुमिरत	सुमरत
भगति भगति	भगत, भगत
३. जिन्हिके	जिनके
जिन्हको	जिनको
लख्यो	लखो
६ जिन्हके	जिनके
जिनेसुर	जिनेश्वर
७ चित्र	चित्त
८ को सौ	को सो
कतक फल	कुतक फल
सकति	सगति
तन्तु	तिरतु
९ सु	ज्यं
बघूले	बभूल्यो
कैसे	पे से
११ भववास	घटयाग
१४ दया ह्वै	दयाल ह्वै

पाप पुण्य एकत्व द्वार

छन्द मुद्रित	हस्तलिखित
४ न्यारे, प्यारे	न्यारो, प्यारो ३८
५ परमानिए	परवानिए ३९
६ मोख, दुहँ	मोख, दुहो ४०
९ फैल	फैलि ४३
१० भाउ	भाव ४४
११. नहि केवल पद पाइए	नाही केवल पाइए ४५

जैन आचार्योंने भी अध्यात्मतत्त्वका प्रतिपादन सूक्ष्म गूढ़ता, विद्वत्ता, मौलिकता एवं स्वानुभवके साथ किया है। जैन अध्यात्मकी परम्परा बहुत ही प्राचीन है। भगवान् महावीरकी वाणी-द्वारा जिस शुद्ध एवं उदात्त अध्यात्मकी जगत्पावनी धारा प्रवाहित हुई थी वह आजतक अक्षुण्ण रूपसे जन-मानसका जीवन-सम्बल बनी हुई है। जैन अध्यात्ममें बौद्धधर्मकी भाँति आचार पक्षको गौणातिगौण मानकर उसके प्रति हेय दृष्टि नहीं रखी गयी है। जैन आचार्योंने आचारको जीवन-निर्माण एवं कल्याणमें आवश्यक बताया है। आचार-पालन जो आत्मानुभूतिमें सहायक नहीं होता अपितु उसे अवरुद्ध करके व्यक्तिको दुराग्रही रूढ़ उद्दण्ड एवं उच्छृंखल बना देता है, अवश्य ही जैनाचार्यों द्वारा सर्वथा हेय बताया गया है। जैन साहित्यमें कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति, पूज्यपाद, योगीन्दु, गुणभद्राचार्य, अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र, मुनि रामसिंह और राजमल्लजी आदि बनारसीदासजीके पूर्ववर्ती अध्यात्मके प्रभावशाली एवं अधिकारी कवि हो गये हैं। इन कवियोंने समय-समयपर जैन एवं जैनेतर मानसका शुद्ध अध्यात्मकी रचनाओं-द्वारा अत्यधिक उपकार किया है। पर इन सभी कवियोंने प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषामें ही रचनाएँ कीं। राजमल्लजीने ही ऐसे सिद्धान्त 'समयसार' का हिन्दी गद्यानुवाद किया। बनारसीदासजीके समय तक वास्तवमें हिन्दीमें अध्यात्मग्रन्थोंका अभाव ही था। उनसे पहले सरल भाषामें शुद्ध अध्यात्मका अनुभव करानेवाला न कोई भी ग्रन्थ हिन्दीमें न था। किन्हीं कवियोंमें अध्यात्मके दर्शन भी यदि होते हैं तो ऐसे ही जैसे 'बिहारी सतसई' में तीस चालीस नीतिके दोहे। अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासने आचार्य कुन्दकुन्दके 'समयपाहुड' का हिन्दी पद्यानुवाद तथा यथावसर विस्तृत व्याख्या करके इस अभावकी अत्यन्त सुन्दर ढंगसे पूर्ति की। आचार्य कुन्दकुन्दमें सहज अध्यात्मका कथन, ठोस तथा सरल वर्णन अन्य ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं होता। अन्य आचार्योंके ग्रन्थोंमें अध्यात्मकी स्फुट चर्चा ही प्राप्त होती है। बनारसीदासजीने आचार्य कुन्दकुन्दकी कृतिमें यथावसर अनुवादमें विस्तार तो किया ही, साथ ही उसमें गुणस्थानादिकी चर्चा बढ़ाकर उसे और भी आकर्षक बना दिया। यद्यपि बनारसीदासजीने यह कार्य अपने पूर्वाचार्योंकी परम्परा और उनकी रचनाओंके आधारपर ही किया, परन्तु भावगत प्रांजलता, मौलिक रूपक, अनुप्रासों और उपमाओंकी अभिराम छटा, अर्थकी सुबोधता, शैलीकी मृदुलता, प्रवहणशीलता और इन सबसे बढ़कर विषयको मौलिक ढंगसे प्रस्तुत करनेकी दिग्दर्शन

सर्वविशुद्ध अवस्थाका अत्यन्त स्पष्ट एव मार्मिक दिग्दर्शन कराया। 'समयसार' में सर्वप्रथम 'जीवद्वार' में जीवके वास्तविक निर्लिप्त स्वरूपकी चर्चा की गयी है। उसे परवस्तुओंसे पृथक् एव आत्मगुणलीन ही बताया गया है। जीवद्वारके पश्चात् अजीवद्वार है। इसमें कविने जीव और अजीवकी शक्तियोंका पृथक्-पृथक् विवेचन करके दोनोंका स्वतन्त्र प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार विभिन्न दशाओंमें जीवका निर्लिप्त स्वरूप कविने द्वादश अधिकारोंमें अत्यन्त मार्मिकतासे स्पष्ट किया है जिसका सक्षिप्त विवरण इसी अध्यायमें पहले हो ही चुका है।

वास्तवमें बनारसीदासजी-द्वारा प्रस्तुत समयसारकी प्रसाद माधुर्यमयी रचना शैली एव सारल्य-समन्वित भावाभिव्यजनाने हिन्दीको तो अक्षय निधि प्रदान की ही है, उत्तर भारतके सम्पूर्ण जनमानसमें अध्यात्म-जिज्ञासाके लिए उत्कट लालसा भर दी है। 'समयसार' द्वारा बनारसीदासजीने जो एक और अनोखी देन दी है वह है हिन्दी भाषामें शान्त रससे परिपूर्ण अध्यात्मके विवेचनकी अद्भुत क्षमता। इससे अध्यात्म-जगत्में निश्चय ही एक युगान्तर उपस्थित हो गया।

नव रसोंके सम्बन्धमे कविकी मौलिक दृष्टि

बनारसीदासजीने समयसार-जैसे अध्यात्म-ग्रन्थ-रत्नके प्रणयनके साथ साहित्यिक नव रसोंके सम्बन्धमें भी एक उदात्त अध्यात्मदृष्टि निश्चित की है और शान्त रसको रस-नायक स्वीकार किया है। रसोंकी गणना कराते हुए कविवर लिखते है –

> [1]"नवमो शान्त रसनि कौ नायक।
> ए नव रस एई सब नाटक,
> जो जहं मगन सोइ तिहि लायक।"

बनारसीदासजी जिस प्रकार आत्मस्वातन्त्र्यके प्रबल समर्थक रहे है उसी प्रकार परस्वातन्त्र्यके भी। शान्त रस व्यक्तिगत रुचि कहकर स्पष्ट कर देते है कि जिसे जिस रसमें तल्लीनता आ जावे उसे वही श्रेष्ठ है।

> "जो जह मगन सोइ तिहि लायक।"

नव रसोंके लौकिक स्थानोंकी चर्चा अत्यन्त सक्षेप एव स्पष्टताके साथ कविने एक ही पद्यमें की है –

---

१ नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार १३३।

रसीविलास' रखा था। जिन रचनाओंका उल्लेख बनारसीदासजीने अपने 'अर्धकथानक' में किया है, उनके अतिरिक्त 'कर्मप्रकृति विधान' नामक रचना, जिसकी समाप्ति फागुन सुदी ७ संवत् १७०० को हुई थी, भी इस संग्रहमें है। स्पष्ट है कि कर्मप्रकृति विधानके केवल २५ दिन बाद ही बनारसीविलासका संग्रह हो गया था। कविवरका देहावसान भी सम्भवत इसी बीच कभी हो गया होगा और तत्पश्चात् उनकी रचनाओंका यह संग्रह किया गया।

पुनश्च—

सवर रूपी शिव रमण, श्रीपति शील निकाय।
महादेव मनमथ मथन, सुखमय सुख समुदाय॥

२ सूक्तमुक्तावली

सूक्तमुक्तावली संस्कृतमें श्री सोमप्रभाचार्य-द्वारा रची गयी थी।[1] इसीका हिन्दी पद्यानुवाद बनारसीदासजीने अपने परम मित्र कुँअरपालजी-को साथ लेकर किया है। इसी रचनाका अपर नाम सिन्दूरप्रकर भी है। एक सौ एक हिन्दी पद्योंमें यह रचना है। सभी मुक्तक छन्द है। बनारसी-दासजी मुक्तकोके क्षेत्रमें भी कितने सफल अनुवादक थे इसका परिचय हमें सूक्तमुक्तावली-द्वारा भलीभाँति प्राप्त होता है। इसमें कई पद्योपर किसीकी भी छाप नहीं है अत यह निर्णय करना कठिन ही है कि वे दोनो रचयिताओके कितने-कितने पद्य हैं। इतना तो निश्चित है कि कुँअरपालजीके इसमें बहुत कम पद्य हैं। जिनपर कुँअरपालजीकी छाप है वे भी बनारसीदासजीके छापवाले पद्योंसे कम हैं। यह सुभाषित जन-सामान्यके लाभकी दृष्टिसे लिखा गया है। भाषासारल्य और स्वामित्वपूर्ण भाव-प्रकाशनकी क्षमता पदे-पदे दर्शनीय है। पद्यके मूलभावकी पूर्ण रक्षा तो कविने की ही है साथ ही उस भावको अपनी माधुर्यपूर्ण शैली द्वारा और भी सुन्दर बना दिया है।

उदाहरणार्थ प्रस्तुत पद्य देखिए—

लक्ष्मी कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते,
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगता लिङ्गति।
श्रेय संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वाञ्छति य प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थं निजम्॥

अनुवाद—

ताहिको सुबुद्धि बरै रमा ताकी चाह करै,
चन्दन सरूप हो सुयश ताहि चरचै,
सहज सुहाग पावै सुरग समीप आवै,
बार बार मुकति रयनि ताहि अरचै,

---

[1] कुँअरपाल बानारसी, मित्र जुगल इक चित्त।
तिन गिरथ भाषा कियौ, बहु बिध छंद कवित्त॥
—सूक्तमुक्तावली

६. मार्गणा-विधान

इसमें २८ पद्योमें १४ मार्गणाएँ और उनके ६२ भेदोंका वर्णन है। मार्गणा जोवके तनसम्बन्धी भावोकी व्याख्या करती है। रचनान्तमें कविवरने कहा है–

"ये वासठ विधि जीव के तन सम्बन्धी भाव।
तज तन बुद्धि बनारसी, कीजे मोक्ष उपाव॥"

७ कर्मप्रकृति-विधान

जैन धर्मके कर्म सिद्धान्तका समुचित प्रतिपादन करनेवाली यह रचना है। कर्मप्रकृति-विधान १७५ छन्दोंमें है। यह एक लघुकाय ग्रन्थ सा प्रतीत होता है। इसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठो कर्मों और उनकी प्रकृतियोकी व्याख्या अत्यन्त सुबोध विधिसे की गयी है। जैन कर्म सिद्धान्तके ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारपर इसकी रचना हुई है। यह रचना संवत् १७०० के फागुनकी कविकी अन्तिम रचना है।

८ कल्याणमन्दिरस्तोत्र

आचार्य कुमुदचन्द्रके संस्कृतमें रचे गये कल्याणमन्दिर स्तोत्रका यह भावानुवाद है। चौपाई छन्दोंमें इसकी सरस सुबोध रचना हुई है। जैन सम्प्रदायमें इसका भारी प्रचार है।

९. साधुवन्दना

साधुकी अर्थात् दिगम्बर जैन मुनिकी विशेषताओंका (२८ मूलगुणोंका) वर्णन २८ चौपाइयों और चार दोहोंमें किया गया है। इस रचनाद्वारा बनारसीदासजीका झुकाव दिगम्बर सम्प्रदायकी ओर स्पष्ट हो जाता है। कविने वस्त्रसहित भट्टारक अथवा साधुओंके प्रति श्रद्धा नहीं दिखायी है।

१० मोक्ष पैडी

बनारसीदासजीने यह रचना पंजाबी भाषाकी विभक्तियों और क्रियाओंको लेकर की है। यह रचना २४ छन्दोंमें है और अपने ढंगकी अकेली है। कविवर पंजाबी भाषाके भी ज्ञाता थे यह बात इस रचनासे प्रकट हो जाती है।

"इक्क रुचि वचनो, गुरु अक्खै सुनि मल्ल।
जो तुझ अन्दर चेतना, वहै तुसाड़ी अल्ल॥१॥

जीवका उद्धार सम्भव नहीं है। कविवरने आकर्षक पद्धतिसे जीवकी विषयासक्त दशाका चित्रण कर उसके आत्मज्ञानकी उज्ज्वलताका दिग्दर्शन कराया है।

"ज्यों काहू विषधर डसै, रुचि सों नीम चबाय।
त्यों तुम ममता सों मढ़े, मगन विषय सुख पाय ॥६॥
नीम रसन परसै नहीं, निर्विष तन जब होय।
मोह घटै ममता मिटै, विषय न बाछे कोय ॥७॥
ज्यों सुछिद्र नौका चढ़े, बूढ़इ अन्ध अदेख।
त्यों तुम भव जल में परे, विन विवेक धर भेख ॥८॥
जहां अखडित गुण लगे, खेवट शुद्ध विचार।
आतम रुचि नौका चढ़े, पावहु भव जल पार ॥९॥"

१५. शिवपच्चीसी

इसमें जीवको शिवस्वरूप अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके मूल स्वभाववाला बताया है। जीव अर्थात् शिवको ही शम्भु, त्रिपुरारि आदि नामोंसे अभिहित किया गया है।

१६. भवसिन्धु चतुर्दशी

इसमें ससारको पार कर मोक्षद्वीप प्राप्त करनेका सुन्दर मार्ग बताया है।

"जैसें काहू पुरुष कौं पार पहुँचने काज।
मारग मोहि समुद्र तहँ, कारण रूप जहाज ॥१॥
जैसे सम्यक्वन्त को गैर न कछू इलाज।
भव समुद्र के तरन कौं मन जहाज सों काज ॥२॥
मन जहाज घट में प्रगट, भव समुद्र घट माहि।
मूरख मरम न जानहीं, बाहर खोजन जाहि ॥३॥"

१७ अध्यात्म फाग

यह १८ दोहोंकी एक अध्यात्मप्रधान रचना है। प्रत्येक दोहेके अन्तमें 'अध्यातम बिन क्यो पाइए हो' यह टेक डाली गयी है तथा प्रथम और तृतीय चरणके अन्तमें 'हो'का प्रयोग हुआ है।

३२. प्रश्नोत्तर माला

२१ पद्योंमें उद्धव हरि संवाद रूपमें यह रचना की गयी है। प्रारम्भके ९ दोहोंमें उद्धव द्वारा कृष्णसे सम, दम, तितिक्षा आदिके सम्बन्धमें २४ प्रश्न किये गये हैं और अन्तकी दश चौपाइयोंमें नारायणने उसका उत्तर दिया है। यथा—

प्रश्न—"समता कैसी दम कहा, कहा तितिक्षा भाव।
धीरज दान जु तप कहा, कहा सुभट विवसाय॥"

उत्तर—"समता ज्ञान सुधारस पीजे, यह इन्द्रिय को निग्रह कीजै।
सकट महन तितिक्षा धीरज, रसना मदन जीतिवो धीरज॥
दान अभय जहँ दुख न दीजे, तप कामना निरोध कहीजे।
अन्तर विजय सूरता सांची, सत्य ब्रह्म दरसन निरवाची॥"

३३. अवस्थाष्टक

यह रचना आठ दोहोंमें है। इसमें कहा गया है कि जीव निश्चय नयकी दृष्टिसे सब एक है, परन्तु व्यवहार नयसे मूढ, विचक्षण और परम ये तीन भेद हैं, फिर इनके भी भेद किये हैं।

३४. षट्दर्शनाष्टक

"शिवमत बौद्ध रु वेद मत, नैयायिक मत दक्ष।
मीमांसक मत जैन मत, षट् दरसन परतक्ष॥

इन ६ दर्शनोंका स्वरूप कविने एक एक दोहेमें दिया है। गागरमें सागर भरनेकी कहावत कविके इन दोहोंमें चरितार्थ हुए बिना नहीं रहती। यथा—

मीमांसक मत—"देव अलख दरवेश गुरु, मानें कर्म गिरंथ।
धर्म पूर्व कृत फल उदय, यह मीमांसक पंथ॥

जैन मत—"देव तीर्थंकर गुरु यती, आगम केवलि बैन।
धर्म अनन्त नयातमक, जो जानै सो जैन॥

३५ चातुर्वर्ण

पाँच दोहोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णोंका वास्तवि[क] अर्थ स्पष्ट किया है। ब्राह्मण यथा—

जो निहचै मारग गहैं, रहैं ब्रह्म गुन लीन।
ब्रह्म दृष्टि सुख अनुभवै, सो ब्राह्मण परवीन॥

३६ अजितनाथके छन्द

यह रचना पाँच छन्दोंकी है। इसकी रचना कविने अपनी ससुराल खैराबादमें की थी। यह कविवरकी सम्भवत पहली रचना है। इसमें कविने अपने गुरु भानुचन्द्रजीका भी स्मरण किया है।

३७ शान्तिनाथ जिनस्तुति

११ छन्दोंमें रची गयी यह रचना भी कविकी आरम्भिक रचना ही प्रतीत होती है। इसमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथजीकी स्तुति की गयी है।

३८ नवसेना विधान

इसमें पत्ति सेना, सेनामुख आदि सेनाके नौ भेदोंकी चर्चा करते हुए प्रत्येकमें प्रत्येकके हाथी, घोड़े आदिकी संख्या बतलायी गयी है।

३९ नाटक समयसारके कवित्त

ये केवल चार छन्द हैं। संस्कृत कलशोंके अनुवाद हैं।

४० फुटकर कविता

इसमें १० इकतीसा कवित्त, ३ सवैया, ३ छप्पय, १ वस्तु छन्द और ५ दोहे हैं। अर्धकथानकका २९वाँ कवित्त और ६२वाँ सवैया भी इसीमें मिला लिया गया है। इन फुटकर पद्योंमें हींग, मोम आदिका व्यापार निषेध, चौदह विद्याओंके नाम तथा कर्मकी १४८ प्रकृतियोंके नामादिक कहे गये हैं। कविता सामान्य है। प्रारम्भके दस छन्दोंमें कविकी प्रतिभा, आत्मचिन्तन और भाषागत प्रांजलता अवश्य ही प्रशंसनीय है।

आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय उदार चिन्तनके कवित्त कविके शालीनतापूर्ण व्यक्तित्वको हमारे सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। अस्थिर संसारके निःसार विषयोंका चित्रण अत्यन्त मार्मिक है—

> जामें सदा उतपात रोगन सौं छीजै गात,
> कछु न उपाय छिन छिन आयु खपनौ।
> कीजे बहु पाप औ नरक दुख चिन्ता व्याप,
> आपदा कलाप में विलाप ताप तपनौ।
> जामें परिगह कौ विषाद मिथ्या बकवाद,
> विषै भोग सुख कौ सवाद जैसें सपनौ।
> ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास,
> तामें तू मगन भयौ त्याग धर्म अपनौ॥

४१. गोरखनाथके वचन

७ चौपाइयोंमें कुछ सन्तो-जैसी बातें कही गयी हैं। प्रतीत होता है कि कविवरपर गोरख-पन्थका भी कुछ प्रभाव था। कहा गया है—

जो भग देख भामिनी मानै, लिंग देख जो पुरुष प्रमानै।
जो बिन चिन्ह नपुंसक जोवा, कह गोरख तीनों घर खोवा।

४२ वैद्य आदिके भेद

इसमें ४१ पद्य हैं। इनमें वैद्य, ज्योतिषी, वैष्णव आदिके लक्षण कहे गये हैं। सभी लक्षणोंमें मौलिक चिन्तनकी झलक मिलती है। जातिवादकी व्यर्थता बताते हुए कवि कहते हैं—

एक रूप हिन्दू तुरक, दूजी दशा न कोय।
मन की दुविधा मानकर, भये एक सौं दोय॥ इत्यादि

३० दोहोंमें अध्यात्मकी सुन्दर चर्चा है।

४३. परमार्थ वचनिका

पं० बनारसीदासजी पद्यरचनाकी भाँति गद्य लेखनमें भी सिद्धहस्त थे। प्रस्तुत लेख लगभग ९ पृष्ठोंका है। आपकी गद्य शैली व्यासप्रधान है। पं० राजमल्लजीकी समयसारकी बालबोधिनी टीकाके लगभग ५० वर्ष बादकी यह रचना है। कविवरकी रचनाकी भाषाका अध्ययन करते समय उद्धरणादिके साथ सविस्तार चर्चा होगी।

४४ उपादान निमित्तकी चिट्ठी

७ पृष्ठोंमें लिखी गयी यह भी एक पत्रात्मक गद्य रचना है। इसमें कार्य साधक उपादान और निमित्त कारणोंकी युक्तिपूर्वक चर्चा की गयी है।

४५ उपादान निमित्तके दोहे

आत्मोद्धारमें निमित्त कारण प्रबल है अथवा उपादान अथवा दोनो ही यह विवाद अति प्राचीन है। इसीसे सम्बन्धित ७ दोहे इस रचनामें हैं।

४६ अध्यात्म पद पंक्ति

इसमें २१ मुक्तक पद हैं। ये पद भैरव, रामकली, बिलावल आदि विभिन्न रागिनियोंमें है। ये सभी पद अध्यात्मपरक हैं। इनमें बनारसी-

दासजीका आत्मचिन्तन एवं मुक्तक-रचना-कौशल अपनी उत्कृष्ट अवस्थामें देखा जा सकता है। सरसता-सरलता, स्वाभाविकता और भावगाम्भीर्यका सुन्दर समन्वय पद-पदे दृष्टिगोचर होता है। यथा—राग धनाश्री-(११)

चेतन उलटी चाल चले

जड़ संगत सों जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले। चेतन०
हित सों विरचि ठगनि सों राचे, मोह पिसाच छले। चे०
हँसि हँसि फंद सँवारि आप ही, मेलत आप गले। चे०
आये निकसि निगोद सिन्धु तैं, फिर तिह पंथ टले। चे०। इत्यादि।

४७ परमारथ हिंडोलना

यह भी एक आध्यात्मिक पद है। इसमें बनारसीदासजीने स्वयंको काशीदास कहा है।

जो नर विचच्छन सदय लच्छन, करत ज्ञान विलास।
करतार भगति विसेष विधि सों, नमत 'काशीदास' ॥

४८ अष्टपदी मल्हार

इस पदको भी परमारथ हिंडोलनाकी भाँति स्वतन्त्र रूपसे संग्रह किया गया है। इसमें जीवकी संसार-दशाका चित्रण है।

उक्त अन्तर्लीन रचनाओंके अतिरिक्त कविवर बनारसीदासजीके अन्य फुटकर ५ पदोंको भी स्वतन्त्र रूपसे इसी संग्रहमें संग्रह किया गया है। इन पदोंमें-से ३ पद प्रेमीजीको तथा अन्तिम दो पद श्री कस्तूरचन्द जयपुर वालोंको विभिन्न भण्डारोंसे प्राप्त हुए हैं।

यह बनारसी-विलासमें संग्रहीत समस्त रचनाओंका संक्षिप्त परिचय है। इस संग्रहसे हमें कविवर बनारसीदासकी कवित्वशक्ति, उदार चिन्तन एवं भाषा-विकासके अध्ययनमें भारी सहायता मिलती है। कविवरकी उदार धार्मिक दृष्टिके भी मधुर एवं स्पष्ट सङ्केत इस संग्रहसे प्राप्त होते हैं।

अद्यावधि बनारसी-विलासके मुद्रित रूपमें दो प्रकाशन हो चुके हैं। पहला १९०५ में आजसे ५३ वर्ष पूर्व पं० नाथूराम प्रेमीके सम्पादनमें प्रकाशित हुआ था और दूसरा १९५५ में जयपुरसे पं० कस्तूरचन्द कासलीवालके सम्पादकत्वमें। इन दोनों ही प्रकाशनोंके सम्बन्धमें पं० नाथूरामजी प्रेमी स्वयं लिखते हैं—"यद्यपि परिश्रम बहुत किया था, परन्तु साधनोंकी

कमीसे एक ही हस्तलिखित प्रतिका आधार मिलनेसे और पुरानी भाषाका ठीक ज्ञान न होनेसे वह बहुत ही त्रुटिपूर्ण रहा। उसके ५० वर्ष बाद सन् १९५५ में जब यह जयपुरसे प्रकाशित हुआ तो देखा कि मेरे उस पहले सस्करणको ही प्रेसमें देकर छपा लिया गया है, दूसरी प्रतियोंके सुलभ होनेपर भी उनका उपयोग नही किया गया और उसमें पहलेसे भी अधिक अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ भर गयी है। इससे वडा दु ख हुआ। अब भी इसका एक प्रामाणिक सस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होनेकी आवश्यकता है।"

आगराके मोतीकटरा और ताजगजके दि० जैन मन्दिरोंमें बनारसी विलासकी ४–६ कापियाँ मैंने स्वय देखी हैं। जो पर्याप्त स्वच्छ और शुद्ध हैं। इनके आधारपर एक परिशोधित सस्करण अवश्य ही प्रकाशित होना चाहिए।

रचना-तिथियाँ

बनारसी-विलासमें सग्रहीत रचनाओंकी रचना-तिथियोंकी जहाँतक बात है केवल जिनसहस्रनाम (१६९०), सूक्तमुक्तावली (१६९१) और कर्मप्रकृति विधान (१७००) इन रचनाओंका ही रचनाकाल दिया हुआ है, शेषका नही। ज्ञान बावनीका भी रचनाकाल (१६८६) दिया हुआ है परन्तु यह रचना बनारसीदासजीकी नहीं है। जिन ४४ रचनाओंका रचना-समय नहीं दिया गया है अर्धकथानकके सवत्वार अध्ययनसे उनका भी सम्भाव्य समय स्पष्ट हो जाता है।

सवत् १६७० (अ० क० पद्य ३८६–८७ के अनुसार)

१ अजितनाथके छन्द

सवत् १६८० (पद्य ५९६–९७)

२ ज्ञान पच्चीसी

३ ध्यान बत्तीसी

४ अध्यातमके गीत

५ कल्याण मन्दिर

संवत् १६८०–९२ (६७५–७८)

६ सूक्त मुक्तावली
७ अध्यात्म बत्तीसी
८ मोक्ष पैड़ी
९ फाग धमाल
१० भव सिन्धु चतुर्दशी
११ प्रास्ताविक फुटकर कविता
१२ शिव पच्चीसी
१३ सहस्र अठोत्तर नाम
१४ कर्म छत्तीसी
१५ मूढ़ता (परमार्थ हिंडोलना)
१६ अन्तर गावन राग
१७ दो विध आरती
१८ दो वचनिका
१९ अष्टक गीत (शारदाष्टक)
२० अवस्थाष्टक
२१ षट्दर्शनाष्टक
२२ गति वहन
(अध्यात्म पद पंक्ति)

इन रचनाओंके अतिरिक्त बनारसी-विलासका जगजीवन कृत विषय-सूचीके अनुसार और भी २३–२८ रचनाएँ हैं। इनमें से केवल दो का ही समय ज्ञात हो सका है।

१ बावनी सवैया[1] (ज्ञान बावनी संवत् १६८६)
२ कर्म प्रकृतिविधान (संवत् १७००)

बनारसीके मूल संग्रहकर्ता पं० जगजीवनरामने बनारसीदासजीकी रचनाओंको जिस क्रमसे रखा है वह उस समय उनकी आवश्यकता और रुचि विशेषको ध्यानमें ही रखा गया प्रतीत होता है। कविवरकी रचनाओंको विषयकी दृष्टिसे व्यवस्थित करके यदि यह संग्रह किया जाता तो पाठकोंको बनारसीदासजीकी वर्धमान काव्य-प्रतिभा एवं विषय विकासके व्यवस्थित अध्ययनका अवसर मिल जाता। मुद्रित संस्करणोंमें भी सम्पादक महोदयने इस क्रमपर विचार न करके पं० जगजीवनरामका ही अनुसरण किया है।

पाठानुसन्धान

कविवर बनारसीदासजीकी [illegible] रचनाओंका पाठानु-

---

१ यह रचना तिथिक्रम एवं तालिका पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित अर्ध-कथानकके पृ० ६५–६६ के आधारसे दिया गया है। उक्त क्रम प्रामाणिक है।

सन्धानकी सर्वाधिक आवश्यकता बनारसी-विलासमें है। जयपुर और आगराके जैन भण्डारोंकी बनारसी-विलासकी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतियोंके आधारपर शीघ्र ही एक मुद्रित संस्करण बनारसी-विलासका प्रकाशित हो तभी हम कविवरकी कृतियोंका वास्तविक मर्म समझ सकेंगे एवं उनके शुद्ध काव्यसे शिक्षित वर्गको अवगत करा सकेंगे। सन् ५५ में पं० कस्तूरचन्दजीके सम्पादकत्वमें बनारसी-विलासका जो संस्करण निकला था उसपर विद्वानोंने बहुत टीका-टिप्पणी की। उसमें प्रेस सम्बन्धी भूलें, पाठोंकी भूलें तथा और भी बहुत-सी मोटी-मोटी त्रुटियाँ थीं जो विद्वानों-को भारी खटकीं। प्रौढ़ विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमीका मत तो हम ऊपर देख ही चुके हैं, समर्थ विचारक एवं शोधक श्री अगरचन्द्र नाहटाने भी इस बनारसी विलासकी मुद्रित प्रतिके सम्बन्धमें बड़े महत्त्वपूर्ण विचार रखे हैं। [1]'प्राचीन काव्योंकी भाषा वैसे ही दुरूह होती है, फिर उनका उद्धरण यदि सावधानीसे न छपे तो अर्थसंगति बैठाना और भी कठिन हो जाता है।

प्राचीन लिपिके कई अक्षरोंमें इतना साधारण अन्तर रहता है कि थोड़ा ध्यान न रखा जाये तो पाठ कुछका कुछ पढ़ लिया जाता है जिससे अनेक बार अर्थका अनर्थ भी हो जाता है। जैसे च और ख और र, व और छमें इतना नगण्य सा अन्तर रहता है कि थोड़ी-सी असावधानीसे गुड़ गोबर हो जाता है।' पाठसम्बन्धी ऐसी सभी भूलोंको संक्षेपमें नाहटा-जीने सोदाहरण स्पष्ट किया है, साथ ही सम्पादकजीकी जानकारी सम्बन्धी भूलोंपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्पष्ट है कि आज बनारसी-विलास-के शुद्ध पाठोंसे परिपूर्ण, ठोस भूमिका और यथावश्यक टिप्पणी युक्त एवं सुन्दर संस्करणकी आवश्यकता है।

इस कार्यके लिए मैंने आगराकी जिन प्रतियोंको प्रामाणिक समझा है उनके कुछ पाठ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

---

१ 'वीरवाणी' वर्ष ७, अंक ६, पृ० १२३-१२४।

आगराके मन्दिरोमे प्राप्त
बनारसी-विलासकी हस्तलिखित प्रतियाँ

क्र० स०	प्राप्ति स्थान	सकलयिता या लिपिकार	लिपि संवत्	पत्र संख्या	प्रत्येक पत्रमें पंक्तियाँ	लेखन	प्रतिकी दशा	आदि अथवा अंतिम उद्धरण विशेष विवरण आदि
१	श्री दि० जैन मन्दिर मोती कटरा, आगरा	सुखानन्द न परमराम	१७५७ श्रावण सुदी १० रविवार	१३९	२०	स्वच्छ	जीर्णप्राय पुस्तकाकार	सत्रै सो एकोत्तरै समै चैत मित पाख। लिपि दो व्यक्तियोंकी है।
२	,,	अज्ञात	अज्ञात	६०	२१	स्वच्छ लाल स्याही का भी पर्याप्त प्रयोग है।	खुले पत्र	प्रबल पचइन्द्री सुलह, षट् विध जीव निकाय। जुआ आदि सात विसन, आठ करम समुदाय।
३	,,	अज्ञात	१८२८ चैत्रमासे शुक्ल पक्षे, अष्टम्या रविवासरे।	१०९	१६	शुद्धाशुद्ध प्रत्येक अक्षर अलग अलग है।	खुले पत्र	श्री अकबराबाद मध्ये लिखितम। नरसिंहदास असवालस्य पठनार्थं।
४	श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर, ताजगंज, आगरा।	अज्ञात	अज्ञात	३-३२	११	साधारण अशुद्धि अधिक है।	पुराणाकार आदि अंत रहित है।	प्रा० अक्रोह अद्रोह अनिग्रह अकृ आदि प्रति० अपूर्ण है।
५	,,	,,	,,	५-२१	१०	स्वच्छ नहीं है।	पुराणाकार	प्रा० अथ अहिंसा अधिकार, सुकृतिको आन्त इहिविधि देव अदेवकी मुद्रा लाख लीजे।
६	,,	,,	,,	१३३	१४	ठीक है।	खान।	

[1] प्रारम्भ सूक्तियोसे हुआ है। पूर्ण है। पाठ अत्यन्त शुद्ध है। ठीक है गुटका रूपमें है।

बनारसी-विलास

पाठानुसन्धान

मुद्रित प्रति जयपुरवाली			मोती कटरा आगरा-की हस्तलिखित प्रति	मो० क० आगराकी हस्तलिखित प्रति
			नं० १४२	नं० १३६
	पृ०	प०		
१ गुरु को करहुँ	३	१	गुर कौं करौ	गुरको करौ
२ बाहित	१९	१३	बोहित	बोहित
३ सडपति	२२	१७	पड़पति	पंडपति
४ गुरनि नैन	२३	५	सुरनि-भौन	सुरनि-भौन
५ बिशेरिये	२४	७	विशेषए	विसेखिये
६ मोर कोउ न देखिये	२४	८	अउर कोउ न देखिये	और कोउ न देखिये
७ शिरमौर	२८	१०	सिरमौर	सिरमौर
८ कुरग	३३	१६	कुरग	कुरग
९ कुछ	३६	१२	कुल	कुल
१० पापी	१३५	१	पानी	पानी
११ पावन के	१५२	१८	पवन के	पवन के
१२ दुरमात	१५९	७	दुरमति	दुर्मति
१३ रच	१५९	८	रच	रच
१४ पुहुप	१६७	१२	पुहुप	पुहुप
१५ जाग	१८२	१०	जोग	जोग
१६ दन	१८३	१	दम	दम
१७ माय	१८४	१६	मोय	मोय
१८ बाचा	२०३	९	बाधा	बाधा
१९ शशिहरि	२०५	८	जगधर	सनधर

परम्परा और प्रणालियाँ

'बनारसी-विलास' में हम बनारसीदासजीको अनेक रूपोंमें देखते हैं। धर्म, नीति, अध्यात्म, भक्ति, दर्शन, कर्मसिद्धान्त, लोकसमन्वयसे

दरबारके राजा वीरबल और नरहरि महापात्रके नीतिपरक पद भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। १७वीं शतीमें बनारसीदासजीने भी अपने पूर्वाचार्यों और कवियोंकी इस परम्पराको अपनी प्रतिभासे और भी समुज्ज्वल किया। आपके नीतिसम्बन्धी दोहोंमें गहरा चिन्तन एवं आत्मानुभव कूट कूटकर भरे हुए हैं। देखिए—

[1]शिथिल मूल दिढ करै, फूल चूटे जल सींचै।
ऊरध डार नवाय, भूमिगत ऊरध खींचै।
जे मलीन मुरझांहि, टेक दे तिनहिं सुधारहि।
कूड़ा कंटक गलित पत्र, बाहिर चुन डारहु।
लघु वृद्धि करहू भेदे जुगल, बाड़ि संवारे फल भखै।
माली समान जो नृप चतुर, सो विलसै संपति अखै॥

मनुष्यका वास्तविक गुण गुण और दोषकी सीमासे ऊपर उठनेमें है—

[2]दृष्टि सुगुन अरु दोष की, दोष कहावै सोय।
गुण अरु दोष जहां नहीं, तहां गुन परगट होय॥

बनारसीदासजीके पश्चात् भैया भगवतीदास, द्यानतराय, दौलतराम आदिने भी नीतिविषयक उल्लेखनीय रचनाएँ की हैं।

कविवर बिहारीकी सतसईके भी कई दोहे मार्मिक नीतियोंसे परिपूर्ण हैं। अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें 'वृन्द सतसई' (कविवर वृन्दकृत) के नीतिविषयक दोहे भी जनताके आकर्षण-केन्द्र रहे। इसी शताब्दीमें गिरिधर कविराय हुए जिनकी कुंडलियाँ आज भी बड़े चाव और सम्मानके साथ पढ़ी-पढ़ायी जाती हैं। १९वीं शताब्दीमें कविवर 'दीनदयालु गिरि'को हम इस दिशामें सफल देखते हैं। इसके पश्चात् यह परम्परा क्रमश क्षीण होती गयी। १९वीं शती तक तो नीति-साहित्यकी अबाध रचना होती रही।

'बनारसी-विलास'में सैद्धान्तिक रचनाओंकी भी कमी नहीं है। कविवर जैन दर्शन एवं सिद्धान्तके पारगत एव अनुभवी विद्वान् थे। उक्त सग्रहमें कर्म प्रकृतिविधान, मार्गणाविधान, कर्म छत्तीसी, साधु वन्दना, परमार्थ-वचनिका, निमित्त उपादानकी चिट्ठी आदि रचनाएँ सैद्धान्तिक रचनाओंकी कोटिमें आती हैं। इन रचनाओंमें कविने जैन दर्शन, धर्म एव कर्म

---

१. बनारसी-विलास। नव रत्न कवित्त ५।
२ बनारसी विलास प्रश्नोत्तरमाला-२०।

अध्यात्म भारतीय साहित्यका आत्मा है। इस देशके जीवन क्षेत्रकी प्रत्येक गतिविधि प्राय अध्यात्मसे प्रेरित एव परिचालित होती है। आत्माकी सार्वभौम दृष्टिको अग्रसर करके ही इस भारतकी भूमिका सम्पूर्ण वाङ्मय निर्मित हुआ है। सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश साहित्यने अध्यात्मकी जिस लोककल्याण-कारिणी अक्षय प्रभासे जन-मानसको पदे-पदे जीवन-सम्बल दिया है, उसकी स्वस्थ परम्पराका अत्यन्त उदात्त विस्तार हिन्दी साहित्यमें हुआ है। भक्तिकालके सभी कवियोने अध्यात्म प्रधान मुक्तकोकी सुन्दर एव निर्मल धारा प्रवाहित की है। महात्मा कबीरकी साखी और सबदका बहुभाग नीति और अध्यात्मसे परिपूर्ण है। सबद तो प्राय सभी अध्यात्मपूर्ण हैं। तुलसीदासजीके अनेक मुक्तक एव दोहे अध्यात्मकी तलस्पर्शी विवेचनासे भरे हुए हैं। सूरदासजीमें भी ऐसे पदोकी कमी नहीं है। रीतिकालीन देव, बिहारी, घनानन्द आदि कवियोमें भी आत्मतत्त्वकी रुझान रही है, चाहे वह थोडी ही हो। (जैन कवियोंने तो अपने साहित्य-सृजनके मूलमें ही अध्यात्मको रखा है। प्राय सभी हिन्दी जैन कवियोने आत्म-जागरण-प्रधान पदोकी रचना की है। आज भी सभी लब्धप्रतिष्ठ कवि अपनी कविताका चरम लक्ष्य आत्माकी उन्नति ही मानते हैं। वास्तवमें कविता वही है जो मानवकी आत्मोन्नतिका पथ प्रशस्त रूपसे आलोकित कर सके।)

इन विभिन्न प्रकारकी रचनाओकी प्रणयन-पद्धतियाँ भी विविध रही हैं। बनारसीदासजीने भी विषयानुसार कई पद्धतियाँ स्वीकार की हैं। नीतिप्रधान रचनाओमें बात एकदम सीधी सक्षेपप्रधान समास पद्धतिसे कह देते हैं। उनकी इस पद्धतिमें रोचकताका अभाव कदापि नही होने पाता। नीति एव उपदेशमय रचनाओमें बनारसीदासजीपर सस्कृत-कवियो-जैसी समास-पद्धतिका पूरा प्रभाव रहा है। उनका 'सूक्तमुक्तावली' प्रकरण तो प्रसिद्ध कवि सोमप्रभ (श्वेताम्बर) कृत सस्कृतकी 'सूक्तमुक्तावली' (सिन्दूर प्रकर) का अनुवाद ही है। बनारसीदासजीकी रचना-शैलीमें भाव-प्रेपणताकी अद्भुत क्षमता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> वरु[1] दरिद्रता होउ, करत सज्जन कला,
> दुराचार सों मिलै, राज सो नहि भला,

१ बनारसी-विलास, सूक्त मु०, ६६।

ज्यों शरीर कृश सहज, सु सोभा देत है,
सूजी थूलता धरै, मरन को हेत है॥

हिन्दी साहित्यमें अद्यावधि जितने भी साहित्यकारोंने नीति-प्रधान रचनाएँ की है प्राय सभीमें समासप्रधान शैलीको अपनाया गया है। दोहा, पद, कुण्डलियाँ और कवित्त-सवैया इन छन्दोंको ऐसी रचनाओं-में अपनाया गया है।

आध्यात्मिक रचनाओंमें कवियोंने प्राय पद पद्धतिको ही अपनाया है। दोहामें आत्मतत्त्व-विवेचनकी क्षमता कम ही रहती है। महात्मा कबीर-दासजीके अद्भुत गाम्भीर्यसे परिपूर्ण पद आज भी जनताके हृदयहार बने हुए है।

१ काहे री नलिनी तू कुमिलानी ··· ···आदि
···· ··· ····

२ सन्तो भाई आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बांधी। आदि
·· ···

३ हरि बिन नैऊ बिराने ह्वै है
फाटे नाक न टूटे कान, कोदऊ को भुस खै है। आदि

इसी प्रकार सूर और तुलसीके भी अनेक मार्मिक उद्धरण दिये जा सकते है। जैन कवियोंने भी अध्यात्म प्रधान पदोंकी भारी मात्रामें रचना की है। भाव-प्रेषणता और भाषा-सारल्य इन पदोंकी अपनी अनोखी विशेषता है।

दार्शनिक रचनाओंमें कवियोंने प्राय तार्किक पद्धतिको ही अपनाया है। जिसमें सरसता प्राय लुप्त होती गयी है। कवि कवि न रहकर एक दार्शनिक हो गया है। क्या कबीर क्या तुलसी और क्या बनारसीदासजी ये सभी कवि जब दार्शनिक विवेचनोंमें उलझे हैं तभी इनकी शैलीका प्रवाह और प्रसाद-माधुर्य गुण कवितासे विलग हो गये हैं। ऐसी रचनाओंमें कृत्रिमता और प्रयत्नसाध्यतासे बचा नहीं जा सकता। अत रचना-शैली भी स्वाभाविक नहीं रह सकती है। बनारसीदासजीकी कर्म छत्तीसी, उपादान निमित्तकी चिट्ठी आदि पद्य गद्यमय रचना इसका प्रमाण है।

अर्धकथानक

(जैन सम्प्रदायमें कविवर बनारसीदासजीकी प्रसिद्धि उनके अध्यात्म-ग्रन्थ 'समयसार'के कारण है और जैनेतर समाजमें तथा सभी साहित्यिक वर्गोंमें उनकी आत्मकथा 'अर्धकथानक' के कारण। 'समयसार'की रचना जैन अध्यात्मकी दृष्टिसे की गयी है और 'अर्धकथानक' एक ऐसी सरल शुद्ध एवं निर्लिप्त भावसे रची गयी पद्यबद्ध आत्मकथा है जिसपर प्रत्येक वर्ग एव धर्मके पाठककी आत्मीयता अनायास ही हो जाती है। अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने इसका प्रणयन, किसीभी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग अथवा जातिकी संकुचित सीमाओंसे सर्व पृथक् रहकर, निश्छल मानवताके सात्त्विक धरातलसे ही किया है।) कविवरका ५५ वर्षोंका घटनाबहुल जीवन इस आत्मकथामें अत्यन्त स्वाभाविक एव आकर्षक पद्धतिसे वर्णित है। आपने मनुष्यकी आयु ११० वर्षकी अनुमानित की थी इसीलिए स्वयके ५५ वर्षोंका जीवनवृत्त लिखकर इस कृतिका नाम 'अर्धकथानक' रखा। यह रचना अगहन सुदी पचमी सोमवार सवत् १६९८ को समाप्त हुई है। बनारसीदासजीका देहान्त इस रचनाके कुछ ही समय पश्चात् सवत् १७०० के अन्तमें हो गया था अत वे अपना दोष डेढ़-दो वर्षोंका जीवनवृत्त और न लिख सके। एक सच्ची आत्मकथाकी कसौटी आत्मप्रकाशन (निश्छल रूपसे) है, आत्मगोपन नहीं। १७वीं सदीमें हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था कितनी जटिल एव बोझिल थी। अन्ध विश्वासों, बहिष्कारों और आडम्बरित क्रियाकाण्डोंके कारण समाज फँसा कराह रहा था, यात्रीदलके लिए मार्गादिकमें कैसे-कैसे सकटोंका सामना करना पड़ता था। राजधानीसे दूर छोटे छोटे नगरों और क़स्बोंमें नवाबोंके नागरिकोंपर कैसे अमानुषिक अत्याचार होते थे। नागरिकोंको धन जनकी रक्षाके लिए महीनों और वर्षों बाहर रहकर कितना कष्टमय जीवन यापन करना पड़ता था। आदि बातोंपर इस आत्मकथा-द्वारा अत्यन्त प्रामाणिक चर्चा की गयी है। इतिहास भी जिन तथ्योंसे दूर ही रह गया है कविवरकी यह आत्मकथा उनपर सुन्दर प्रकाश डालती है।

बनारसीदासजीने 'अर्धकथानक' में अपनी दुर्बलताओंका नि सकोच-भावसे खुलकर वर्णन किया है। वे अपने व्यक्तिगत जीवनमें जैसे कुछ थे उसी रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो गये। अपनी भूलों, दुर्बलताओं और असफलताओंके इतने स्पष्ट विवेचनपर समाजमें कितनी कटु आलोचना

आत्मकथा यद्यपि व्यक्तिकी जीवन-घटनाओ, प्रभावो एव कार्य-कलापोंसे परिवेष्टित होनेके कारण शुष्क-सी लग सकती है, परन्तु योग्य लेखक घटनाओको बिना अतिरजित किये हुए भी अपनी सरल-निश्छल अभिव्यक्ति-द्वारा अत्यन्त रोचक बना देते हैं। आत्मकथाएँ बहुधा गद्यमें ही होती हैं। कविवर बनारसीदासजीने सरल-सरस पद्योमें इसकी रचना करके एक अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श उपस्थित कर दिया है। पाठक अर्ध-कथानकको पढ़कर कहीं भी भावावेश, अतिरजना, शब्दाडम्बर, दुर्बोधता आदि नहीं पाते हैं। [1]"व्यर्थके विस्तारका तो 'अर्धकथानक'में कहीं पता ही नहीं चलता। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा, भाव, सहृदयता और उपयोगी विवरणोंसे भरा अर्धकथानक न केवल हिन्दी साहित्यका ही वरन् भारतीय साहित्यका एक अनूठा रत्न है। बनारसीदासकी आत्मकथाका सम्बन्ध राजमहलोंसे न होकर मध्यम व्यापारी वर्गसे है जिसे पग-पगपर कठिनाइयो और राजभयसे लडना पडता था। इसमें साहसकी आवश्यकता थी और बनारसीदास और जिस वर्गमें वे पले थे उसमें यह साहस था इसीलिए उन्हें कोई कुचल न सका।" कविवर बनारसीदासजीने अद्भुत सरलता, विनय एव दृढताके साथ भारी अर्थाभाव एव कौटुम्बिक वैषम्यमें जीवन यापन किया। व्यापारिक असफलताओ और सन्तान-क्षयकी तो उनपर जीवन-भर असह्य चोटें पडती रहीं फिर भी वे अपने साहसी जीवनसे विरक्त नही हुए।

कविवर बनारसीदासने अर्धकथानकमें अपना जीवनवृत्त तो दिया ही है साथ ही तात्कालिक सामाजिक धार्मिक एव राजनैतिक परिस्थितियोके भी बडे महत्त्वपूर्ण सकेत दिये हैं। १७वीं सदीमें युरोपीय यात्री भी इस देशमें विभिन्न मार्गोसे यात्री एव व्यापारीके रूपमें आये। उन्होने भी इस देशके रीति-रिवाज, सडको एवं प्राकृतिक तथा भौगोलिक विशेषताओका वर्णन किया, परन्तु इस देशके वैविध्यको देखते हुए उनका ज्ञान सीमित था। इस देशकी प्रथाओं, वेशभूषा एव उत्सवोंका वर्णन भी उनका वास्तविक नहीं होता था क्योकि थोडा-बहुत ही मुश्किलसे वे देख पाते थे और तो दूसरोंसे सुन-सुनाकर ही समझते थे और लिख देते थे। बनारसीदासजीने अर्धकथानकमें यथावसर इन सभी बातोका वास्तविक उल्लेख किया है। जैन तीर्थ शिखर सम्मेदजीकी यात्राका, गंगास्नानके लिए बनारस जाने-

---

१ 'अर्धकथानक', पृ० १८, डॉ० मोतीचन्द।

वाले व्यक्तियोंका, रोहतकपुरकी यात्राका और अनेक बारके व्यक्तिगत एवं कौटुम्बिक भ्रमणका स्वयं अनुभूत वर्णन बनारसीदासजी ने किया है। उनके समयमें सामूहिक यात्राएँ चार-चार छह छह महीनेकी होती थीं। यात्री घरबारसे इतने लम्बे समयके लिए वियुक्त होते समय यही कह जाते थे यदि भगवान्ने मिलाया तो फिर मिलेंगे अन्यथा बिछुड़े ही समझो। यात्राके अनेक संकट उन्हें ऐसा कहनेको विवश करते थे। ये यात्राएँ पैदल, बैलगाड़ियोंपर तथा घोड़ों और ऊँटोंपर होती थीं। यात्रा निरापद नहीं होती थी इस सम्बन्धमें कविवरकी रोहतकपुरकी सतीदेवीकी यात्राका वर्णन देखिए—

> [1]"सैंतीसे संवत की बात रोहतग गये सती की जात।
> चोरन्ह लूटि लियो पथ मॉहि, सर्वस गयो रह्यो कछु नाहिं॥
> रहे वस्त्र अर दंपति देह, ज्यों त्यों करि आये निज गेह।
> गये हुते मांगन कों पूत, यहु फल दीनों सती अऊत॥"

कविवर बनारसीदासजीके पिता खरगसेनजीका पैसे-पैसेसे सपत्नीक लुट जाना तात्कालिक यात्रा-सम्बन्धी चोर-संकटका स्पष्ट प्रमाण है। जनतामें देवी-देवताओंसे सन्तान-याचनाका अन्धविश्वास कितना प्रबल था कि खरगसेन-जैसे विवेकी व्यक्तिपर भी इसका प्रभाव पड़ा। बनारसमें पार्श्वनाथके यक्षने पुजारीको प्रत्यक्ष दर्शन देकर भी एक भविष्यवाणी की थी कि इस बालकका नाम पार्श्वजन्म स्थानके नामपर (बनारसी) रख देनेसे इसके दीर्घायु होनेमें कोई चिन्ता न रहेगी। कविवरके माता-पिताने किया भी ऐसा ही और कविका नाम बनारसीदास रख दिया।

बनारसीदासजी स्वयं अनेक प्रकारके अन्धविश्वासों और प्रलोभनोंमें फँसे थे। जैन धर्मानुसार उन्हें किसी प्रकारके बाह्य प्रलोभन या अन्ध-विश्वासमें न आना चाहिए था, परन्तु आर्थिक दबाव और व्यसन-प्रियता मनुष्यको ऐसे ही कामोंकी ओर मोड़ देते हैं जिनसे उसे बिना किसी विशेष पुरुषार्थके अटूट धन प्राप्त हो सके। सदा शिवके बालका एक वर्ष पर्यन्त कविने पूजन किया और सन्यासीके दिये हुए मन्त्रका पाखानेमें बैठकर जप भी साथ-साथ किया। जब वर्ष पूर्ण हो चुका और सन्यासीके कथनानुसार बनारसीदासजीको प्रतिदिन तो क्या किसी भी दिन एक स्वर्ण दीनार अपने द्वारपर पड़ी न मिली, तो वे अत्यन्त निराश हुए और अन्धविश्वासको

१ 'अर्धकथानक', ७८–७९।

सारहीनताका गहरा अनुभव किया।

(श्री जिनेन्द्रदेव राग-द्वेषसे सर्वथा परे एवं नितान्त अपरिग्रही हैं। बनारसीदासजीने कोल (अलीगढ़की तहसील) के जैन मन्दिरमें जिन-प्रतिमासे धन-याचना की और धन-प्राप्ति होनेपर पुनः यात्राका संकल्प भी किया। 'सर्वस्व दास जगत्'का कविपराग एक लम्बे समय तक भारी प्रभाव रहा।) वास्तवमें बनारसीदासजीका जीवन यदि व्यापारिक असफलताओं और अर्थाभावकी चोटोंसे जर्जर न होता तो वे हिन्दी संसारको और भी आगे कितने अनूठे ग्रन्थ-रत्नोंसे उपकृत करते।

(व्यक्तिगत दुर्व्यसनों, अनुचित प्रेम-व्यापारों एवं जीवनपर उनके कटु-प्रभावोंका बनारसीदासजीने निःसंकोच वर्णन किया है। एक भोले बालक-जैसी निश्छल विवरण-पद्धतिसे ही बनारसीदासजीने स्वात्म की विषयासक्त प्रवृत्तिका वर्णन किया है। कविवर बनारसीदासका जीवन पौराणिक पुरुषों जैसी अतिरंजनाओं, चमत्कारों एवं अलौकिक महत्ताओंका पुलिन्दा नहीं है, उसमें सर्वत्र एक लौकिक मानवकी लौकिक परिस्थितियोंके बीच पतित-उन्नत जीवनधारा प्रवाहित हो रही है।) कविवर बनारसीदासजी कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभासम्पन्न एवं प्रत्युत्पन्नमति थे अतः उनमें बाल्यकालसे ही व्यापारिक कुशलता एवं काव्य-रचनाके बीज अंकुरित हो उठे। जहाँ वणिकोंके उदात्त भाव जगे वहाँ उनकी यौन-प्रवृत्तियाँ भी शीघ्र ही प्रस्फुटित हो उठीं। १५ वर्षकी अल्पवयमें ही वे प्रेम व्यापारमें पड़ गये। उनके इस व्यसनने उनमें इतनी निर्लज्जता और उन्माद भर दिया कि वे माता-पिता, गुरुजन और लोक लज्जाको सर्वथा तिलांजलि दे बैठे।

[1]"पिता चहै विद्या में रमै, सोमद से मसागने भमै।
तजि कुलकान लोक की लाज, भयो बनारसि आसिखबाज॥
करै आसिखी धरि मन धीर, दरद बन्द ज्यों सेख फकीर।
इक टक देखि ध्यान सो धरै, पिता आपने को धन हरै॥
चोरै चूनी मानिक मनी, आनै पान मिठाई घनी।
भेजै पेस कसी हित पास, आप गरीब कहावै दास॥"

बनारसीदासजीने अपनी विषयासक्तिकी तीव्रताका स्वयं ही स्पष्ट उल्लेख किया है। घरको चोरी करके किसी प्रेयसीके लिए पान और मिठाई भेजना, सदा उसीके ध्यानमें डूबे रहना और काव्य प्रतिभाका उप-

१ 'अर्धकथानक' १७०,१७१,१७२।

आपके ग्रन्थोंमें जहाँ भी विषय-चयनादिमें त्रुटि हुई है आपने उसकी कटु आलोचना आगे चलकर स्वयं ही की है। उक्त पंक्तियोंमें आपने अपनी रचना और उसके कारण बननेवाली स्वयंकी खोटी कुकविपूर्ण कवित्व शक्तिका स्पष्ट उल्लेख कर आजके कवियोंके सम्मुख निश्चित रूपसे एक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया है।

बनारसीदासजीने केवल अपनी जीवनकी घटनाओंके विवरण-द्वारा ही अपनी मानवीय दुर्बलताओंका अनावरण नहीं किया, अपितु अपने अवगुणोंका स्वतन्त्र रूपेण स्पष्टोल्लेख भी किया है। निश्चित रूपसे उनके मनमें अपनी उच्छृंखल यौन प्रवृत्तियों, लोभ दशा और मिथ्याभाषणपर भारी आत्म-ग्लानि थी। वे अब प्रायश्चित्तके लिए इतने विकल हो उठे थे कि अपने समाजके सम्मुख और आनेवाली पीढ़ियोंके आगे अपना स्खलित-गलित जीवन खोलकर रख दिया और हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तकी 'कैकेयी' की भाँति मानो प्रायश्चित्तके दृढ़ स्वरमें विकल हो उठे –

"ठहरो, मत रोको मुझे कहूँ सो सुन लो।
पाओ यदि उसमें सार, उसे सब चुन लो॥
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ।
राई-भर भी अनुताप न करने पाऊँ॥"

और

"थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके।
जो कोई जो कह सके, कहे क्यों चूके॥
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे।
हे राम दुहाई करूँ और क्या तुझसे॥"

बनारसीदासजी भी कैकेयीकी भाँति मानव समाजसे यही निवेदन करते हैं कि मुझे कोई किसी भी दृष्टिसे देखे परन्तु मेरा मनुष्यत्व न छीने अर्थात् मैं एक साधारण मानव हूँ जिससे भूलें, प्रमाद तथा अपराध सम्भव हैं। [1]"मुझमें क्रोध, मान और माया, ये जलरेखाके समान हैं परन्तु लक्ष्मीका लोभ विशेष मात्रामें है। घर छोड़नेका कभी मन नहीं होता। जप, तप, संयममें कोई रुचि नहीं, दान तथा देवपूजनमें भी प्रीति नहीं। थोड़े-से ही लाभमें भारी हर्षानुभव होता है और थोड़ी-सी हानि होनेपर

१ 'अर्धकथा', ६५२–६५६।

गहरी चिन्तामें डूब जाता हूँ। निन्द्य और मिथ्या भाषण तथा कल्पित चर्चा करनेमें भी लज्जित नही होता हूँ, एकान्त पाकर पूर्ण स्वैराचार करता हूँ एव अकथनीय (अश्लील) बातें करता हूँ। यह बनारसी अदृष्ट एव अश्रुत बातोंको बना-बनाकर कहता है। सभामें भी कुकथा कहता है। हास्य प्रसग पाकर प्रसन्न होता है और मिथ्या चर्चा किये बिना सन्तोष नहीं होता। अकारण सहसा तीव्र भयसे भर जाता है।" कविवर अपनी इन हीनताओंकी चर्चाके पश्चात् कहते हैं—

"यह बनारसीजीकी बात, कही थूल जो हुती विख्यात।
और जो सूछम दसा अनत, ताकी गति जानै भगवत।
जे जे बातें सुमिरन भईं, ते ते वचन रूप परनईं॥"[1]

(अर्थात् जो बातें मुझे स्थूल बुद्धिसे स्मरण आ सकी उनका उल्लेख कर दिया। इसी प्रकारकी छोटी मोटी और भी अनेक बातें जीवनमें अवश्य घटी होगी परन्तु प्रत्येकका स्मरण साधारण मनुष्यकी स्मरण-शक्तिके परे है। घट-घटकी जानना तो केवलीका ही कार्य है।)

बनारसीदासजीकी 'आत्मकथा' उनके प्राय सम्पूर्ण जीवनपर प्रकाश डालती है। द्वितीय अध्यायमें आपकी जीवनीका सविस्तार वर्णन हुआ है अत यहाँपर पिष्टपेषण करना अनावश्यक ही है। अपने जीवनके कटु एव मधुर दोनो ही पक्षोको कविने प्रस्तुत किया है। (अवगुणोकी भाँति अपने सद्गुणोका भी कविने बडी विनम्रतासे उल्लेख किया है। यदि बनारसीदासजी केवल अपनी त्रुटियाँ बताकर रह जाते तो उनकी आत्मकथा अपूर्ण एव विकलाग ही कही जाती। एक सच्ची आत्मकथामें व्यक्तिके गुण-दोषोंकी यथावसर नि शक चर्चा होनी ही चाहिए। अपनी प्रमुख विशेषताओंके सम्बन्धमें बनारसीदासजी लिखते है—"भाषा कविता और अध्यात्म ज्ञानमें अनुपम है। क्षमावान् एव सन्तोषी है। सस्कृत और प्राकृतका शुद्ध-वाचन करता है। विविध देश-भाषाओका ज्ञाता है। कवित्त पढनेकी अनोखी कलासे परिपूर्ण है। सासारिक प्रपचोंसे दूर है। मिष्टभाषी तथा सभीसे प्रीति रखनेवाला है। जैन धर्मका दृढ विश्वासी है। सहनशील है, किसीसे कटुवचन नहीं बोलता है। चित्त स्थिर है, डावाँडोल नहीं। हृदयमें दुष्टता नहीं है। पररमणीका त्यागी है तथा और भी किसी दुर्व्यसनमें रुचि नही है। हृदयमें धार्मिक दृढ श्रद्धान है।" उक्त सम्पूर्ण विशेषताएँ कविवरके

---

१ 'अर्धकथानक', ६४६–६५१।

जीवनके अन्तिम समयमें ही प्रविष्ट हो सकी होगी। वे जीवनमें दीर्घकाल तक कौटुम्बिक, शारीरिक एवं आर्थिक दबावके कारण अपने स्वभावमें निखार न ला सके। आगे चलकर संसारके इन्हीं कटु अनुभवोंने उन्हें सच्चे मनुष्यत्वकी ओर मोड़ दिया। पाठक अनुभव करेंगे कि कविने अपनी किशोरावस्था और युवावस्थामें जीवनको जिन दुर्व्यसनों, अन्ध विश्वासों और मानवीय दुर्बलताओंके चतुष्पथपर स्वच्छन्द छोड़ दिया था, आगे चलकर प्रौढ़ावस्थामें उसने अपनी उन सभी दुर्बलताओंपर आशातीत विजय प्राप्त की और आवृत अन्य अनेक आत्मगुणोंको प्रकाशित भी किया[1]। वे जैसे हैं वैसे ही अपनेको प्रकट करना चाहते हैं, कुछ भी छिपानेका प्रयत्न नहीं करते। यदि उन्हें ख्याति, लाभ, पूजाकी चाह होती तो वे बहुत सहजमें पुज जाते और उस समयकी हजारों, लाखों भेंटोंको अपने बाड़ेमें घेर लेते। न उन्होंने स्वयं अपनी महत्ताके गीत गाये और न अपने गुणी मित्रोंसे गवानेका प्रयत्न किया। त्यागी व्रती बननेका भी कोई ढोंग नहीं किया। आगरेमें वे एक साधारण गृहस्थकी तरह अपनी पत्नीके साथ अन्त तक आनन्दसे रहे—'विद्यमान पुर आगरे सुख में रहे सजोप।'

कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथा सभी दृष्टियोंसे एक सच्ची आत्मकथाकी कसौटीपर खरी उतरती है। आपकी इस आत्मकथाके सम्बन्धमें आधुनिक युगके प्रसिद्ध विद्वानोंने भी अपने गहरे अनुमोदन युक्त विचार व्यक्त किये हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, जिनका अधिकांश जीवन आत्मकथाओंके अध्ययन मननमें ही व्यतीत हुआ है, लिखते हैं—

[2]"आत्म-चित्रणमें दो ही प्रकारके व्यक्ति-विशेष सफलता प्राप्त कर सकते हैं, या तो बच्चोंकी तरह भोले-भाले आदमी, जो अपनी सरल निरभिमानतासे यथार्थ बातें लिख सकते हैं अथवा कोई फक्कड़ जिसे लोक-लज्जासे भय नहीं।"

फक्कड़शिरोमणि कविवर बनारसीदासजीने तीन सौ वर्ष पहले आत्मचरित लिखकर हिन्दीके वर्तमान और भावी फक्कड़ोंको मानो न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रतापूर्वक अपनेको कीट-पतंगोंकी श्रेणीमें रखा है। 'हमसे कीट पतंग की बात चलावै कौन'। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे आत्म चरितलेखकोंमें शिरोमणि हैं।'

---

1 'अर्धकथानक, पृ० १३ सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

2 'अर्धकथानक', पृ० १३ १४, सं० पं० नाथूराम प्रेमी, लेख० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी।

अर्धकथानककी शैली

अर्धकथानकमें सरलता, संक्षिप्तता, सरसता एवं प्रवाहमयताकी स्रोतस्विनी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। सत्य जितने ही सीधे ढंगसे प्रस्तुत किया जायगा उतना ही मार्मिक होगा। उसपर शब्दाडम्बर, आलंकारिकता एवं अनावश्यक विस्तारका भार पडते ही उसकी मार्मिकता उतनी नहीं रहती। कविवर बनारसीदासजीकी वर्णनशैलीमें न पर्वतीय नदियों-जैसी घर्घराहट और उतार-चढ़ाव है और न इस्तहारों-जैसी लचर एवं निर्जीव भाषाके कठघरेमें आबद्ध शुष्कता ही है। आपकी शैलीमें पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रयत्नशीलताका बोझिलपन भी नहीं है। जो कुछ भी है वह उनके सरल, निश्छल, मितभाषी, स्पष्ट एवं उदार व्यक्तित्वको अनायास ही व्यक्त करनेवाला प्रसाद गुण है। कविवरकी काव्य सरितामें आबाल-वृद्ध सभी प्रसन्न भावसे सन्तरण कर उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिए जिनमें कविने अपने दुःखदग्ध जीवनकी हृदयान्दोलिनी अभिव्यंजना की है —

"कही पचावन बरस लौं, बानारसि की बात।
तीनि बिवाही भारजा, सुता दोई सुत सात ॥६४२॥

नौ बालक हूए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यौं तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूठ से होइ ॥६४३॥

तत्त्व दृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भाँति।
ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौ उपसाँति ॥६४४॥

संसारी जानै नहीं, सत्यारथ की बात।
परिगह सौं मानै विभौ, परिगह बिन उतपात ॥६४५॥"

व्यक्तिगत दुःखका साधारणीकरण कविने अत्यन्त मार्मिकतासे किया है। बडे विद्वान् एवं विचारक भी सन्तान हानि एवं पत्नी-मरणकी असह्य चोटोंसे अपने विवेकको तिलांजलि दे देते है, एक साधारण मनुष्यकी भाँति बात-बातमें निराश एवं असहाय हो उठते हैं। बनारसीदासजीपर लगातार नौ सन्तानों और दो पत्नियोंके आकस्मिक मरणकी हृदयविदारिणी विभीषिकाका प्रकोप हुआ परन्तु उन्होंने इससे एक महान् सन्तकी भाँति जीवन मन्त्र ही सीखा। उनमें निराशा, असहायता एवं दीनताने प्रवेश नहीं किया वरन् उनका अन्तस् अपने चरम धरातलपर आकर मुखरित हो उठा।

"ज्यों ज्यों जाकौ परिगह घटै, त्यौं तार्कों उपसांति ।"

मानवात्मा अपरिग्रहकी दशामें ही वास्तविक विकासकी ओर अग्रसर हो सकती है यह जीवन-मन्त्र उनके रग-रगसे प्रस्फुटित होने लगा। इस प्रकार अर्धकथानकमें कविवरकी अत्यन्त पुष्ट कोटिकी भावुकताकी भी फुहार है जो उसकी आकर्षक-वृद्धिमें भारी सहायिका है। बनारसीदास-जीकी शैलीका प्रसादगुण प्राय उनकी सभी रचनाओमें देखा जा सकता है। कविवरकी कथनशैलीमें संक्षिप्तता और तीव्र भाव प्रेषणीयता अद्भुत कोटिकी है। असह्य दुःखको भी कविने सरल किन्तु अत्यन्त हृदयस्पर्शी शब्दो-द्वारा व्यक्त किया है। उनकी शैलीका सारल्य किसी भी दशामें उत्तेजना अथवा भावावेशसे भाराक्रान्त होकर अस्वाभाविक नहीं हुआ है। देखिए—

"इहि अवसर सुत अवतर्यौ, बानारसि के गेह।
भव पूरन करि मर गयौ, तजि दुरलभ नर देह ॥"

सरलतामें कितना आकर्षण एव प्रेषणीयता होती है यह कविवर बनारसीदासजीके अर्धकथानकमें पदे-पदे देखा जा सकता है।

पाठानुसन्धान

अबतक अर्धकथानककी ५ हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानोंसे प्राप्त हो सकी हैं।

१ भोलेश्वर (बम्बई) के पचायती मन्दिरकी प्रति जो वि० स० १८४९ की लिखी हुई है। यह प्रति अन्य प्रतियोकी अपेक्षा शुद्ध है।

२ जैन मन्दिर धरमपुरा देहलीकी प्रति जो आषाढ बदी ७ सवत् १९०२ की लिखी हुई है।

३ बैदवाडा देहलीके मन्दिरकी प्रति। लिखनेका समय नहीं दिया है, प्रति बहुत ही अशुद्ध है। इसमें कुल पद्य ६६२ ही हैं।

४ एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ताके ग्रन्थ सग्रहकी ७१७६ नम्बरकी, बिना लेखन तिथिकी प्रति।

५ स्याद्वाद विद्यालय बनारसकी स० १९४८ की लिखी हुई प्रति।

इन पाँचो प्रतियोका उल्लेख प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने अर्धकथानक-में किया है और उसके सम्पादनमें इनके आधारपर ही कार्य किया है। इन प्रतियोंके अतिरिक्त मुझे आगराके ताजगजके बड़े जैन मन्दिरमें अर्ध-

कथानककी दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश एक प्रतिका केवल अन्तिम पत्र मिला है और दूसरीका केवल आरम्भिक पत्र। भारी प्रयत्न करनेपर भी इन दोनो प्रतियोके शेष अन्य पत्र प्राप्त नही हो सके हैं। इन दोनो ही पत्रोके चित्र विद्वानोके सम्मुख प्रस्तुत हैं। मेरा विश्वास है कि इन प्रतियोको किसी जैन भण्डारमें मिलना अवश्य चाहिए। अन्य प्रामाणिक प्रतियोके अभावमें पाठानुसन्धान नये सिरेसे सम्भव नहीं है। प्रेमीजीने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक एव सावधानीसे अपने परिवर्तित सस्करणमें अर्ध-कथानकका पुन पाठानुसन्धान भी कर दिया है।

परम्परा और प्रणालियाँ

हिन्दीमें आत्मकथा लेखनकी परम्परा कविवर बनारसीदासजीसे पूर्वकी नही है। इस दिशामें बनारसीदासजीने सर्वप्रथम प्रवेश किया और उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। जहाँतक अन्य भारतीय या भारतमें प्रचलित अभारतीय भाषाओमें आत्मकथा साहित्यकी बात है, बनारसीदासजीसे पूर्व हमें कही भी स्वस्थ आत्मकथाके दर्शन नही होते। दो-तीन मुसल्मान सम्राटोकी अरबी फारसीमें लिखी गयी आत्मकथाओंके अतिरिक्त वस्तुत आत्मकथाके रूपमें लिखी गयी जीवनी हमें अन्य भाषाओमें प्राप्त नहीं होती। यो आत्मकथा लेखनकी प्राचीनता बतानेके लिए हम खीचतान कर बौद्ध साहित्यके थेरगाथा (खुद्दक निकायका आठवाँ अध्याय) जिसमें बौद्ध भिक्षुओके जीवनवृत्त नाममात्रके लिए वर्णित हैं, चर्चा कर सकते हैं। उक्त खुद्दक निकायके नवम अध्यायमें बौद्ध भिक्षुणियोंके पद्यबद्ध उल्लेख हैं। इन उल्लेखोको जीवन चरित तो कदापि नही कहा जा सकता। इनमें वशावली, जन्मपरिचय, शिक्षा, स्वयके गुण दोषोका निश्छल उल्लेख आदि आत्मकथाके आवश्यक तत्त्वोका प्राय सर्वथा अभाव है। थेरगाथाके बौद्ध भिक्षुओंके उल्लेखोको हम जीवनके कुछ स्फुट अनुभव ही कह सकते हैं 'जीवन-चरित' या 'आत्मचरित' नहीं।

सस्कृत साहित्यमें भी आत्मचरित लिखनेकी परम्पराका अभाव रहा है। हाँ, गद्यकार बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बाणने आरम्भमें ही अपने जीवनकी कुछ घटनाओका उल्लेख किया है। उल्लेख यद्यपि सक्षेपमें ही है परन्तु इससे भी बाणकी बाल्यावस्था, देशाटन, परिवार, ज्ञान-पिपासा एव युवावस्थाकी सुन्दर झलक मिल जाती है।

प्राचीन संस्कृत साहित्यकी विशाल परम्परामें आत्मकथा लेखनका सर्वथा अभाव रहा है, यह सर्वविदित है। 'हर्षचरित' ही एक ऐसा गद्यमय चरित-प्रधान ग्रन्थ है जिसमें हमें एक सुप्रसिद्ध साहित्य-मनीषीके जीवनकी बहुमुखी प्रवृत्तियोकी सक्षिप्त किन्तु गहरी झलक मिलती है। आत्म-चरितोंके इतने गहरे अभावकी बात केवल बौद्ध, जैन एव वैष्णव-सस्कृत साहित्य तक ही सीमित नही रही। हिन्दी, बंगला, मराठी एव बिहारी आदि प्रान्तीय भाषाओमें भी यही बात है। हम इसके कारणोपर विचार करते हैं तो एक सबसे बडी बात जो सामने आती है वह है भारतीय सन्तों, साहित्यिको एव विद्वानोमें आत्मगोपनकी गहरी प्रवृत्ति। ये अत्यन्त महान् होनेपर भी स्वत को अत्यन्त लघु एव नगण्य मानते रहे। अपने पूर्ववर्ती महापुरुषोपर विशाल काव्य ग्रन्थोका सहजमें ही प्रणयन कर सके परन्तु स्वयके सम्बन्धमें दो पक्तियाँ लिखना भी पाप समझते रहे। प्राय प्रत्येक कविने अपनी रचनाके आरम्भमें स्वयको अत्यन्त क्षुद्र, अल्पमति एव नगण्य कहा है। कवियोकी इसी प्रवृत्तिका परिणाम है कि आजका जिज्ञासु पाठक उनके सम्बन्धमें कुछ नही जानता है और जानता भी है तो कुछ अटकलोके आधारपर, जिनपर सहसा विश्वास नही किया जा सकता। काश, ये कवि यह जान पाते कि जितना इनकी रचनाओका महत्त्व होगा उतना ही उनके स्वयके जीवन-वृत्तका भी, तो आज भारतीय साहित्यकी अभिवृद्धि कुछ और ही अनूठी होती।

मुसलमानोने इस देशपर दीर्घकाल तक शासन किया। इनमें-से कई शासकों एवं सम्राटोने अपने आत्मचरित (फ़ारसीमें) भी लिखे। इन आत्मचरितोमें वास्तवमें इतिहास, आत्मकथा और तात्कालिक राजनीतिका अच्छा मेल है। ऐसे साहित्यिकोंमें अमीर खुसरोका नाम सर्वप्रथम आता है। खुसरो कवि, सैनिक, गायक एव सद्विचारक थे। उनकी कविताका प्रभाव जनतापर अत्यधिक पड़ा। अपने जीवनकालमें अनेक साम्राज्य उन्होने देखे। पाँच सुलतानोंसे तो उनका निकट सम्पर्क भी रहा।

[1]"अपने जीवनमें उन्होने अनेक उतार-चढ़ाव देखे, सुलतानोकी विला-सिता और रागरग देखा तथा तत्कालीन बर्बरताओपर आँसू बहाये। अपने

१ 'अर्धकथानक,' पृ० १५, स० प्रेमी, लेख० 'एक असफल व्यापारीकी आत्म-कथा'-द्वारा डॉ० मोतीचन्द।

दीवानेकी दीवाचोंमें खुसरोने खुलकर अपनी रामकहानी कही है और उनकी ऐतिहासिक मसनवियोंमें भी आँखों देखी अनेक घटनाओंका जिक्र है। ऐजाज खुसरोमें उनके पत्रोका संग्रह है जिनसे मध्यकालीन जीवनके अनेक छोटे-मोटे अंगोंपर भी अच्छा प्रकाश पडता है। यह सच है कि खुसरोने अलगसे कोई अपना आत्मचरित नहीं लिखा, पर दीवानोंके दीवाचो और ऐतिहासिक मसनवियोंमें उसने अपनी रामकहानी इतनी छोड दी है कि उनके आधारपर ही मध्यकालके इस महान् पुरुषका पूरा आँखों देखा चित्र खडा हो जाता है।" स्पष्ट है कि खुसरोने स्वतन्त्र कोई आत्मकथा नहीं लिखी। ऐतिहासिक मसनवियोंमें ही हमें उनके जीवनकी थोडी-बहुत झलक मिलती है।

मुसलमान सम्राटोंमें बाबर और जहाँगीरके आत्मचरित मिलते हैं। ये आत्मचरित सच्चे आत्मचरितोंकी कसौटीपर भी भारी मात्रामें खरे उतरते हैं। इनमें आत्मकथा एव तात्कालिक ससारकी विचित्रताओंका सुन्दर चित्रण मिलता है। बाबरके हृदयमें भारतीय सस्कृति घर न कर सकी। वह सदैव मध्य एशियाके लिए लालायित रहा। वह एक आक्रामककी भाँति आया और एक परदेशीकी भाँति रहा भी। भारत-वर्षके आचार-विचार एव कलाके लिए उसके हृदयमें आदर न था। जहाँगीर शिकारी एव घुमक्कड प्रकृतिका था। उसके हृदयमें शिकारकी अद्भुत लालसा रहती थी और इसमें किसीके द्वारा किसी भी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेपर उसका वध भी करवा देता था, शिकार बहकने-पर तो उसके क्रोधका ठिकाना भी न रहता था। इतनी क्रूरताके साथ ही दूसरी ओर उसमें प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्यानुराग एव अपार दयालुता भी थी। पशु-पक्षियोके प्रति उसे भारी प्रेम था। विभिन्न प्रकारके पुष्पोसे उसका मन अत्यधिक प्रसन्न होता था। जहाँगीरका आत्मचरित वस्तुत एक श्रेष्ठ आत्मचरित है। इसमें हम जहाँगीरको एक सामान्य मनुष्यकी भाँति जीवनके विभिन्न उतार-चढावोंमें उलझते-सुलझते हुए देखते हैं। जहाँगीरमें साहस और धैर्यकी कमी नहीं मिलती, उसने अपनी कम-जोरियोंका निर्भीकतापूर्वक चित्रण किया है जो एक सम्राट्से कम ही सम्भव है। जहाँगीरकी आत्मकथाके सफल अनुवादकर्ता मुन्शी देवीप्रसाद-जी उसकी विशेषताओंके सम्बन्धमें लिखते हैं,[1] "अकबर और शाह-

---

१ 'जहाँगीरनामा' (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक मुन्शी देवीप्रसाद भूमिका।

जहाँके इतिहास उनके नौकरोंके लिखे हुए हैं। उनमें कुछ खुशामद और अत्युक्ति भी है, पर जहाँगीरने अपना इतिहास आप लिखा है और ठीक लिखा है। लिखा भी ऐसा है कि पढकर आनन्द आता है, क्योंकि केवल इतिहास ही नहीं किन्तु न्यायनीति, लौकिक रीति, विद्याविनोद और नये सत्कारोंकी कितनी ही बातें इसमें आ गयी हैं। आश्चर्य है कि जो बादशाह आज तक लोगोंमें मौजी, विलासी, शराबी, शिकारी आदि कहा जाता है वह ऐसा विद्वान्, बुद्धिमान् और लिखने-पढनेमें सावधान हो कि उसकी लेखनीका एक-एक अक्षर ध्यान देने योग्य हो।" अपना रोजनामचा लिखनेकी चाल जहाँगीरके वंशमें ९ पीढी पहलेसे ही चली आ रही थी। अमीर तैमूर साहिब किरा जो जहाँगीरका आठवीं पीढ़ीमें दादा था, अपनी दिनचर्या जन्मसे मृत्यु पर्यन्त लिखकर सिरहाने रख छोडी थी। वह तुर्की भाषामें है जिसका अनुवाद फ़ारसी और उर्दूमें भी हो गया है। उसका नाम तुजक तैमूरी है।

उल्लेखनीय इन आत्मचरितोंके पश्चात् हम ऐसे आत्मचरितको पाते हैं जिसमें न सम्राटोंकी शान बान है और न बाण-जैसी चाटुकारिता। इस आत्मकथामें हम अपने-जैसे ही एक साधारण गृहस्थके जीवनकी, रंग-रंगीली, रसीली, विराग-भरी, साहसमय एवं परिस्थितियोंमें सामंजस्य बैठानेवाली अधित्यकाओं-उपत्यकाओंसे अवगत होते हैं। मनुष्यकी जीवन-लीलाका पूर्णतया अनावृत रूप हमें सबसे पहली बार इस आत्मकथामें ही प्राप्त होता है। एक ऐसा व्यक्ति जो खिलाडी है, कामी है, काम-पूर्तिके लिए चोर है, अन्धविश्वासी है, माता-पिताकी सीखकी पूरी उपेक्षा करनेवाला है और सबसे बढकर अर्थके लिए सदैव चमत्कारों, अन्धविश्वासों एवं परिस्थितियोंके पादाघातोंसे जीवन-कन्दुकको अत्यन्त विचलित करनेवाला है, जिसका व्यक्तित्व अत्यन्त विकृत सा हो गया है, हमारे सम्पर्कमें इस आत्मकथा-द्वारा प्रथम बार आता है। यह आत्मकथा है कविवर बनारसीदासकृत 'अर्द्धकथानक'। जहाँ कविमें यौवनकी उद्दाम तरंगोंके तीव्र थपेडे हैं, व्यापारिक असफलताकी गहरी निराशा है, अन्ध-विश्वासपर आस्था है, वहाँ उसमें गहरी सूझ, त्यागवृत्ति एवं अद्भुत अध्यात्मबल भी है जिसके द्वारा उसने अपनी समस्त दुर्बलताओंपर सहजमें ही विजय प्राप्त की है।

वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय भाषाओंमें वास्तविक आत्मकथाका श्रीगणेश

जयपुरनरेशके प्रति कहा गया दोहा तो प्रसिद्ध ही है। और भी ऐसे अनेक दोहे हैं जो कविकी जीवनी और अनुभवोंका मधुर सकेत देते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे ही।

इसके पश्चात् एक लम्बे समय तक हमें हिन्दीमें आत्मचरितोंका अभाव मिलता है। आधुनिक कालमें प० प्रतापनारायण मिश्र तथा प० राधाचरण गोस्वामीने आत्मचरित लिखना आरम्भ किया था परन्तु अपूर्ण ही छोड दिया। प० महावीरप्रसाद द्विवेदीने भी अपनी सक्षिप्त जीवनी लिखी है। श्यामसुन्दरदासजीने भी 'मेरी आत्म-कहानी' लिखी है परन्तु उसमें आत्मकथा-जैसी शालीनताका प्राय अभाव है। राहुलजी, गुलाबरायजी, हरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि, स्वामी दीनदयाल सन्यासीने भी अपने आत्मचरित लिखे हैं।

राजनीतिक पुरुषोंमें महात्मा गान्धी, बाबू राजेन्द्रप्रसादजी एव प० जवाहरलालजीने अपने आत्मचरित लिखे हैं जो आज भी हिन्दी जनता-में बडी रुचिसे पढ़े जाते है। महात्मा गान्धीका आत्मचरित मूल रूपमें गुजरातीमें लिखा गया है। उसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। यह आत्मचरित निश्चित रूपसे एक श्रेष्ठ एव सर्वप्रिय आत्मकथा है। हिन्दीके आधुनिक आत्मचरितोंमें बाबू राजेन्द्रप्रसादकी आत्मकथा सर्वोत्तम है। उसकी सरलता, निष्कपटता एव सादगी उसके सर्वोत्तम गुण हैं।

कुछ भी हो आज भी हिन्दीमें आत्मकथा साहित्य विशेष प्रगतिपर नही है। हमारे साहित्यकार, राजनीतिक एव विद्वान् इस ओर रुचि नही दिखा रहे हैं। सम्भवत ये अपनी मनोग्रन्थियोपर विजय नही पा सके हैं जो आत्मकथाके लिए सबसे पहली शर्त है। प्रत्येक व्यक्तिका जीवन कुछ आकर्षक एव प्रभावशाली घटनाओंसे परिपूर्ण रहता हैं अत उसका आत्मचरित यदि लिखा जाये तो वह भी साहित्यका निधि बन सकता है। विलायतमें अनेक वेश्याओं, चोरो, डाकुओ एव हत्यारोने भी अपने आत्म-चरित लिखे हैं। विदेशी आत्मचरितोंकी एक विस्तृत परम्परा है। प्रिंस क्रोपाटकिन, गोर्की, स्टिफन ज्विग, टालस्टाय एव एच० डब्ल्यू० नविनसनके आत्मचरित ससारके उत्तमोत्तम आत्मचरितोंमें अवश्य ही रखने लायक़ हैं। हिन्दीके विद्वानोंको भी इन आत्मचरितोंसे स्वत के लिए भारी प्रेरणा मिलेगी।

इस प्रकार आधुनिक युगमें आत्मचरितकी परम्परा कुछ विशेष प्रशंसनीय तो नहीं कही जा सकती परन्तु भविष्य उज्ज्वल है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आत्मचरितोंकी विभिन्न किन्तु विशृंखलित परम्पराके अध्ययनके साथ उनकी रचना-पद्धतिपर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। अद्यावधिक हिन्दीकी आत्मकथाओंकी शैलियों एवं विषय-योजनापर विचार करनेपर हमें पांच प्रकारकी आत्मकथाएँ प्राप्त होती हैं—

१ शुद्ध आत्मकथा, २ स्फुट जीवन घटनाएँ, ३ अप्रत्यक्ष रूपसे जीवन-संकेत, ४ किसी अन्यके प्रसंगमें कुछ स्वयंका उल्लेख, और ५ जीवनी क्रम, राजनीति एवं अन्य बातें अधिक।

प्रथम कोटिमें कविवर बनारसीदास एवं डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीकी आत्मकथाएँ आती हैं। इनमें सर्वत्र जीवनीका ध्यान रखा गया है। समाज, राजनीति एवं इतिहासकी चर्चा अति संक्षेपमें एवं गहरी आवश्यकता पड़नेपर ही की गयी। आत्मचरितका प्राधान्य सर्वत्र रहा है। सरलता और निश्छलता आद्यन्त है।

द्वितीय कोटिमें प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं बाबू गुलाबराय आते हैं। प्रथम दोके तो अनेक निबन्ध ऐसे हैं जो उनकी जीवनीपर भारी प्रकाश डालते हैं और बाबू गुलाबरायकी 'मेरी असफलताएँ' नामक पुस्तक उनकी प्रभावक जीवन घटनाओंसे सम्बन्धित है। बाबूजीकी असफलताएँ आजके नवयुवकोंको अपार साहस देनेमें समर्थ हैं। इसी कोटिमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीके अनेक लेख आते हैं, जिनमें उन्होंने अपने जीवनके कटुमधुर अनुभवोंकी प्रभावकारी चर्चा की है। तृतीय एवं चतुर्थ कोटिमें विहारी और रहीम कविके अनेक दोहे आते हैं। उक्त दोनों ही कवियोंने अपने समयके समाज, शासन एवं नागर जन-समाजके सम्बन्धमें गहरे अनुभव व्यक्त किये हैं। स्वयंपर क्या कैसी बीती इसका भी अप्रत्यक्ष रूपसे अनेक दोहोंमें उल्लेख किया है। विहारीका यह दोहा—

"वहकि वडाइ आपनी कत राचत मति भूल।
विनु मधु मधुकर के हिए, गडे न गुडहर फूल॥"

अवश्य ही उनके किसी गहरे अनुभवका अप्रत्यक्ष संकेत है। किसीको

दुष्टता भी उन्हें अवश्य ही गहरी खटकी होगी अन्यथा इतनी चुभती हुई अभिव्यंजना न होती—

"न ये विससि यहि लखि नये, दुरजन दुसह सुभाय ।
आटैं परि प्रानन हरत, कांटे लौं लगि पाय ॥"

रहीमको संसारका और जीवनके उतार-चढ़ावका गहरा अनुभव था । उनके दोहोंमें मानव जीवनकी विविध विचित्र दशाओंकी तलस्पर्शी अभिव्यंजना है । उनकी अभिव्यक्ति अनुभवजन्य है, यही कारण है कि आज भी वे बड़े आदर एवं आत्मीय भावसे पढ़े एवं अपनाये जाते हैं । किसी कुटिल स्वभावके व्यक्तिका चित्रण देखिए। बहुत सम्भव है कवि-स्वयंके साथ ही किसी दुष्टने ऐसी प्रवंचना की हो—

"जो रहीम ओछो बढ़ै, सो अति ही इतराय ।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥"

पंचम कोटिमें जवाहरलालजीकी 'मेरी कहानी' आती है । इसमें स्वयं जीवनीकी अपेक्षा अन्यान्य बातोंका अधिक उल्लेख है ।

प्रायः सभी आत्मकथाएँ गद्यमें ही लिखी गयी हैं । कविवर बनारसीदासजीकी ही एक ऐसी आत्मकथा है जो पद्यबद्ध है। आत्मकथा लेखक यदि कवि भी है तो निश्चित रूपसे उसकी जीवनी अत्यन्त आकर्षक होगी । गद्यमें कम आकर्षण है यह बात नहीं है सफल लेखक गद्यमें भी गहरा आकर्षण उत्पन्न कर देते है, परन्तु पद्यमें लालित्य एवं माधुर्य निराली कोटिके होते हैं । जीवनीके करुण, विषम एवं सरस स्थलोंको कवि सत्यकी पूर्ण रक्षाके साथ अपेक्षित विस्तारमें ही मोहक ढंगसे व्यक्त कर देते हैं ।

मोह-विवेकयुद्ध

'बनारसी नाममाला', 'बनारसी विलास', 'समयसार' एवं 'अर्धकथानक'-के अतिरिक्त 'बनारसी' नामवाली और भी कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं । इन रचनाओंके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है । कुछ विद्वान् उन्हें प्रसिद्ध कवि बनारसीदास कृत मानते हैं और अन्य विचारक इस मतका विरोध करते हैं । 'मोह-विवेकयुद्ध' कुछ स्फुट पद और 'मांझा' (१३ पद्योंकी एक रचना) ये तीन रचनाएँ विवादास्पद हैं ।

हिन्दीमें इन सवाद-रूपकोका प्रचलन श्री कृष्णमिश्र (भट्ट)-द्वारा संस्कृतमें रचे गये प्रबोधचन्द्रोदय नाटकके अनुकरणसे प्रारम्भ हुआ। इसकी रचना बारहवीं शताब्दीमें हुई। हिन्दीमें कविवर मल्लने सर्वप्रथम (१६वीं शतीमें) इसका भावानुवाद प्रस्तुत किया। ज्ञान सूर्योदय नाटक भी इसी समयका कुछ इसी प्रकारका प्रसिद्ध नाटक है। मल्लकविने अनुवादका नाम प्रबोधचन्द्रोदय—मोह-विवेकयुद्ध रखा। यह अनुवाद इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इसके पश्चात् कविवर लालदास और गोपालदासने भी इसीके आधारपर मोह-विवेकयुद्ध नामक रचनाएँ की। आगे चलकर प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासने भी उक्त तीनो कवियो (मल्ल, लालदास और गोपाल) की रचनाओके आधारपर मोह-विवेकयुद्धकी रचना की। जहाँतक इन रूपकोंकी कथावस्तुकी बात है, वह इन सभीमें एक-सी है, उसके सयोजनमें अवश्य ही कहीं-कहीं नाममात्रका स्थानान्तरण हो गया है।

विवेक नायक और मोह प्रतिनायक है। प्रतिनायक अपनी पूरी सैन्य-शक्ति लगाकर विवेकको परास्त करना चाहता है परन्तु विवेक भी अपनी असाधारण शान्ति और अहिंसामय सैन्य-शक्तिसे सम्पन्न है, अत मोहके प्रत्येक आक्रमणको असफल कर देता है। प्रारम्भमें मोह और विवेक दो नृपतियोंके रूपमें मिलते हैं। मोह विवेकको अपनी अधीनता स्वीकार कराना चाहता है। विवेक मोहको अपना सेवक कहता है। बात बढ़ जाती है और दोनो नृपति अपनी-अपनी सेनाएँ लडाते हैं और अन्तमें मोह परास्त होकर विवेककी अधीनता स्वीकार कर लेता है। काम, क्रोध, माया, ममता आदि मोहकी शक्तियाँ क्रमश निष्काम, दया, सरलता और उदारता आदिकी शक्तियोंसे परास्त होती हैं।

जहाँतक इन कृतियोकी मौलिकताका प्रश्न है इनमें इसका एक लम्बी सीमा तक अभाव है। मल्लने तो अनुवाद मात्र किया है जो मूल कृति (संस्कृत) के सम्मुख उच्छिष्ट सा लगता है। यह अनुवाद ऐसा ही है जैसा कि राजा लक्ष्मणसिंहका 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का। जिन्हें शाकुन्तलका यह अनुवाद पढनेका अवसर मिला है, और जो मूलकृति भी पढ़ चुके हैं, वे जानते हैं कि इससे उन्हें कितनी निराशा होती है फिर भी कथानक उत्तम होनेसे कुछ आकर्षण है ही। उक्त मोहविवेक मूल रचनाकी तुलनामें ही छोटा पडता है वैसे तो एक श्रेष्ठ रचना ही कही जायगी। उक्त रचनाकी हस्तलिखित प्रति देखनेका सौभाग्य मुझे जयपुरके

इति श्री मोहविवेकसवादे सग्राम भगति योगि नाम प्रताप सम्पूर्ण समाप्त । ग्रन्थसख्या १३३ ।"

इस कृतिका लिपि-सवत् नही दिया गया है, सम्भवत १८वी सदीमें इसकी लिपि की गयी होगी । गोपाल कवि भी बनारसीदासजीके पूर्ववर्ती या समकालीन थे । (दादू सम्प्रदायके सक्षिप्त परिचयमें (पृ० ७६में) श्री मगलदासजी स्वामीने गोपाल कविकी मोह-विवेक रचनाका उल्लेख किया है और सवत् १६५०से १७३०के अतर्गत जयपुरके आस-पास उनकी स्थिति-का उल्लेख किया है । इस कविकी रचना भी प्रबोधचन्द्रोदयके आधारपर ही है—उसीका सक्षिप्त भावानुवाद है । वही वर्णन, वे ही दृष्टान्त, उपमाएँ, वे ही सवाद और कथन-शैली भी प्राय वही है ।)

[चौथा मोह-विवेकयुद्ध प्रसिद्ध जैनकवि बनारसीदासके नामसे विख्यात है । यह वीर पुस्तक भण्डार जयपुरसे मुद्रित रूपमें प्रकाशित भी हो चुका है । इसमें ११० चौपाइयाँ-दोहे हैं । वीरवाणीके वर्ष ६ के अंक २३-२४ में श्री अगरचन्द नाहटाने भी इसे पूरा प्रकाशित कर दिया था । जयपुरके बडे मन्दिरके शास्त्र भण्डारमे इसकी पाँच प्रतियाँ है, तीन गुटकोंमें और दो स्वतन्त्र । गत वर्ष जयपुरमें उपर प्रतियोंमें से एक प्रति मुझे ऐसी भी मिली जिसमें ११९ छन्द है । इस कृतिका लिपि सवत् नहीं दिया गया है, सम्भवत १८वीं शतीकी होगी ।]

जैन विद्वानोमें इस मोह-विवेकयुद्धके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है । कुछ इसे बनारसीदास (प्रसिद्ध जैन कवि) कृत और कुछ विद्वान् बनारसी नामके किसी अन्य साधारण कवि कृत मानते है । प० नाथूराम प्रेमी और श्री अगरचन्द नाहटा ये दो विद्वान् इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय हैं । प्रेमीजी उक्त मोह-विवेकको प्रसिद्ध कवि बनारसीदासकृत नहीं मानते जब कि नाहटाजी उसे बनारसीदासकृत ही मानते है । उक्त दोनो विद्वानोने इस सम्बन्धमें अपने-अपने तर्क भी प्रस्तुत किये है । [प्रेमीजीकी मान्यता है कि "बनारसीदासजीकी अन्य रचनाएँ सभी दृष्टियोंसे पुष्ट है जब कि मोह-विवेकयुद्धमें भाषा, विषय और शैलीका भारी शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है । अत यह रचना प्रसिद्ध कवि बनारसीदासकी कदापि नहीं हो सकती । हाँ, इसी नामके किसी अन्य बनारसीकी भले ही हो । बनारसीदासजीकी प्रारम्भिक रचनाके रूपमें भी वे इसे स्वीकार नही करते है । कविवर बनारसीदासजीकी रचनाओंके साथ इसकी कोई तुलना

अभी कुछ दिन पूर्व तक न जाने क्यों संस्कारवश या श्रद्धावश कुछ धुँधली-सी ऐसी ही धारणा बँध चली थी कि उक्त रचना बनारसीदासजीकी ही होनी चाहिए। इस प्रकार सम्भवतः एक रचनाको बनारसीदासकृत और बनाकर मैंने उनके प्रति विशेष श्रद्धाका परिचय देना चाहा था। परन्तु ऐसा करनेसे मेरा विवेक और मेरी आत्मा सदैव हिचकते रहे। मैं इसी प्रयत्नमें रहा कि जबतक कोई पुष्ट प्रमाण न मिल जाये मुझे अपना मत निश्चित नहीं करना है।

जब भी मैं रचना पढ़ता तो मेरी उक्त आस्था उसके कलेवर, रचना-शैली एवं भाषा-शैथिल्यको देखकर डिग जाती और यही सोचता था कि यह रचना बनारसीदास-जैसे प्रौढ़ प्रतिभा-सम्पन्न कविकी कदापि नहीं हो सकती।

[गत वर्ष जब मैंने जयपुरके दादू महाविद्यालयमें गोपाल कविकृत मोह-विवेककी हस्तलिखित प्रति देखी और उससे बनारसीदासकृत मोह-विवेकको मिलाया तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इन दोनों कृतियों-में १०-२० दोहा-चौपाइयोंको छोड़कर आद्यन्त अक्षरशः साम्य है। दोहों-में जहाँ गोपाल कविकी छाप है वहाँ बनारसीकी कर दी गयी है और सब ज्योंका त्यों रख दिया गया है। यदि कहीं किसी वैष्णव देवतादि-का नाम आया है तो उसे बदलकर जैन देवताका या जिन शब्दका प्रयोग किया गया है। देखिए—

जन गोपाल—

"अविभचारिणी भक्ति जहाँ, गुरु गोविन्द सहाय।
जन गोपाल फल को नहीं, ताँ पै काहु न बसाय॥"

बनारसी—

"अविभचारिणी जिन भगति, आतप अंग सहाय।
कहँ काम ऐसी जहाँ, मेरी तहँ न बसाय।"

जन गोपाल—

"हलाहलु खाइँ मरे, जल में बूड़ै जीव।
प्रमदा देखत ही मरै, जन गोपाल बिन पीव॥ ४७॥"

बनारसी—

"विष मुख माहीं मेल्है मरई, जल में बूढ़ै पावक जरई।
हथ्यार लगै व्यापै विष ज्वाला, दृष्टि देखतें मारै बाला।"

जन गोपाल—

"राम भगति स्वाति जहाँ, शीतल साधु अंग।"

बनारसी—

"श्री जिन भक्ति सुदृढ जहाँ, सदैव मुनिवर संग।"

जन गोपाल—

"स्वामी सेवक सिख गुरू, सत मत सब दाव।
हसा चिकारि जब दगी, जन गोपाल उपाव ॥७३॥"

बनारसी—

"स्वामी सेवक सिख गुरू, तत मत मम काज।
लागी लोभ सारी दुनी, तिनके धरम न लाज ॥७२॥"

इस प्रकारके दोहे जिनमे कही-कही रचमात्रका भाषामें अथवा अर्थमें अन्तर है मुश्किलसे पूरी कृतिमे ४–६ ही है। कुछ दोहे 'बनारसी' नामवाली कृतिमें स्वतन्त्र भी हैं यथा—९, १०, ११, १८, ३०, ३२, ३९, ४३-४७, ५१, ५४, ८४, ९६। कुछ चौपाइयाँ गोपालकृतमें से 'बनारसी' नामक कृतिमे नही ली गयी है। शेष सम्पूर्ण कृतिमे पूर्णतया (अक्षरश) साम्य है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती गोपाल कविकी इस कृतिमे पूरी नक़ल की गयी है।

इस प्रकार इन दोनो कृतियोका मिलान करनेके पश्चात् यह तो निश्चित है ही कि यह कृति मौलिक नही है। इसमें भावोकी ही नही अपितु भाषा, शैली आदि सभीकी पूरी नकल है।]

[जयपुरके दादू मन्दिरसे जब मैं दोनो कृतियोकी तुलना करके लौट रहा था तो मेरा मन, मेरी तर्कशक्ति और हृदय न जाने कितने आवेग, आवेश, चिन्तन और घृणामे डूबने लगे। मुझे अन्तमे अनेक दृष्टियोंसे विचार करनेपर यह स्पष्ट लगा कि बनारसीदास-जैसे अध्यात्म सन्त एव प्रौढ प्रतिभा-सम्पन्न कवि इस निन्द्य कर्मके सम्बन्धमे सोच भी न सके होगे। निश्चित रूपसे किसी मूर्ख जैनने 'बनारसी' के नामकी छाप

लगाकर और दो-चार स्थानोपर जैनपरक परिवर्तन करके गोपाल कविकी नक़ल मात्र की है और इस प्रकार बनारसीदासजीके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करनेका ढोंग किया है।

अतः अब निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उक्त 'मोह-विवेक-युद्ध' के रचयिता प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजी नहीं हैं।

माझा

पं० कस्तूरचन्द कासलीवालने, दीवान बधीचन्दके शास्त्र भण्डारके गुटकेमें मिली १३ पद्योंकी 'माझा' नामक रचना वीरवाणीके वर्ष ८ अंक १० में प्रकाशित करा दी थी। इस रचनामें बनारसीदासजीकी छाप है। रचना अध्यात्म-प्रधान है। जिनभक्तिकी चर्चा बड़े सुन्दर ढगसे की गयी है। आत्मोद्धारका मार्ग सरल भाषा एव मधुर शैली-द्वारा समझाया गया है। कहीं कहीं भाषामें कुछ शिथिलता एव छन्दोभग भी मिलता है परन्तु ये दोनों बातें लिपिकोंकी असावधानीके कारण सम्भव हो सकी होगी।

प्रस्तुत पदकी मार्मिकता देखिए--

"झूठी माया क्या लपटाया, वा कर झूठा माणा।
कचा कोटि मवासा कब तक, इक दिन परभव जाणा ॥
जो जम आवे पकर ले जावे, चलै न जोर धिगाणा।
दास बनारसी डूबै आखै, जम बस रंक नराणा ॥"

तथा--"राणा रक अमर किर नाहीं, सब कोई चालन हारा।
भरी सराइ परभातै खाली, जो जग चलसी सारा ॥" इत्यादि

भाषा पजाबी मिश्रित है। बनारसीदासकी 'मोक्षपैडी' नामक रचनासे स्पष्ट है कि वे पजाबी भाषामें भी कविता करनेमें समर्थ थे।

उक्त रचना कविवर बनारसीदासजीकी ही है।

जयपुरमें हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज करते समय मुझे श्री कस्तूर-चन्दजीके सहयोगसे बनारसीदासजीका एक नवीन पद और प्राप्त हुआ था। पद इस प्रकार है--

पद राग कल्याण--

"हाँ रे दरवाजे तेरा खोल,
आए हम दरसण देरा खोल ॥

पूजा करूँगो मैं धूप धरूँगो,

फूल चढाऊँ बहु मोल ॥

केसर चदन घोल ॥ हाँ० ॥१॥

वामानदन पास जिनेसर,

तुम पर जाऊँ मैं घोल ॥ हाँ० ॥२॥

तू मेरा ठाकुर मैं तेरा चाकर,

एक बार हस बोल ॥ हाँ० ॥३॥

कहत बणारसी मैं तेरा बदा,

मुखड़ा की छवि जोर ॥ हाँ० ॥४॥

■

बनारसीदासजीकी रचनाओंकी भाषा

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओको दृष्टिमें रखकर सहसा नहीं कहा जा सकता कि इनमें अमुक भाषाका प्रयोग हुआ है। कविवरका जीवन एक ओर एक पर्यटक एव व्यापारीका रहा है तो दूसरी ओर उनमें विद्वानोका सम्पर्क और विद्या-व्यसन भी खूब रहा है। फलत उनकी रचनाओमें एक ओर सामान्य बोलचालकी भाषा और दूसरी ओर साहित्यिक भाषाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। आत्मकथा अर्धकथानकमें सरल एव प्रवाहयुक्त दैनन्दिनी भाषा-द्वारा ही कविने अपने घटना-बहुल जीवनका दिग्दर्शन कराया है। अर्धकथानकके अतिरिक्त सभी रचनाओमें साहित्यिकता (सालकारता, शब्दचमत्कार, शब्दगठन, विविध छन्दोमें रचना-कौशल एव शैलीकी अभिरामता आदि) की स्पष्ट झलक है। स्वाभाविकताकी रक्षा दोनो ही प्रकारकी रचनाओमें कविने की है।

बनारसीदासजीकी जन्मभूमि जौनपुर थी अत भोजपुरी बोलीका उनपर पूरा प्रभाव था ही। उनके जीवनके लगभग २५ वर्ष आगरामें व्यतीत हुए अत वहाँकी स्थानीय ब्रजभाषा एव मुगल शासकोंकी उर्दू-मिश्रित खडी-बोलीका भी उनपर पूर्ण प्रभाव पड चुका था। खैराबादकी उनकी पत्नी थी और उनका वहाँ आना-जाना भी कई बार हुआ है अतः अवधीकी झलक भी उनकी कृतियोंमें कहीं-कहीं प्राप्त होती है। सस्कृत और प्राकृतका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन सब भाषाओंके अतिरिक्त उनपर जिस भाषाका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वह है उस समयके यवन शासकोंकी सामान्य जनतासे बोलचालकी उर्दू-फ़ारसी-मिश्रित एक बाजारू बोली जो आगे चलकर खडी-बोलीके रूपमें विख्यात हो गयी। बनारसीदासजीके पिता, प्रपिता आदिका यवन शासकोंसे घनिष्ठ सम्पर्क रहा था और कविवरका भी अपने समयके नवाबो और अन्य उच्च पदाधिकारियोंसे मैत्री-सम्बन्ध था अत उनकी भाषाका इनपर अवश्य ही प्रभाव पड़ा था। इन भाषाओंके अतिरिक्त पजाबी और राजस्थानी भाषा-

ओंमें भी उन्होंने रचनाएँ की है। इस प्रकार विविध देश भाषाओंका प्रयोग कविकी रचनाओंमें हुआ है।

भोजपुरी यद्यपि लगभग दो करोड़ जनताकी बोली है तथापि आज तक यह ब्रज एवं अवधीकी भांति साहित्यिक भाषा नहीं हो सकी। इसमें साहित्यिक रचनाओंका अभाव है। जिन साहित्यकारोंकी यह मातृभाषा रही है उनने भी अपनी रचनाएँ अवधी या ब्रजमें या फिर तात्कालिक बोलचालकी सामान्य भाषामें की हैं। "भोजपुरी बोली बनारस, मिर्जापुर, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैल पड़ी हैं। भोजपुरीमें साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृतका केन्द्र होनेके अतिरिक्त काशी हिन्दी साहित्यका भी प्राचीन केन्द्र रहा है, किन्तु भोजपुरी बोलीसे घिरे रहनेपर भी इस बोली-का प्रयोग साहित्यमें कभी नहीं किया गया। काशीमें रहते हुए भी कवि-गण प्राचीन कालमें ब्रज तथा अवधीमें और आधुनिक कालमें साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दीमें लिखते रहे हैं।"[1] बनारसीदासजीने भी अपनी रच-नाएँ भोजपुरीमें नहीं की हैं। कविवरने स्वयं ही अर्धकथानकमें कहा है—

> "मध्य देश की बोली बोल।
> गर्भित बात कहौं हिय खोल॥"

मध्यदेशकी बोलीसे कविका आशय तात्कालिक जनभाषासे है। अपना जीवनवृत्त स्वाभाविक ढंगसे नित्य-प्रतिकी बोलीमें ही कहा जा सकता है। इसी बोलीका प्रयोग बनारसीदासजीने अपनी अन्य रचनाओंमें उच्च साहित्यिक स्तरसे किया है। आपकी रचनाओंमें खड़ी बोली हिन्दीके आदि रूपके दर्शन होते हैं। अब हम उनकी एक-एक रचनाकी भाषापर पृथक् पृथक् विचार करेंगे—

नाममाला

पं० बनारसीदासजीकी उपलब्ध सभी रचनाओंमें नाममाला सबसे पूर्वकी रचना है। यह रचना संवत् १६७० की है। इस समय कविकी अवस्था लगभग २७ वर्षकी थी। नाटक समयसार इस रचनाके २३ वर्ष बादकी रचना है, जिसमें गम्भीरता, प्रौढता तथा विशदता अत्यन्त निखरे रूपमें परिलक्षित होती है।

१ 'हिन्दी भाषाका इतिहास', पृ० ७६ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

जहाँतक कविवरकी इस रचनाकी भाषाकी बात है, यह एक शब्द-कोष है जिसमें कविको किसी प्रकारके भाषा-सौष्ठव अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शनका अवसर नही होता है। एक कोषमें तो वस्तु अथवा व्यक्तिके प्रचलित तथा प्राचीन कोषोंमें आगत पर्यायवाची शब्दोकी गणना बिना किसी ननु नचके ज्योकी त्यो करनी पडती है। बनारसीदासजीने इस कोषकी भाषाके सम्बन्धमें स्वय ही कहा है—

"सबद सिन्धु मन्थान करि, प्रगट सु अर्थ विचार।
भाषा करै बनारसी, निज मति गति अनुसार ॥२॥
भाषा प्राकृत ससकृत, त्रिविध सु सबद समेत।
जानि बखानि सु जानि तह, ऐ पद पूरन हेत ॥३॥"[1]

अर्थात् शब्द-सिन्धुका मन्थन करके, प्रकट अर्थको ग्रहण करके भाषा (हिन्दी), प्राकृत, सस्कृत तीनो भाषाओके शब्दोका इस कोषमें समावेश करके कविने यह हिन्दी-कोष बनाया था। इसमें जानि, बखानि, सुजान, तह आदि शब्द पादपूर्तिके लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कविवरने यह कोष वास्तवमें हिन्दी पाठकोकी दृष्टिसे ही रचा था अत १७वी शतीमें हिन्दीमे प्रचलित शब्दोका और उनके विकसित रूपोका ज्ञान आज इस कृतिके आधारसे थोडा-बहुत किया जा सकता है।[2] "ग्रन्थकी रचना बडी ही सुगम, रसीली और सहज अर्थावबोधक है। यह कोष हिन्दी भाषाके अभ्यासियोके लिए बडे ही कामकी चीज है। अभीतक मेरे देखनेमें हिन्दी भाषाका ऐसा पद्यबद्ध दूसरा कोई भी कोष नहीं आया।" नाममालाके कुछ उद्धरणो-द्वारा हम उसकी भाषाके सम्बन्धमें विचार कर सकेंगे। कविने सरस्वतीके नाम दिये हैं—

"सरस्वति भगवति भारती, हंस वाहिनी बानि।
वाक वादनी सारदा, मति विकासिनी जानि ॥"

बुद्धिके नाम—

"बुद्धि मनीषा सेमुषी, धी मेधा मति ज्ञान ॥१२०॥"

शीघ्रके नाम—

"क्षिप्र वेग सहसा तुरत, झटिति आशु लघु जान।"

विभिन्न नामोके उक्त तीन दोहे बनारसीदासजीकी सरल, सुबोध एव

---

१ 'बनारसी नाममाला', छन्द २–३।
२ वही, पृ० १०, भूमिका प० जुगलकिशोर मुख्तार।

बोलचालकी भाषाका स्पष्ट परिचय दे रहे हैं। भाषाके प्रचलित विविध रूप एक कोषमें सम्भव नहीं हो सकते। इस कोषमें भी प्राय संस्कृतके कोषोंमें आगत शब्दोंको ही लिया गया है।

बनारसी नाममालामें ऐसे भी अनेक शब्द हैं जो प्राकृत अपभ्रंश भाषाके हैं अथवा इन भाषाओंके विकसित (सामान्य जन प्रयुक्त) रूप हैं। कुछ शब्द आज कल-जैसी ठेठ हिन्दीके हैं तथा कुछ शब्द प्रांतिक भी हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द देखिए—

प्रचलित	संस्कृत	दोहा
अकथ	थ्य	११६
अगनित	णित	५९
अगिनि	अग्नि	४७
अजान	अज्ञान	८७
जोनि	यो	१५४
ओथर	अस्थिर	१२१
अदभुत	अद्भुत	११२
अस्लील	श्ली	११९
असनि	श	९०
उत्तग	उत्तुंग	१४६
ऊरध	ऊर्ध्व	३७
उरवसि	उर्वशी	३०
उवझाय	उपाध्याय	८४
कटाख	क्ष	९९
कस विधुसन	ध्व	१३
चित्त	त्त	९१
त्रिपथ गमनि	गामिनी	६३
त्रिय	स्त्री	७७
थुति	स्तुति	११५
दन्द	द्वन्द्व	१६५
धनतरि	धन्व	६०
निठुर	ष्ठु	११९
निसमनि	निशामणि	४१

प्रचलित	संस्कृत	दोहा
नेह	स्नेह	११४
नैंन	नयन	९६
पंखि	पक्षी	१५९
पतनी	पत्नी	७७
पत्त	पत्र	१४८
पकति	पंक्ति	१६४
पसु	पाशु	६७
पचसरहत्थ	शरहस्त	११०
प्रभान	न्	७४
मनमत्थ	मन्मथ	११०
मरजाद	मर्यादा	५३
रकत	रक्त	

उल्लिखित इन शब्दोंकी आकृति ब्रजभाषाके निकटकी-सी प्रतीत होती है। ब्रजभाषाकी विशेषताएँ उक्त शब्दोंमें प्राप्त भी होती हैं। कविका समय भी आगरा (ब्रजप्रान्त) में ही पर्याप्त मात्रामें व्यतीत हुआ है अत निश्चित रूपसे वे इस भाषाको आत्मसात् कर सके थे।

नाममालाके उक्त शब्दोंके आधारपर हम बनारसीदासजीकी भाषा-सम्बन्धी जिन विशेषताओंको देखते हैं वे इस प्रकार है—

१ णकारके स्थानपर सर्वत्र नकारका प्रयोग किया गया है, जैसे अगनित (५९), अंत करन (९१) आदि।

२ संयुक्त वर्णोंमें जो अर्धवर्ण होता है उसको पूर्ण करके ही प्रयोगमें लाया गया है। यथा—रकत, पतनी (७७), पकति (१६४) आदि।

३. अर्ध रकारको पूर्ण रकारके रूपमें तथा श एव ष को सकारके रूपमें प्रयोगमें लाया गया है। यथा—उरबसि (उर्वशी) तथा अस्लील (श्ली) ११९ आदि।

४ उच्चारण सौकर्यकी दृष्टिसे कहीं-कहीं एकसे दो संयुक्त व्यंजनोंमें-से एकका लोप ही कर दिया गया है तो कहीं एक नये व्यंजनको और मिला दिया गया है। यथा—चित (चित्त ९१), मनमत्थ (मन्मथ ११०)।

५ य को ज, वको उ और सकारका लोप भी देखा जाता है, यथा—

अजान (अज्ञान), कलविध्वंसन (ध्व १३), थुति (स्तुति ११५), निठुर (ष्ठु ११९)।

६ चिंतामनि (चिंतामणि) ४१, पंगु (पांगु ६७), कटाछ (कटाक्ष ९९), इन तीन शब्दोंके प्रयोगसे स्पष्ट है कि सुख सुगमकी दृष्टिसे शब्दोंको यथावसर ह्रस्व दीर्घ किया गया है, आवश्यकता पड़नेपर संयुक्त वर्णोंका सर्वथा लोप करके एक नये ही व्यंजनका प्रयोग किया गया है। कटाक्षका क्ष क-ष के योगसे बनता है, परन्तु इन दोनों व्यंजनोंके स्थानपर छ कर दिया गया है।

७ स्थ, स्था, स्तु, स्थूके स्थानपर क्रमशः थ, था, थु, थू के प्रयोग हुए हैं। यथा—

१ थविर नर	९२	स्थविर नर
२ थावर	१६८	स्थावर
३. थुति	११५	स्तुति
४ थूल	१४६	स्थूल

इन संस्कृत शब्दोंके प्रचलित तात्कालिक भाषागत रूपोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी कवि-द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, जो वास्तवमें देशभाषाके ही शब्द कहे जायेंगे। यथा—

		संस्कृत रूप
१ अडोल	१६८	अडोल
२ अंब	१४९	आम्र
३ आठ	१६७	अष्ट
४ आढ	१०९	
५ ऊँट	१५३	उष्ट्र
६ कान	९७	कर्ण
७ चकवा	१६२	चक्रवाक
८. जयवन्त	५	
९ जेवर	१०९	
१०. डाड	१४०	(ध्वज) अर्थ
११. डाढ	१०९	(बिच्छू) अर्थ
१२ डर	१४२	
१३ तन भाल	१२९	(आभूषण) अर्थ
१४ तपा	८३	(तपस्वी)

१५. तलार	१३५	
१६ तीन	१६६	तीण
१७. नरम	११९	
१८ नदलाल	१५	
१९. नाव	६२	
२०. पलक	९६	
२१ पावस	१०६	
२२ पुर रखवाल	१३५	रक्षपाल
२३ पूतली	९९	
२४ पेड	१४८	
२५. फध	७२	
२६ विच्छक	१०९	(आभरण) अर्थ
२७ मौह	९६	
२८. मंगत	१४४	(भिक्षुक) अर्थ
२९. लाल	१२३	
३० सेज	१३१	(शैय्या)
३१ सेठ	६२	श्रेष्ठि

इसी प्रकारके और भी अनेक शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं जो कविवरके समय देशभाषामें आत्मसात् हो चुके थे। उक्त शब्दोंमें-से कुछके तो मूल रूपोका भी पता लगना कठिन है क्योंकि वे फारसी भाषाके हैं, यथा जेवर, पेड आदि। अधिकांश शब्दोंके मूल रूप सस्कृतमें ही हैं। कुछ शब्द अपने मूल रूपसे इतने पृथक् हो गये हैं कि सहसा उनके आदि रूपका पता नहीं लगता, यथा आठ, ऊँट, सेठ, सेज, पूतली, तीन आदि।

पूतली, पलक तथा मगत और झड आदि शब्दोंमें प्रान्तिक भाव दृष्टिगोचर होता है। इन्हें हम प्रान्तिक शब्द कह सकते हैं। पूतलीके लिए आज पुतली और मगतके लिए मंगते तथा मागने (बुन्देली) शब्द भी प्रचलित हैं। विभिन्न प्रान्तोंमें एक ही शब्दके उच्चारणकी पद्धतियाँ भी स्वतन्त्र होती हैं।

इस प्रकार बनारसीदासजीकी नाममालासे हमें उनके समयमें प्रचलित शब्दोकी विविध रूपोकी जानकारी प्राप्त होती है जो किसी भी भाषाशास्त्रीके ठोस अध्ययनका भी विषय बन सकती है।

किया है इसके अध्ययन हेतु कुछ शब्द हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

प्रयुक्त शब्द	संस्कृत	छन्द संख्या
१. खाडो	खड्ग	७ अजीवद्वार
२ पातुर	पात्र	३५ ,,
३ बमै	वमन (क्रि०)	५
४ धीठ	धृष्ट	११ क० क० क्रियाद्वार
५ फास	स्पर्श	१२ ,,
६. मुद्धता	मुग्धता (मूर्खता)	७ आस्रव अधि०
७ रत्त	रक्त	३० उत्थानिका
८. तत्त	तत्त्व	,,
९. विरत	विरक्त	३१ ,,
१० परिनौन	परिणमन	६१ मोक्षद्वार
११ मौन	मनन	६१ ,,

इसी प्रकारके अनेक शब्दोका प्रयोग नाटक समयसारमें किया गया है। इन शब्दोके मूल रूप सस्कृतमें हैं और भाषामें विकसित होते-होते आज वे ऐसे हो गये हैं। कुछ शब्दोंके तो वर्तमान रूपके आधारपर मूल रूपका पता लगाना बडा ही कठिन हो जाता है।

ऐसे भी अनेक शब्द हैं जो प्रादेशिक ही हैं। सस्कृत अथवा प्राकृतमें जिनका उद्भव या मूल रूप नही है। इन शब्दोंको हम देशभाषाके शब्द भी कह सकते हैं। ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं—

१. फखत (आरा)	अजीवद्वार १४
२ सिखरनि (श्रीखण्ड)	क० क० क्रियाद्वार १३
३ जुग (सनक)	,, १३
४ वरतन्त (वर्तमान रहनेसे)	,, ३६
५ जोट (समूह)	३८ बन्धद्वार
६. पोट (गठरी)	,,
७ भोंडी (बुरी)	,,
८ खेह (मिट्टी)	३९ ,,
९ कमैरो (कुमाऊ)	४२ ,,
१० झलक (प्रभा)	३ मंगलाचरण
११ साता (शान्ति)	

उलझ रहा है। वास्तविक आत्मस्वरूपसे दूर ही रहता है। सच्ची सर्वसिद्धि (आत्मसिद्धि)की कितनी सरल—ललित व्याख्या की है—गागरमें सागर ही भर दिया है—

"एक देखिए, जानिए, रमि रहिए इक ठौर।
समल विमल न विचारिए, यहै सिद्धि नहिं और।"

यह कविवरकी समास-प्रधान शैलीका एक सुन्दर उदाहरण है।

व्याकरणकी दृष्टिसे भाषागत सौष्ठव तो सर्वत्र है ही, शब्द-चयन-गठन और अलकारोका उत्कर्ष भी समयसारमे कम नही है। मगलाचरणका इकतीस वर्णका मनहर छन्द दर्शनीय है—

"करम भरम जग-तिमिर हरन खग,
उरग लखन पग सिव मग दरसी।
निरखत नयन, भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी॥
मदन-कदन-जित, परम धरम हित,
सुमिरत भगति, भगति सब डरसी।
सजल जलद तन, मुकुट सपत फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी॥"

केवल पादान्त अक्षर ही गुरु है शेप सब लघु है। बनारसीदासजीकी भाषामें कहीं भी शैथिल्य दृष्टिगोचर नही होता, वह सर्वत्र भावानुकूल ही आयी है। बनारसीदासजी छन्द, शब्द, अक्षर और अर्थ सभीको अनुकूलताके पूर्ण समर्थक रहे हैं, किसीका भी ढीलापन वे स्वीकार न करते थे। सुकविकी परिभाषा करते हुए बनारसीदासजी लिखते है—

"छद सबद अच्छर अरथ, कहे सिद्धान्त प्रमान।
जो यह विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥"

लक्षण ग्रन्थोकी मान्यतापर चलनेवालेको ही वे योग्य कवि मानते हैं।

बनारसीदासजीकी भाषाका सरल-ललित प्रवाह एव उसकी प्राजलता पदे-पदे दर्शनीय है। कितनी प्रयासरहित शब्दावली उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभासे स्वत निर्गत होती है, विज्ञ पाठक निम्नस्थ पद्यमें स्वय ही अनुभव कर सकते हैं। चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीके मनोभावोका कितना मार्मिक एव स्पष्ट चित्रण किया गया है—

"[1]कुल कौं आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौं।
खेह कौ खजानौ ताहि अज्ञानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौं।
दपति कौ भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित्त चाउ कौं,
इन्द्रलोक थान कौं अजान लोक कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बन्ध के अभाउ कौं।"

इसी प्रकार भाषागत सरल मधुर प्रवाहके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सम्पूर्ण रचनामें भाषाकी गठन, शब्दचयनकी निपुणता तथा आवश्यक अलकारोकी योजना अपार सौन्दर्यकी सृष्टि करती है। भाषा और भावोका इतना अनुपम सामजस्य हिन्दी साहित्यकी कम ही रचनाओंमें प्राप्त होता है।

मोह-विवेकयुद्ध

[गत अध्यायोमें हो 'मोह-विवेकयुद्ध'की प्रामाणिकता और उसके बनारसीदास-कृत होनेपर अनेक दृष्टियोसे विचार करके हम इस निर्णयपर पहुँच चुके हैं कि निश्चित रूपसे यह रचना उक्त कवि द्वारा रचित नहीं है। फिर भी यहाँ उसकी भाषापर भी विचार इसलिए आवश्यक समझा गया है कि अभीतक इसे बनारसीदासजीकी रचनाओंमें ही गिना गया है और कुछ विद्वान् अभी भी इसे बनारसी कृत ही मानते हैं।]

यह एक खण्ड काव्यात्मक रचना है। इसमें कविवरकी अन्य रचनाओ-जैसी भाषा, शैली और विषयगत पुष्टता नही मिलती। भाषाका भारी शैथिल्य है। भावोको आगे बढानेमें भी भाषा कार्यकर सिद्ध नही होती। छन्दो-अलकारोके आरोह-अवरोहके दर्शन भी कविकी अन्य कृतियोकी भाँति इसमें नहीं होते। इसमें सवाद है। भाव-पात्र सत्य जगत्के से पात्र लगते हैं। भाषा एकदम सामान्य बोलचालकी है। इसकी भाषाको ब्रज, खड़ी बोली और ढूढारी (जयपुरी) का मिश्रित रूप ही कहा जा सकता है। राजस्थानीके अनेक शब्दोंका प्रयोग हुआ है।

बात अत्यन्त सक्षेपमें सीधी भाषा-द्वारा कही गयी है। कामकी शक्तिका वर्णन देखिए—

---

१ 'नाटक समय सार', बन्ध द्वार १४।

"मैं कीयौ रावण कुल नास, और जीव सब मेरे बास।
सींगी रिषि सेवन महि मारे, मोतें कौन-कौन नहिं हारे ॥२८॥
माया मोह तजें घर बास, मोतें भागि जांहि बनवास।
कंद मूल फल भक्षिण कराहीं, तिनिहू कों मै छाड़ौं नाहीं ॥२६॥
इक जागत इक सोवत मारू, जोगी, जती, तपी, संहारू।
ऐसे बैन बखानै काम, जुवती जन जाको बिसराम ॥३०॥"

इस रचनामें शब्दोकी तोड-मरोड भी पर्याप्त हुई है। शब्दोंके प्रयोग भी कुछ ऐसे ढगसे हुए हैं कि उन्हें कविकी अन्य रचनाओमें नहीं पाया जा सकता। कुछ शब्द ये हैं—

देश-भाषा	सस्कृत	छन्द नाम
१ अध्रम	अधर्म	१८
२ अपजस	अपयश	१९
३ सखेप	सक्षेप	१९
४ निरफल	निष्फल	३८
५ ओचाटन	उच्चाटन	३८
६ अनरत	अनृत	७५
७ अरिबल	आयुबल	८३
८ सोग	शोक	९५

राजस्थानीके कुछ शब्दोका प्रयोग हुआ है। इन शब्दोंमें राजस्थानी प्रभाव स्पष्ट है—

१ मारूं	३०
२ सघारु	३०
३ राणी	१९
४ भक्षिण	२९
५ मेल्है	४६
६ हथ्यार	४७
७ मया	४८
८ आपण	५६
९ पजारू	५७
१० गज्जै	५९
११ अज्जै	५९

५० बनारसीदासजीका भाषा सम्बन्धी विशुद्धतम रूप (निसर्ग-नि सृत) उनकी आत्म कथा (अर्धकथानक)में प्राप्त होता है। निज जीवन-का ५५ वर्षका विवरण अत्यन्त सरल स्वाभाविक देशभाषामे कविने प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थकी भाषाके सम्बन्धमें बनारसीदासजी स्वय ही लिखते है—

[1]"मध्यदेश की बोली बोल, गर्भित बात कहो हिय खोल।"

[2]"बोलीका मतलब उस समयकी बोलचालकी भाषा है, साहित्यिक भाषा नही। बनारसीदास उच्च श्रेणीके कवि थे। उनकी अन्य रचनाएँ प्राय साहित्यिक भाषामे नही हैं, परन्तु उन्होने इस आत्मकथाको बिना आडम्बरकी सीधी सादी भाषामें लिखा है जिसे सर्वसाधारण सुगमतासे समझ सके। (इस रचनामें हमे इस बातका आभास मिलता है कि उस समय बोलचालकी भाषा किस ढगकी थी और जिसे आजकल खडी बोली कहा जाता है उसका प्रारम्भिक रूप क्या था।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त स्व सम्पादित अर्धकथानककी भूमिकामें बनारसीदासजीके 'मध्यदेश'की सीमाओ और उक्त ग्रन्थकी भाषाके सम्बन्धमे लिखते है—[3]"भाषाकी दृष्टिसे भी कृतिका महत्त्व कम नही है। रचनाके प्रारम्भमे ही लेखक उसकी भाषाके सम्बन्धमें कहता है कि वह 'मध्यदेशकी बोली बोलकर अपनी कथा कहेगा। यद्यपि मध्यदेशकी सीमाएँ बदलती रही है पर प्राय सदैव ही खडी बोली और ब्रजभाषा प्रान्तोको मध्यदेशके अन्तर्गत माना जाता रहा है, और प्रकट है कि 'अर्धकथा'की भाषामें ब्रजभाषाके साथ खडी बोलीका किंचित् सम्मिश्रण है। इसलिए लेखकका भाषा-विषयक कथन सर्वथा सगत जान पडता है। यहीतक नही कदाचित् इसमें हमें उस जन-भाषाका प्रयोग मिलता है जो उस समय आगरेमें व्यवहृत होती थी। आगरा दिल्लीके साथ ही उस समय मुगल शासकोकी राजधानी थी, इसलिए उस स्थानकी बोलीमे इस प्रकारका सम्मिश्रण स्वाभाविक था। उस समयकी साहित्यको भाषाओके नमूने भरे पडे हैं किन्तु सामान्य व्यव-हारकी भाषाओके नमूने कम मिलेगें। प्रस्तुत कृति इसी प्रकारका अपवाद

१ 'अर्धकथानक' ७।
२ 'अर्धकथानक' 'प्रेमी' भूमिका, पृ० २३।
३ 'अर्धकथानक', प्रयाग विश्व विद्यालय हिन्दी परिषद्-द्वारा प्रकाशित।

ज्ञात होती है । कविताकी दृष्टिसे भी अर्धकथाका ऊँचा स्थान है।"
प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० हीरालाल जैन इस कृतिकी भाषाके सम्बन्धमें लिखते हैं—

[1]"अर्धकथानकका जितना महत्त्व उसके साहित्यिक गुणो और ऐतिहासिक वृत्तान्तके कारण है उतना ही और सम्भवत उससे भी अधिक भाषाके कारण है। सत्रहवी शताब्दी और उससे पूर्वके हिन्दी साहित्यका भाषा और व्याकरणकी दृष्टिसे अभीतक पूर्णत· वर्गीकरण नही किया जा सका है और इसलिए किसी एक नवीन ग्रन्थके विषयमें यह कहना कठिन है कि हिन्दीकी सुज्ञात उपभाषाओमें-से उस ग्रन्थकी भाषा कौन-सी है।" जहाँतक मध्यदेशकी सीमाका प्रश्न है उक्त डॉ० सा० ने अनेक प्रमाणोंसे इसे भी स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते है—'प्राचीन सस्कृत साहित्यमें मध्यदेशकी चतु सीमा इस प्रकार बतायी जाती है—उत्तरमें हिमालय, दक्षिणमें विन्ध्याचल, पूर्वमें प्रयाग और पश्चिममें विनशन अर्थात् पजाबके सरहिन्द जिलेका वह मरुस्थल जहाँ सरस्वती नदीका लोप हुआ है। चीनी यात्री फाहियानने स० ४५७ मताउल (मथुरा) से दक्षिणके देशको मध्यदेश कहा है और अलबेरुनीने (स० १०८७) कन्नौजके चारो ओरके प्रदेशको मध्यदेश माना है। बनारसीदासजीका क्रीडाक्षेत्र प्राय आगरासे जौनपुर तक यू० पी०का प्रदेश रहा है। अतएव इसे ही उनके द्वारा सूचित मध्यदेश माना जा सकता है।' उक्त विद्वानोंके मतके आधारपर यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि ब्रज और खडी बोली हिन्दी बोलनेवाले क्षेत्रको ही बनारसीदासजीने 'मध्यदेश' शब्दसे सम्बोधित किया है। कविवरका अधिकाधिक मात्रामें आवागमन जौनपुरसे आगरा तक ही रहा है अत· मुख्यरूपसे उनकी दृष्टि इसी क्षेत्रकी प्रचलित जन-भाषापर रही है। मुसलमानी शासनके कारण कविके समयमें आगरामें ब्रजभाषामें खडी बोली (हिन्दी) का सम्मिश्रण किस द्रुतगतिसे हो रहा था यह भी आपके अर्धकथानकमें सहज ही देखा जा सकता है। 'अर्धकथा' कविकी लगभग अन्तिम अवस्थाकी रचना है। यह रचना कविके दीर्घ-कालीन आगरा निवासके अनन्तर ही निबद्ध की गयी थी। इस समय तक वे आगराकी जनभाषाको निश्चित रूपसे पूर्णतया आत्मसात् कर चुके थे। यद्यपि इस रचनामें उर्दू, फ़ारसी और सस्कृतके शब्दोका भी प्रयोग

१ 'अर्धकथानक' 'प्रेमी', पृ० १५ ले० अर्धकथानककी भाषा।

अपनी रुचि और सौकर्यकी दृष्टिसे उनमें अनायास ही परिवर्तन करती चली जा रही थी।

कारक

कर्त्ता और कर्मके प्रयोगोंमें कोई विकृति नहीं मिलती। जो आजकी हिन्दीमें चलन है वही उस समय भी था। कर्तामें ने या नें का प्रयोग मिलता है। कर्ममें 'कौ' का प्रयोग मिलता है, यथा—पढन कौं, (४६) खरगसैन कौं (५५), सबकौं (५१)।

करण

करण कारकमें 'सौं' प्रत्यय पाया जाता है—

"पूजा कीनी भगति सौं (४६६)",
"विधि सौं पूजे पारसनाथ (८६)",
"निज माता सौं मन्त्र करि (५२)" आदि।

सम्प्रदान

इस कारकका प्रयोग अत्यल्प मात्रामें हुआ है। इस कारकमें सौं, कौं, का का प्रयोग मिलता है, यथा—

"सुख सौं रहहि न व्यापै काल (४५)",
"खरगसेन कौं रानै दिये परगने च्यारि (५७)",
"सुख समाधि सौं दिन गये (१४३)"

अपादान

इस कारकमें सो और सु प्रत्यय प्राप्त होते हैं, यथा—

"कहं तू जाहि कहा सौं आई (५१८)",
"आये लोग सब सौं नठे (३३९)",
"तिस दिन सौं बानारसी करै धरम की चाह (२७१)"

सम्बन्ध कारक

इसमें का, के, की और को इन प्रत्ययोका प्रयोग हुआ है। यह कारक तो पदे-पदे प्राप्त होता है। यथा—

दास की (२), तिन के, जा कौ, वस्तपाल के, जेठू के (११)

अधिरकण

इस कारकमें में और माहि प्रत्ययोका प्रयोग हुआ है, जैसे–

गगामाहि आइ घसी (२), जगत में (२), सुखेत में (८), विहाली में (६)।

भूतकालिक क्रियाके विविध रूप

अन्य पुरुप

सुनी, चले (५२), दई, जाने, गए (५३), मिल्यो, कह्यो, कही, धरी (५४)।

भविष्यत्काल

होइगी (६), मागहिगा (४८१), हसहिंगे, सुनहिंगे (६७४), समुझेंगे (६७३)।

वर्तमानकालिक क्रिया

उत्तम पुरुप

वन्दौं (१), कहौं (४), ५, ६, ७, १०,

आज्ञार्थक क्रियाओंके रूप

उ अथवा हु जोड़कर बनाये गये हैं, जैसे–

कथा सुनु (३०), सुनहु (७)।

संस्कृतके क्त्वा प्रत्यय-द्वारा जो पूर्वकालिक रूप (भुक्त्वा, पठित्वा) बनते हैं उन्हें कविने 'इ' और कहीं-कहीं ऐ लगाकर बनाया है। जैसे,

धरि, मानि, आनि, जानि, आइ (१), दै नाउ कौं दान (१३१)।

इन व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओंके अतिरिक्त 'अर्धकथानक' के कुछ शब्द और भी अवलोकनीय हैं। इनमें म, य और व को उ में परिवर्तित किया गया है, और कही-कहीं प्रथम व्यजनपर एक बिन्दुका प्रयोग कर दिया गया है। यथा–

गाऊ	(२४)	ग्राम
नाऊ	(२६)	नाम
आउ	(६६४)	आयु
जीउ	(६६८)	जीव
सुकीउ	(६६८)	स्वकीय
सुठाउ	(२१)	सुस्थान

सु और सो अक्षर कई स्थानोंपर पादपूर्तिके लिए आये हैं, जैसे—

सो सब दीनी बहिन कौं (७२), चले सु (८६), सो सब, सो मोपै (१०), सो दीजै (९१)।

सर्वनाम

जिन, तिसको, मैं, हम, ए, मेरे आदि पाये जाते हैं।

अर्धकथानककी भाषा-सम्बन्धी इन विशेषताओंको दृष्टिमें रखकर यह सहज ही देखा जा सकता है कि इसकी भाषा ब्रज है या अवधी अथवा कोई और ही।

ब्रजभाषाका संक्षिप्त व्याकरण[1]—

कारक—कर्ता नें, नैं

कर्म-सम्प्रदान—कु, कू, कौं, कैं, कें।

करण अपादान – सौं, सू, तैं, ते।

सम्बन्ध – कौ, तिर्यक् (पुल्लिंग) के, स्त्रीलिंग की।

अधिकरण – में, मैं, पै, लौं।

विशेषण प्राय खड़ी बोलीकी भाँति ही होते हैं, किन्तु दीर्घ पुल्लिंग, अकारान्त शब्द यहाँ ओकारान्त हो जाते हैं। इनके तिर्यक् रूप, एकवचनके रूप ऐ अथवा ए और पुल्लिंग बहुवचनके रूप ए, ऐ या ऐं प्रत्ययान्त होते हैं।

क्रिया रूप –

वर्तमान – मैं हूँ। भूत – मैं था, हतो

---

१. 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० १२३ और 'ब्रजभाषा व्याकरण' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—इन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी।

व्रजभाषाकी इन विशेषताओंका समावेश अर्धकथानकमें पर्याप्त मात्रामें हुआ है। उक्त कारक रचनाकी बहुत-कुछ विशेषताएँ इस कृतिमें प्राप्त होती हैं। क्रिया रूपोंका भी बाहुल्य पदे-पदे प्राप्त होता है। भये, बसै, पायो, कहो (९-१०) आदि। विशेषणोंमें 'औ' प्रत्ययान्त रूप भी कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं। यथा–

१ आयौ मुगल उतावलौ, सुनि मूका कौ काल (२२)

२ ताके पुत्र भयौ तीसरौ (४४१)

सर्वनाम भी सो तिनि खानि (११४), सब (११७), मैं (१२९), आदि पर्याप्त मात्रामें व्रजभाषाके ही प्राप्त हुए हैं। अनेक छन्द ऐसे प्राप्त होते हैं जो शुद्ध रूपसे व्रजके ही कहे जा सकते हैं–यथा उदाहरणार्थ देखिए–

"नगर जौनपुर में बसै, मदन सिंह श्रीमाल।
जैनी गोत चिनालिया, बाजै हीरा लाल ॥३९॥
मदन जौहरी कौ सदनु, ढूवत वूझत लोग।
खरगसेन माता सहित, आये करम सजोग ॥४०॥
छज मल नाना सैन कौं, ताकौ अग्रज एह।
दीनौ आदर अधिक तिन, कीनौ अधिक सनेह ॥४१॥"

यद्यपि व्रजभाषाकी प्रकृति कविके सम्पूर्ण काव्यमें रमी हुई है, फिर भी अवधीके कुछ अश, उर्दू-फ़ारसीके शब्दोंका यथावसर भारी प्रयोग, तथा उठती हुई खडी बोली (हिन्दी)का आधिक्य दृष्टिगोचर होता ही है अत अर्धकथानककी भाषाको पूर्णत व्रजभाषा नही कहा जा सकता।

अवधी और भोजपुरीके विशेष लक्षण लगभग एक से ही हैं।

सज्ञामें तीन रूप प्राप्त होते है—

१ ह्रस्व	दीर्घ	अनावश्यक
घोड	घोडवा	घोडौना (घोडउना)

२ सज्ञामें बहुवचनके अन्तमें 'न'का प्रयोग होता है, यथा—घोडन। कर्ममें का और सम्बन्धमें केर और अधिकरणमे 'मा'प्रत्ययोंका प्रयोग होता है।

३. सर्वनामके सम्बन्धमें कारकमें मोर, तोर, हमार, तुमार आदि।

४ क्रियाएँ–देखव, करव आदि।

इन सभी लक्षणोका तो अर्धकथानकमें प्राय अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। अत इस कृतिकी भाषा अवधी अथवा भोजपुरी तो कही ही नहीं जा सकती।

६. वह था चोरन्ह का चौधरी।४१८।
७. भावी अमिट हमारा मता, इसमें क्या गुनाह क्या खता।४२८।
८ अगा चगा आदमी सज्जन और विचित्र।५६४।

उल्लिखित उद्धरणोमें और आजकल बोली जानेवाली खडी बोली (हिन्दी) में कोई विशेष अन्तर नही मिलता, वरन् एक गहरे साम्यके ही दर्शन होते हैं। शब्दोकी ही बात नहीं है अपितु वाक्य-रचना और पद-रचना भी पूर्णतया खडी बोलीमें की गयी है। खडी बोलीके शब्द तो सम्पूर्ण कृतिमें पदे-पदे आये हैं। कृतिको सरल ललित एव हृदयग्राही बनानेवाली लोकोक्तियाँ, मुहावरे और सूक्तियाँ भी 'अर्धकथानक'में पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होती है। इनसे भाषामें कितनी गतिमत्ता और सजीवता आ जाती है विज्ञ पाठक जानते ही हैं—

१ सुख-दु ख दोऊ फिरती छाह।४४।
२ हारे हमाल की पोट-सी डारि कें।६२।
३. जो दु:ख देखै सो सुख लहै, सुख भुजै सोई दु:ख सहै।१२८।
४ जैसी मति तैसी गति होइ।१३८।
५ अत्र आइ अब आइ धार।१५७।
६ रही न कुसल न भागे खेम, पकरी साप छछूंदर जेम।१५८।
७ बहुत पढैं बामन अर भाट, बनिक् पुत्र तौ बैठे हाट।
८ बहुत पढैं सो मांगे भीख, मानहु पूत बडे की सीख।२००।
९ काहू कह्यो न मानै कोई, जैसी मत्ति तैसी गति होई।२०२।
१० साहिब सेवक एक से।२३७।
११ नदी नाव सजोग ज्यो बिछुरि मिलै नहि कोई।२४३।
१२ घर की नाव रही सी लगी। २७०।
१३ कहैं दोप कोउ न तजै, तजै अवस्था पाई।
जैसे बालक की दसा, तरुन भयै मिटि जाई॥ २७२॥
१४ जैसा कातै तैसा बुनै, जैसा बोवै तैसा लुनै। ३०६।
१५ निकम्मी घोंघ सागर मथा, भई हींग वाले की कथा॥३६५॥
१६. करी समकस्त गई अकाथ, कौड़ी एक न लागी हाथ। ३६४।
१७ सुख दु ख कौ दाता भगवन्त॥ ३७३॥
१८ समै पाइकै दु ख भयौ, समै पाइ सुख होय।
होनहार सो ह्वै रहै, पाप पुन्न फल दोइ॥ ३७४॥

१९ भाई सो क्या भिन्नता, कपटी सो क्या नेह । ४०४ ।

२० छिन महि अगिनि छिनक जलपात,
त्यों यह हरप शोक की बात । ४४३ ।

२१ चूक्यौ झगरा भयौ अनद, ज्यों सुछन्द खग छूटत फद ।४५७।

२२ मुख मीठी बातें करै, चित कपटी नर नीच । ५०८ ।

२३ जो हम कर्म पुरातन कियौ, सो सब आइ उदै रस पियौ ।५३८।

२४ लोभ मूल सब पाप कौ, दुख कौ मूल सनेह ।
मूल अजीरन व्याधि कौ, मरन मूल यहु देह । ५५१ ।

२५ भई बनारसि की दसा, जथा ऊँट कौ पाद । ५९५ ।

२६ निन्दा थुति जैसी जिस होइ, तैसी तासु कहैं सब कोइ ।
पुरजन बिना कहैं नहि रहैं, जैसी देखें तैसी कहैं । ६०९ ।

२७ सुनी कहहि देखी कहहिं, कलपित कहैं बनाइ ।
दुराराध ए जगतजन, इन्ह सौं कछु न वसाइ । ६१० ।

२८. ज्यों जाकौ परिगह घटै, त्यों ताकौ उपसाति । ६४४ ।

भाषासम्बन्धी इन सभी विशेषताओके आधारपर हम कह सकते हैं कि इस रचनाकी भाषा तात्कालिक जनभाषा (व्रजप्रदेशकी) व्रजभाषासे प्रभावित उठती हुई खडी बोली हिन्दी ही है। यह खडी बोली भी उस समय मुगल शासको-द्वारा प्रचलित हो रही थी अत धीरे धीरे जनभाषाका रूप ले रही थी। यदि हम विशेष बोलियोकी विशेषताएँ इस ग्रन्थकी भाषामें ढूँढें तो हमें उनका अभाव ही दृष्टिगोचर होगा। न यहाँ राजस्थानकी मूर्धन्य ध्वनियोका प्राधान्य है, न के स्थानपर 'ण' भी नहीं है, न बुन्देलीका ड के स्थानपर 'र' और मध्य व्यजन 'ह' का लोप पाया जाता है।

'अर्धकथानक'में उर्दू-फ़ारसीके शब्द काफी तादादमें आये हैं और अनेक मुहावरे तो आधुनिक खडी बोलीके ही कहे जा सकते है। इसपर-से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बनारसीदासजीने अर्धकथानककी भाषामें व्रजभाषाकी भूमिका लेकर उसपर मुग़ल-कालमें बढते हुए प्रभाव-वाली खडी बोलोकी पुट दी है और इसे ही उन्होने मध्यदेशकी बोली कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्यदेशमें काफी प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रकार अर्धकथानक भाषाकी दृष्टिसे खडी बोलीके आदिम कालका एक अच्छा उदाहरण है।[1]

---

१ 'अर्धकथानक' सम्पा० 'प्रेमी', पृ० १६, भूमिका डॉ० हीरालाल।

बनारसी-विलास

बनारसी-विलास कविवर बनारसीदासजीकी समय-समयपर की गयी प्राय. जीवन-भरकी सम्पूर्ण लघु-रचनाओंका सग्रह है। यह सग्रह कविवर-की मृत्युके कुछ ही समय बाद चैत्र सुदी २ वि० स० १७०१ को आगरा-निवासी दीवान जगजीवनने किया था। यह सग्रह कविवरके विविध प्रकारीण काव्य-कौशलको प्रस्तुत करता है। भाषाकी सरलातिसरल, साहित्यिक एव आलकारिक विविध विधाएँ सहज ही में दृष्टिगोचर होती हैं। विषय-वैविध्य तो है ही शैली भी प्राय व्यास-प्रधान है, कहीं-कहीं गहरी सामासिकता भी दृष्टिगोचर होती है। इस सग्रहमें हम कविवरका उत्तर भारतकी सभी प्रमुख भाषाओंका अद्‌भुत ज्ञान देखते हैं। पूर्वी (भोजपुरी और अवधी) व्रज, उर्दू-फारसी, राजस्थानी (विशेषत ढूँढारी) और खडी बोली हिन्दीके तात्कालिक रूपोंका सुन्दर और सुगठित परिचय हमें आपकी इस कृतिमें प्राप्त होता है। सामान्यतया उक्त सभी भाषाओंमें जो रचनाएँ कविने की हैं वे इस सग्रहमें निबद्ध हैं। इस संग्रहकी सभी रचनाओंकी प्रमुख भाषा जिसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, कुछ खडी बोली मिश्रित ही है। भाषा सर्वत्र व्याकरणसम्मत एव विषयानुकूल है। विषय-को सदैव रोचक, ग्राह्य एव आकर्षक बनानेमें भाषा सर्वत्र सहायिका रही है। बनारसी विलासमें कविकी कई प्रकारकी रचनाओंका सग्रह है, जैसे—

१ अनूदित रचनाएँ, २ सैद्धान्तिक रचनाएँ, ३ आध्यात्मिक रचनाएँ, और ४ सुभाषित एव मुक्तक रचनाएँ।

इन चारों ही प्रकारकी रचनाओंमें हमें बनारसीदासजीका भाषागत वैशिष्ट्य समझने देखनेका पूर्ण अवसर मिलता है। सर्वप्रथम हम उनकी अनूदित रचनाओंको ही लेंगे। कविने अपने पूर्ववर्ती सस्कृतके कुछ विख्यात विद्वानोंके अनेक मुक्तकोंका हिन्दीमें पद्यानुवाद किया है। इस पद्यानुवादमें मूल भावोंकी पूर्ण रक्षाके साथ-साथ कविने अनुपम शब्दावली एवं मोहक शैली-द्वारा उन्हें और भी आकर्षक बना दिया है। शब्द-चयन, पद-रचना और अनायास अलकारोंकी योजना आदि बातें अत्यन्त मोहक हैं। उदाहरण रूपमें कुछ अनूदित पद्य ये हैं—

सैद्धान्तिक रचनाओंमें जैन सिद्धान्तसे सम्बन्धित रचनाएँ हैं। इनमें अनूदित भी हैं और मौलिक भी। इनमें साहित्यिकताका प्राय अभाव ही मिलता है। वर्णनात्मक पद्धतिसे जैन सिद्धान्तका विवेचन पद्य-द्वारा करना कविका उद्देश्य रहा है। भाषाकी दृष्टिसे इन रचनाओंका भारी महत्त्व है। वर्णनप्रधान रचनाओंमें भी कविकी भाषा अत्यन्त सुगठित एव विषयानुकूल रही है। विवरण-प्रधान रचनाएँ प्राय शुष्क होती हैं परन्तु बनारसीदासजी उनमें भी अलकारादिकी योजना कर उनको यथासाध्य सरस एव सुपाठ्य बना सके हैं। जिनसहस्रनाममें सर्वत्र अनुप्रासकी छटा अवलोकनीय है—

"लघु रूपी लालच हरन, लोभ विदारन वीर।
धारावाही धौतमल, धेय धराधर धीर ॥२१॥
चिन्तामणि चिन्मय परम नेम, परिणामी चेतन परम छेम।
चिन्मूरति चेताचिद्विलास, चूणामणि चिन्मय चन्द्रभास ॥२२॥
चारित्र धाम चित् चमत्कार, चरनातम रूपी चिदाकार।
निर्वाचक निर्मम निराधार, निरजोग निरंजन निराकार ॥२३॥"

चतुर्दश मार्गणाओंका वर्णन करते हुए कविवर जीवकी विविध दशाओंका चित्रण अत्यन्त मृदुभाषामें करते हैं—

"कबहूँ क्रोध अगनि लहलहै, कबहूँ अष्ट महामद गहै।
कबहूँ मायामयी सरूप, कबहूँ मगन लोभ रस कूप ॥१०॥
चार कषाण चतुर्विध भेष, धरजिय नाटक करै विशेष।
कहूँ चक्षु दर्शन सों लखै, कहुँ अचक्षु दर्शन सों चखैं ॥

जैन दर्शनका कर्मसिद्धान्त अपनी विपुलता और गम्भीरताके लिए विश्वविख्यात है। आठों कर्मोंकी चर्चा कर्मकाण्डादि ग्रन्थोंमें बडे विस्तारसे की गयी है। बनारसीदासजीका भाषापर अद्भुत अधिकार था, वे बडेसे बडे गम्भीर भावको एक लघु पक्तिमें अत्यन्त स्पष्टता और पूर्णताके साथ व्यक्त कर सकते थे। प्रस्तुत पक्तियोंमें यही बात दर्शनीय है। जैन दर्शनमें ज्ञानावरणादिक आठ कर्म माने गये हैं जिनका उन्मूलन करके ही जीव ससार-सागरको पार कर पाता है, उन्हींका वर्णन देखिए। प्रथम चरणमें कर्मका नाम और द्वितीय चरणमें उसकी सुलझी हुई सक्षिप्त परिभाषा है—

[1]"प्रथम कर्म ज्ञानावरणीय, जिन सब जीव अज्ञानी कीय।
द्वितिय दर्शनावरण 'पहार', जाको ओट अलख करतार ॥४॥
तीजा कर्म वेदनी जान, तासों निराबाध गुणहान।
चौथा महामोह जिन भनै, जो समकित अरु चारित हनै ॥५॥
पचम आवकरम परधान, हनै शुद्ध अवगाह प्रमान।
छट्ठा नामकर्म विरतन्त, करहि जीव को मूरतिवन्त ॥६॥
गोत्र कर्म सातमौ बखान, जासौं ऊँच नीच कुलमान।
अष्टम अन्तराय विख्यात, करै अनन्त सकति को घात ॥७॥
ऐही आठों करममल, इनमें गर्भित जीव।
इनहि त्याग निर्मल भयौ, सो शिव रूप सरीव ॥८॥"

आध्यात्मिक रचनाओंमें कविकी प्रतिभा एव प्रयासरहित भाषाशैली अत्यन्त निखरी हुई अवस्थामें है। पदोंमें जितनी मार्मिक भावाभिव्यजना है उतनी ही भाषागत प्राजलता भी है। असन्तुष्ट एव परिथकित मानव मन अपने दु खका कारण सासारिक वस्तुओंका अभाव ही समझता है, उसे अत्यन्त सरलतासे कवि बोधित करते हैं—

[2]"रे मन कर सदा सन्तोष।
जातें मिटत सब दु ख दोष। रे मन०
बढत परिग्रह मोह बाढत, अधिक तृषना होति।
बहुत ईंधन जरत जसें, अगति ऊँची जोति। रे मन० इत्यादि।"

अथ च—

"दुविधा कब जैहै या मन की
कब जिन नाथ निरजन सुमिरों, तज सेवा जन-जन की।
कब रुचि सों पीवे दृग चातक, बूँद अखय पद घन की। इत्यादि।"

बनारसीदासजीकी अध्यात्म-प्रधान रचनाओंमें पूर्वी भाषा (अवधी) में रचित पद भी हैं। ये पद भी कविके अद्भुत भावगुम्फन एव तदनुकूल भाषा-गठनके परिचायक हैं। देखिए,

[3]"बालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि।
अचरा गौ फहराय, सरम गे छूटि।" बालम०

---

१ 'कर्मप्रकृति विधान', 'बनारसीविलास' पृ० १०७।
२ 'बनारसीविलास' ३१।
३ वही।

हू तिक रहूं जे सजनी घोर
घर करके उन जानै चहुदिसि चोर। बालम०
पिउ सुधि आवत वन में पैसिउ पेलि।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि ॥३॥"

पंजाबी भाषा

बनारसी-विलासमें 'मोक्षपैडी' नामक पजाबी भाषाकी एक सुन्दर रचना है। कविका इस भाषापर भी कितना भारी अधिकार था यह इस रचनासे ही विदित होता है। कुछ पक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

[1]"इक्क समय रुचिवतनो, गुरु अक्खै सुन मल्ल।
जो तुझ अन्दर चेतना, वहै तुसाड़ी अल्ल ॥१॥
ए जिन वचन सुहावने, सुन चतुर छयल्ला।
अक्खै रोचक शिक्खनो, गुरु दीन दयल्ला ॥
इस बुझे बुध लहलहै, नहि रहे मयल्ला।
इसका मरम ना जानई, सो द्विपद वयल्ला ॥ ॥"

बनारसी-विलासमें कविकी विभिन्न भाषाओंके प्रभावोंसे विभिन्न अवसरोंपर रची गयी रचनाएँ हैं अत निश्चित रूपसे यह कहना कठिन है कि अमुक भाषामें सम्पूर्ण बनारसी-विलास रचा गया है। हाँ, सम्पूर्ण सग्रहके अध्ययनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि इसमें सरल प्रवाहयुक्त एव साहित्यिक व्रजभाषाका, जो कही-कही जयपुरी, ढूँढारी और खडी बोलीसे प्रभावित है, प्रयोग हुआ है। कही भी शब्दों अथवा पदोंमें शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

कविवर बनारसीदासजीकी भाषाके सम्बन्धमें एक दृष्टि और प्राप्त होती है। डॉ० लुई पी० टैसीटरीके विविध पत्रोंका उल्लेख करते हुए श्रीभँवरलाल नाहटा उक्त डॉ० के ही एक पत्रके कुछ अश उद्धृत करते हुए लिखते हैं–[2] "जहाँतक बनारसीदासजीकी भाषाका सम्बन्ध है मैं सोचता हूँ कि उनकी रचनाओंके छपे हुए सस्करणोकी भाषा – उनके हस्तलिखित ग्रन्थोकी भाषासे हूबहू नही मिलती, बल्कि उसको साहित्यिक व्रज एव

१ 'बनारसी-विलास', पृ १३२।
२ 'सयुक्त राजस्थान' नवम्बर १९५६।
स्वर्गीय श्री एल० पी० टैसीटरीके शास्त्र विशारद जैनाचार्य विजयधर्मसूरिजीके नाम दिये गये पत्र।

शील है तातैं शुद्ध व्यवहारी कहिए, जोगारूढ़ अवस्था विद्यमान है तातैं व्यवहारी नाम कहिए।" इस गद्यमें ब्रज और राजस्थानी ढूँढारीकी स्पष्ट झलक है। ढूँढारीमें जैन साहित्यके बडे-बडे पुराणोका पद्यानुवाद भी हुआ है। बनारसीदासजीको गद्यकी प्रेरणा पाण्डे राजमल्लके समयसारसे मिली है और बनारसीदासके परवर्ती जैन गद्यकारोंने बनारसीदाससे इस दिशामें अवश्य ही प्रेरणा ली। वाक्य-रचना और क्रिया तथा विभक्तियोके प्रयोग-में भारी समता मिलती है।

बनारसीदासजीका दूसरा निबन्ध है, 'उपादान निमित्तकी चिट्ठी'। जीवके किसी भी कार्यमें उपादान (जीव स्वय) और निमित्त (बाह्य सहायक कारण) ये दो ही सहायक होते है यह बताया गया है। इसमें भी वही विवेचना प्रधान शैली तथा प्रचलित सरलातिसरल शब्दोका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। "इहा कोउ तटकना करतु है कि तुम कह्यो जु ज्ञानको जाण पणैं अरु चारित्रकी विशुद्धता दुहुँ स्यो निर्जरा है सु ज्ञानके जीव पनो सो निर्जरा यह हम मानीं। चारित्रकी विशुद्धता सो निर्जरा कैसें यह हम नाही समझो।' भावोंकी अभिव्यजनाके साथ उन्हें गति देनेमें भी बनारसीदासजीकी भाषा सहायिका रही है। कविकी गद्यमें भी हम किसी प्रकारकी शिथिलता अथवा व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि नहीं पाते। हिन्दी गद्यका प्रारम्भिक इतिहास और उसका क्रमिक विकास अवश्य ही बनारसी-दासजीसे पाथेय प्राप्त कर आगे बढ़ा है। कविके परवर्ती गद्यकारोने निश्चित रूपसे आपके गद्यसे भारी मार्ग निर्देशन प्राप्त किया है।

बनारसीदासजीमें
धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्व

प्रत्येक धर्मकी आचार (चारित्र पोषक साधना पक्ष) और विचार (दर्शन पक्ष) ये दो शाखाएँ होती हैं। इन दोनों ही शाखाओंमें जबतक सन्तुलन रहता है तभीतक धर्मकी धारा अविच्छिन्न रूपसे चलती है। उसमें चारित्रकी दृढ़ताके कारण शिथिलाचार नहीं आ पाता और दर्शनकी परिपक्वताको आडम्बर नहीं बनने देती। जैन धर्ममें आचार और विचारके सन्तुलनका भारी ध्यान रखा गया है। पं० बनारसीदासजीके सम्पूर्ण साहित्यमें धर्मकी भी एक बलवती तब वेगवती धारा प्रवाहित हुई है। आपने मनुष्यके आत्म-कल्याणके लिए आवश्यक आचार पालनके साथ विचार (दर्शन) का बड़ी विद्वत्ताके साथ प्रतिपादन किया है। अध्यात्ममें तो आपने अपने समयसारद्वारा एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया है। आद्य आचार्य कुन्दकुन्दको जैन जनता विस्मृत-सा करने लगी थी, आत्मतत्त्वकी भी चर्चा दिनोंदिन कम होती जा रही थी। धर्ममें क्रिया-काण्डकी अति और दूसरी ओर शिथिलाचारकी वृद्धि हो रही थी। अति आचार अत्याचार बन चुका था। यवनशासनके कारण यह उथल पुथल आये दिन होती रहती थी। कविवर बनारसीदासजीने अपने जीवनके बहु-भागमें सभी धर्मोंके विविध दृश्य देखे, स्वयं पूर्ण तत्परतासे स्वाध्याय किया तब अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि यदि मनुष्य स्वयं दृढ़ हो तो आवश्यक थोड़े-से कारणोंकी सहायतासे ही आत्म कल्याण कर सकता है। उसे सामाजिक विवादोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है।

मानवके आत्म-विकासमें मूल कारण उसकी आत्मशक्ति ही है। बाह्यके निमित्त उपचारसे ही, कारण बन जाते हैं वस्तुतः वे हैं नहीं। मानव विकासमें कार्य करनेवाली इन्हीं दो शक्तियोंके नाम उपादान और निमित्त कारण रखे गये हैं। अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीका झुकाव प्रमुख रूपसे उपादान (आत्मशक्ति) की ओर अर्थात् अध्यात्म

पक्षकी ओर हैं। निमित्त कारणको वे बहुत ही साधारण महत्त्व देकर छोड़ देते हैं। उक्त विचारकी पुष्टिके लिए कविवरकी निम्नस्थ पंक्तियाँ मननीय हैं—

निमित्त उपादानके दोहे—

"गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बल हीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥१॥
हौं जानै था एक ही, उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी माँहि जहाज ॥२॥"

दोनों दोहोंका उत्तर—

"ज्ञान नैन किरया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निहचै जहाँ, तहँ निमित्त व्योहार ॥३॥
उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेद ज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय ॥४॥
उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सों रथ चलै, रवि को यहै स्वभाव ॥५॥
सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन ॥६॥
उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।
बसै जु जैसे देश में, करै सु तैसे भेस ॥७॥"[1]

इन प्रश्नोत्तरात्मक दोहोंसे हमारे सम्मुख कविवर बनारसीदासजीका धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। वे क्रियाकी चर्चा व्यावहारिक रूपसे ही करते हैं निश्चय नयसे आत्मतत्त्वकी परख अर्थात् ज्ञान ही उन्हें मान्य है और यही मान्यता जैन आचार्योंकी भी है। आत्मानुभूतिके दिव्य लोकमें इतना अमित सौन्दर्य और आकर्षण है कि फिर मनुष्यको सांसारिक क्रियाओं और आचारकी बात करने या सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

बनारसीदासजीकी रचनाओंमें आचारपरक एवं अध्यात्मपरक स्थल निम्नलिखित हैं—

1 'बनारसी विलास', पृ० २२१, सं० श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल।

थे। उनका गम्भीर अध्ययन था। बनारसी-विलासमें संग्रहीत जैन सिद्धान्त विषयसे सम्बन्धित रचनाओंमें जैन धर्मके गहन तत्त्वोंका परिचय दिया गया है। वह उनके जैन सिद्धान्तविषयक गम्भीर ज्ञानका स्पष्ट प्रमाण है। सिद्धान्तकी गहन चर्चाओंके उदाहरण देकर समझाना उन्हें अच्छी तरह आता था।"

धर्मकी वास्तविकताके लिए ज्ञान और चारित्रकी युगपत् अनिवार्यताके सम्बन्धमें कविवर अत्यन्त स्पष्ट लिखते हैं- "और सुनि जहाँ मोक्ष मार्ग साध्यो तहाँ कह्यो कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' और यो भी कह्यो कि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' ताको विचार-चतुर्थ गुणस्थानक स्यू लेकर चतुर्दशम गुण-स्थानक पर्यन्त मोक्षमार्ग कह्यो ताको ब्योरो। सम्यक् रूप ज्ञानधारा चारित्र रूप विशुद्ध धारा दोऊ धारा मोक्ष मार्गको चली सु ज्ञान सों ज्ञानकी शुद्धता और क्रिया सो क्रियाकी शुद्धता।"[1] केवल-ज्ञान अथवा केवलक्रियासे आत्मकल्याण नहीं हो सकता। दोनोंका समन्वय आवश्यक है। आत्मशक्तिको जागृत करनेके लिए आचारकी अर्थात् निमित्तोंकी प्रबल आवश्यकता होती है। संसारके साधारणतया कार्योंसे लेकर मोक्षमार्गके प्रशस्त कार्यों तक निमित्त कारण कार्य करते हैं। जैन न्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'में अनेक स्थानोंपर कार्योत्पत्तिमें कारणकी अनिवार्यताका प्रतिपादन किया है। कारणोंके व्यंजक कारण, अवलम्ब कारण, उपादान कारण, सहकारी कारण आदि उसी महाग्रन्थमें स्पष्ट किये गये हैं।[2] "स्वसामग्रीत सकलभावानामुत्पत्त्यभ्युपगमात्, उत्पादककारणकलापात् कार्यमुत्पद्यते।" एक स्तुतिमें पं० दौलतरामजीने भी आत्मकल्याणमें साधक कारणको स्वयं भगवान्-रूप कारणकी चर्चा की है।

"यह लखि निज दुःख गद हरण काज।
तुम ही निमित्त कारण इलाज॥"

स्पष्ट है आत्मा स्वयं कार्य करता है, फिर भी उसे कारणोंकी भी अपेक्षा होती है। ये कारण ही धर्मका आचार पक्ष अथवा चरित्र पक्ष है।

अब हम बनारसीदासजीकी रचनाओंमें-से कुछ आचार पक्षके उद्धरण प्रस्तुत करेंगे जिससे उनकी धर्ममें चारित्रके प्रति क्या आस्था थी वह

१. उपादान निमित्तकी चिट्ठी। 'बनारसी-विलास', पृ० २२०।
२. 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृ० ३०।

स्पष्ट हो सकेगी। देव, शास्त्र और गुरुके सम्बन्धमें कविवरकी आस्था अत्यन्त उच्च कोटिकी है। संसारकी समस्त निधियाँ और ऐश्वर्य उसके चरणोंमें लुण्ठित होते रहते हैं जो द्रव्य और भावसे देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करता है। भवसागरका सन्तरण भी वह अत्यल्प कालमें कर लेता है। देवपूजनके सम्बन्धमें कविवरका यह ललित पद्य देखिए—

"देव[1] लोक ताको घर आगन, राज रिद्ध सेवें तसु पाँय।
ताके तन सौ भाग आदि गुन, केलि विलास करै नित आय॥
सो नर तुरत तरे भव सागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य भाव विधि सहित बनारसि, जो जिनवर पूजे मन लाय॥"

भक्ति-भरित यह कविता किस सहृदय भक्तके मानसको भक्तिभावसे उद्वेलित न कर देगी।

गुरुके प्रति, हमारे स्वर्णयुग भक्तिकालके सभी कवियोंकी आस्था देवतुल्य ही रही है। आत्मोद्धारका एक मात्र दर्शन गुरु ही है। बनारसी-दासजी भी गुरुके प्रति अपनी अपरिमेय श्रद्धा प्रकट करते हैं—

"मिथ्यात[2] दलन सिद्धान्त साधक, मुकति मारग जानिए।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुन्य पाप बखानिए।
संसार सागर तरण तारण, गुरु जहाज विसेखिए।
जग मांह गुरु सम कहँ बनारसि, औ न दूजौ पेखिए॥"

संसार सागरको पार करनेके लिए गुरु एक मात्र जहाज हैं। करनी और अकरनीकी चेतना हमें उन्हीं सद्गुरु द्वारा प्राप्त होती है। बिना गुरुके हमारा मनुष्यत्व जागृत नहीं हो सकता।

जैन शास्त्रोंका मन्थन कर कविवर बड़ी कुशल अभिव्यंजना करते हैं—

"शुभ[3] धर्म विकासै, पाप विनासै, कुपथ उथापन हार।
मिथ्यामत खंडे, कुनय विहंडे, मंडे दया अपार॥
तृष्णा मद मारे, राग विडारै, यह निज आगम सार।
जो पूजें ध्यावें पढ़ें पढावें, सो जग मांहि उदार॥"

मिथ्या धारणाओंको त्याग कर उज्ज्वल क्षमा भावकी स्थापना करना,

१ 'बनारसी-विलास', पृ० २२।
२ वही।
३ वही।

तृष्णा और रागभावपर विजय प्राप्त करना और साहसके साथ अन्याय मार्गका उन्मूलन करना यही जिनवाणीका सार है। कविवर बनारसीदासजीको काव्य-भाषा और शैली इतनी अनुकूल पड़ती है कि गम्भीरसे गम्भीर भाव सहजमें ही हृदयगत हो जाते हैं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच अणुव्रतोकी भी बनारसीदासजीने अत्यन्त मार्मिक व्यंजना की है। अहिंसा आदि व्रतोकी चर्चा कविवरसे पूर्व इस देशमें कई सहस्राब्दियोसे परिव्याप्त होनेपर भी विवेचनकी मौलिकता कविवरको एक अनोखा ही महत्त्व प्रदान करती है। पाठक कविको भूरि-भूरि प्रशंसा बशवदको भाँति करने लगता है। अहिंसाके सम्बन्धमें काव्य-प्रतिभा अत्यन्त मोहक हो उठी है—

अहिंसा—

"सुकृत[1] की खान, इन्द्रपुरी की निसैनी जान,
पाप रज खंडन को पौन रासि पेखिए,
भव दुःख पावक बुझाएवे को मेघमाला,
कमला मिलाएबे को दूती ज्यों विशेखिए।
मुकति वधू सों प्रीति, पालबे कों आली सम,
कुगति कि बार दिढ़ आगल सी देखिए।
ऐसी दया कीजै चित, तिहूँ लोक प्राणी हित,
और करतूत काह लेखे में न लेखिए॥"

कविताका भाव हस्तामलकवत् स्पष्ट है। किस अद्भुत सरलतासे बनारसीदासजीने अहिंसाका माहात्म्य प्रकट किया है।

परिग्रह अर्थात् भोगविलासकी भौतिक सामग्री एवं मानसिक तृष्णा ही मनुष्यकी सुख-शान्तिका नाश कर रही है। विद्वान् गुणवान् एवं चरित्रवान् व्यक्ति भी इस परिग्रह-पिशाचके चक्रमें आकर अपना मनुष्यत्व ही खो बैठता है। एक क्षुद्र संसारीकी भाँति वह भी शारीरिक और मानसिक वेदनाओंमें जीवन व्यतीत करता है। इसी परिग्रहकी भयंकरताका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन कविने किया है—

"कलह[2] गयंद उपजाएवे को विन्ध्य गिरि,
कोप गीध के अघायवे को समशान है,

1 'बनारसी-विलास', पृ० ३७।
2. वही, पृ० ३८।

सकट भुजग के निवास करिवे को विल,
वेर भाव चौर को महानिशा समान है।
कोमल सुगुन घन खडवे को महापौन,
पुन्य वन दाहिवे को दावानल दान है।
नीत नय नीरज नसायवे को हिम राशि,
ऐसो परिग्रह राग दु ख को निधान है।"

उक्त पद्यमें भाव-प्रकाशन-पटुता कितनी अद्भुत है इसे सहज ही में सहृदय जन अनुभव कर सकते हैं। यह सासारिक मोह-ममता हमारी क्षमा, कोमलता, मिलनसारिता, धर्माचरणकी प्रवृत्ति आदि सभी उदात्त भावनाओको नष्ट कर हमें कष्टो और क्षुद्रताओके अ घ कूपमें भव-भवान्तरो तक घेरे रहती है।

वास्तवमे हमारी स्वयकी ही मनोवृत्तियाँ हमें ससारमें परमुखापेक्षी एव एक नगण्य मनुष्यके रूपमें उपस्थित कर देती हैं। हम ससारके वातावरणको दोष देते हैं—ठीक है, परन्तु वास्तवमें यदि हमारा झुकाव अन्तर्मुखी हो तो इन विषय-भोगोकी कोई सामर्थ्य नही जो हमें अपनी ओर आकृष्ट कर सके। हमारी इन्द्रिय-लोलुपता जब अस्थिर चचल मनकी लोभ-भरी दृष्टिसे मिल बैठती है तब मनुष्य जितना पतित हो सकता है हो जाता है। हम लोभके वशीभूत होकर ससारका कौन-सा निकृष्ट कार्य नहीं करते हैं। प० बनारसीदासजी इसी पापशिरोमणि लोभके सम्बन्धमें लिखते हैं—

"सहे[1] घोर सकट समुद्र की तरगनि में,
कपै चित्त भीत पथ, गाहै वीच बन में,
ठाने कृषि कर्म जामें शर्म को न लेश कहु,
सकलेश रूप होय, जूझ मरे रन मे।
तजै निज धाम को विराम परदेश धावै,
सेवै प्रभु कृपण मलीन रहै मन में,
डोलै धन कारज, अकारज मनुज मूढ,
ऐसो करतूति करै, लोभ की लगन में॥"

मनुष्यका व्यक्तित्व ही जब लोभपरक हो जाता है तो प्रत्येक कार्यमे वह अपना स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण अवश्य ही रखता है। उसस फिर किसी उदार

१ वही।

भावकी अथवा निःस्वार्थ सेवाकी आशा करना आकाश-कुसुम जैसी कल्पना हो जाती है।

बनारसीदासजीकी भावानुभूति जितनी सबल है, अभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रभावशालिनी है। विषयी पुरुषोंकी मनोवृत्तिका ये तीव्र व्यंग्य विनोदके साथ चित्रण करते हैं—पढ़ते ही पाठकके मनपर उसकी एक अमिट छाप पड़े बिना नहीं रहती।

"[1]धर्म तरु भंजन को महामत्त कुंजर से,
आपदा भंडार के भरन को करोरी है,
सत्य शील रोकवे को, पौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति के मारग चलायवे को धोरी है।
कुमति के अधिकारी कुनै पंथ के विहारी,
भद्र भाव ईंधन जरायवे को होरी है,
मृषा के सहाई दुरभावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी है॥"

धर्ममें आचार (व्रत, उपवास, पूजन, तप आदि) का महत्त्व है अवश्य, परन्तु इस आचारमें हमारी अन्तरंग निष्ठा होनी चाहिए। इस आचारका सम्बन्ध सीधा हमारे हृदयसे होना चाहिए। यह आचार यदि भावना रहित है अर्थात् शुद्ध हृदयसे नहीं पाला जा रहा है तो निश्चित रूपसे कर्त्ताको यह कार्य क्लेश मात्र है, इससे उसे कोई फल प्राप्त नहीं होगा। आत्म कल्याणकी ओर भी ऐसा चारित्र उसे अग्रसर न कर सकेगा। धर्मका सच्चा सम्बन्ध आत्मा और हृदयसे है। कविवर बनारसीदासजी धर्ममें भावनाका अद्वितीय मूल्यांकन करते हैं—

"कहै[2] पुनीत आचार जिनागम जोवना,
करै तप संयम दान भूमिका सोवना,
ए करनी सब निफल होय बिन भावना,
ज्यों तुष बोए हाथ कछू नहिं आवना।"

उसीका देवपूजन सफल है, उसीकी गुरुचरणोंमें सच्ची भक्ति है, धनत्यागी वही है, गुणीजनों-द्वारा यशोगान भी उसीका होता है, सच्ची

1. 'बनारसी-विलास', पृ० ५४।
2. वही, पृ० ५४।

तपस्या और इन्द्रिय दमन भी उसीके हैं विद्याकी पूर्णता भी उस अनोखे-की है और समस्त अपराध भी उसीके नष्ट हैं जो वैराग्य-धनसे सम्पन्न है। धर्ममें वैराग्य अर्थात् अनासक्तिका अद्वितीय स्थान है। अनासक्ति-के अभावमें चिन्तनमें निर्मलता आना कठिन ही नहीं असम्भव है। संसारसे पृथक् अर्थात् अनासक्त होकर ही हमारे जीवनमें सादगी, पवित्र चिन्तन एवं तपमें तल्लीनता सम्भव है।

बनारसीदासजी इस विषय-वासनासे विरक्ति-अनासक्तिके सम्बन्धमें कहते हैं —

[1]"कीनी तिन सुदेव की पूजा, तिन गुरु चरण कमल चित लायौ,
सो बनवास बस्यौ निसिवासर, तिन गुनवन्त पुरुष यश गायौ,
तिन तप कियौ कियौ इन्द्री दम, सो पूरन विद्या पढ आयौ,
सब अपराध गये ताकौं तजि, जिन वैराग्य रूप धन पायौ ॥"

इसी वैराग्य-भावनाको कविवरने और भी आकर्षक पद्धतिसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सच्चा धर्म और मोक्षप्राप्तिका अनुपम साधन स्वयकी अनासक्तियुक्त शुद्ध अवस्था है। जिसके हृदयमें यह विरक्ति भाव प्रवेश कर लेता है उसे भोग-सामग्रीमें सर्पकी भयकरता, राज समाजमें राजपुज जैसी निर्मोही वृत्ति, परिवारमें बन्धन मात्र, विषयोंमें विष इत्यादि प्रकारसे उसे इन पर-पदार्थोंमें कोई आनन्दानुभव नहीं होता। आत्मानन्दके सम्मुख ये सभी सुख उसे सूर्यके आगे टिमटिमाते हुए दीपक-से लगते हैं। कविवरकी इसी विषयपर कविता देखिए—

[2]"जाकौं भोग भाव दीसैं, कारे नाग के से फन,
राजा कौ समाज दीसै, जैसौ रज कोष हैं,
जाकौ परवार कौ बढाव घेरा बन्ध सूझै,
विषै सुख सौंज कौं विचारै, विषपोष है।
लसै या विभूति ज्यौं, भसमि को विभूति कहैं,
वनिता विलास मैं देखै दृढ दोष हैं,
ऐसौ जान त्यागै यह महिमा विराग ताकी,
ताही को वैराग सही ताके ढिग मोख है ॥"

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने धर्ममें

---

1 वही, पृ० ६५।

2 वही,

आचार पक्षका महत्त्व बडे आदरसे स्वीकार किया है। आत्मानुभवपूर्वक आचारको ही वे मान्यता देते हैं। आडम्बरप्रधान, बोझिल एवं अर्थहीन रूढ़िगत आचारोंको जिनकी हृदयकी पवित्रतासे कोई लगाव नहीं है, साथ ही जो अति व्ययसाध्य एव श्रमसाध्य भी हैं, कविवर बडी दृढ़तासे भर्त्सना करते हैं। बनारसीदासजी कोरे अध्यात्मी नहीं हैं, आत्म-निर्मलताके लिए उसकी मुक्तिके लिए वे चारित्रकी अनिवार्यतापर जोर देते हैं–

"देव पुंजहिं, देव पुजहिं, रचहिं गुरु सेव,
परमागम रुचि धरहिं, तजहिं दुष्ट सगति तत्क्षण,
गुणि सगति आदरहि, करहिं त्याग दुर्भक्ष्य भक्षण,
देहिं सुपात्रहि दान नित, जपें पंच नवकार,
ये करनी जे आचरहिं, ते पावें भव पार ॥"[1]

आध्यात्मिक तत्त्व

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने धर्ममें चारित्र और दर्शनकी मान्यता आत्मानुभूतिपूर्वक स्वीकार की है। हम कविवरके सम्पूर्ण साहित्यका अध्ययन करनेपर इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वे आद्यन्त अध्यात्मप्रेमी हैं। वास्तवमें आत्मधर्म क्या है इस सम्बन्धमें हम आधुनिक अध्यात्म सन्त श्री कानजी स्वामीकी कुछ अनुभव एव स्वाध्याय-पूत पक्तियाँ उद्धृत करते हैं–"राग[2] विकार है इसलिए वह आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माका स्वभाव राग रहित है, यह कहनेपर लोग रागकी परिभाषा यह मानते हैं कि 'स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, मान-प्रतिष्ठा इत्यादिका प्रेम राग है और इसलिए स्त्री, कुटुम्ब इत्यादिका राग छोडकर देव, गुरु, धर्मके प्रति राग करके उसे राग मान लेते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादिका प्रेम राग है वैसे ही देव, गुरु, धर्मके प्रति जो प्रेम है वह भी राग है और इसलिए वह आत्माका स्वरूप नहीं है, उस रागसे भी धर्म (आत्मधर्म) नहीं होता। स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादिके प्रति रागका जो अशुभ भाव है, तथा देव, गुरु, धर्मकी भक्ति-पूजाके रागका शुभ भाव है, वे दोनों राग भाव ही हैं, और इन भावोंको भी छोडकर "मैं आत्मा हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ," इस प्रकारका विचार करनेमें भी गुण-गुणीके भेदका विकल्प है, अत वह भी राग ही है। ज्ञान, गुण आत्मासे पृथक्

---

१ 'बनारसी विलास', पृ० ६७।

२ आत्मधर्म–वर्ष तीसरा, प्रथम अक, मोटा आंकडिया, काठियावाड़।

बाधक होते हैं। जबतक इन उक्त कारणोकी उपस्थिति रहती है तबतक आत्मानुभवमें बाधा ही होती है, शुद्ध स्वरूपसे परिचय हो ही नहीं पाता। वास्तवमें शुद्ध आत्मानुभव सूर्यकी वह उज्ज्वल चमक है जो समस्त कारणोके अन्धकारको समुन्मूलित कर देता है।[1]

आत्मामें अनन्त सुख, अनन्त वीर्य और अनन्त ज्ञान भरा हुआ है फिर भी यह आत्मा सुखकी खोज अपनेसे बाहर ससारके पदार्थोंमें करता है, जो बाहरके पदार्थ गुण, स्वभाव और क्रिया इससे भिन्न हैं, इसे किसी भी प्रकारका सुख नही दे सकते और न किसी प्रकारका दु ख ही दे सकते हैं फिर भी यह जीव आत्मविस्मृतिके कारण उनमें सुख-दु खकी कल्पना किये हुए है। अपनी स्वतन्त्रताके लिए भी पर कारणोपर विश्वास करता है जिनसे यह कदापि स्वतन्त्र नहीं हो सकता। हे आत्मन्! "आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तुम्हें किसी भी उद्धारककी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम स्वय अपने आपके मित्र हो। अपनेको छोड़कर बाहर किसे मित्र खोजते हो?[2] आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए सर्वात्मना स्वाश्रयी बनो।"

प० बनारसीदासजीके साहित्यमें अध्यात्मपरक साहित्य समझनेके पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक होगा कि जैन दर्शनमें आत्माको कैसी मान्यता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने द्रव्यसग्रहमें आत्माके सम्बन्धमें कहा है—

[3]"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्सोड्ढगई॥"

जीव उपयोग, अमूर्त, कर्ता, स्वदेह प्रमाण, भोक्ता, ससारी, सिद्ध और स्वभावसे ऊर्ध्वगामी हैं। इतने गुणोंके होनेपर भी यह आत्मा परतन्त्र क्यो है, इसका केवल एक ही कारण है कि इसने स्वयकी शक्तिको भुला दिया है, और जो पर वस्तुएँ अथवा पौद्गलिक कर्म इसका कुछ नहीं बिगाड सकते, उनसे स्वयको वशीकृत मान रहा है। जिस क्षण भी इसे

१ 'अध्यात्म पदावली', पृ० २६, ले० प० राजकुमार जैन, सा० आचार्य, एम० ए०।

२ पुरिसा तुममेव तुम मित्त, किं बाहिया मित्तमिच्छसि॥ आचारांग १-३-३।

३. 'द्रव्यसग्रह', गाथा २, ले० आचार्य नेमिनाथ चक्रवर्ती।

अपनी शक्तिका बोध हो जायेगा उसी क्षण परमात्मत्व एवं पूर्णानन्द इसमें समाहित हो जायेंगे।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ता

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ता कविवर बनारसीदासजीसे पूर्व अनेक स्वनाम-धन्य अध्यात्मरत्न हो चुके हैं जिनकी रचनाओंमें आपको इस दिशामें दिव्य प्रेरणा प्राप्त हुई। सामान्यतया जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान होनेके कारण प्रत्येक आचार्यने अध्यात्मपर अवश्य ही रचना की है परन्तु जिन आचार्योंने इस दिशामें अत्यन्त उत्कट भावसे जीवन-भर कार्य किया है यहाँ हम संक्षेपमें उनका परिचय करायेंगे।

सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेवने इसी दिशाको अपने अनन्त ज्ञान-द्वारा आलोकित किया। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके पश्चात् चौबीसवें महावीर स्वामी तक यह धारा अक्षुण्ण रूपसे प्रवाहित होती रही। महावीरके पश्चात् उनके अनुयायी श्रमण वर्गने समय-समयपर अपनी शक्ति और स्मृतिके अनुसार बड़ी तत्परतासे इस धाराको गति दी। आज भी हम उस आत्म-ज्योतिका भव्य प्रकाश जिनवाणीमें देखते हैं। जिन अध्यात्म सन्त आचार्योंका लिपिबद्ध साहित्य आज प्राप्त है उनमें सर्वप्रथम आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द हमारे सम्मुख आते हैं। प्रत्येक जैन शास्त्रके प्रवचनके आरम्भमें जो मंगलाचरण पढ़ा जाता है उसके एक अनुष्टुप्से ही आचार्य कुन्द-कुन्दका जैन आम्नायमें शीर्षस्थानीय महत्त्व स्थापित हो जाता है।

"मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

स्पष्ट है भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारी गौतम गणधरके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्यका ही नाम आता है। आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रमुख कृतियाँ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचास्तिकाय हैं। अध्यात्मकी ठोस चर्चा इन ग्रन्थोंमें की गयी है। उत्तरवर्ती आचार्योंने इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर अध्यात्मका विस्तार किया है। आचार्यप्रवरकी अध्यात्म दृष्टिसे लिखी गयी अन्य रचनाओंमें भावपाहुड, दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, मोक्खपाहुड, बोधपाहुड, रयणसार और मूलाचार विशेष महत्त्वकी हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् उमास्वाति आते हैं। अध्यात्मके आप भी अप्रतिम पुरस्कर्ता थे। आपका 'तत्त्वार्थसूत्र' जिसके 'सर्वार्थसिद्धि' और

'राजवार्तिक'-जैसे महान् भाष्य ग्रन्थ बन चुके हैं, जैन आम्नायोंमें अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' आपका ही सूत्र है। आपके पश्चात् लगभग पाँचवीं शतीमें आचार्य पूज्यपादने 'समाधिशतक' और छठी शतीमें आचार्य योगीन्दुने परमात्मप्रकाश तथा योगसार तदनन्तर आचार्य गुणभद्रने 'आत्मानुशासन' अध्यात्मकी अनुपम रचना प्रस्तुत की।

इसके पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्रका समय आता है जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके अत्यन्त गूढ़, मर्मस्पर्शी एवं शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे लिखे गये समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय-जैसे महान् सिद्धान्त (अध्यात्म) ग्रन्थोंका प्राकृतसे संस्कृतमें विशद व्याख्या-टीका करके आचार्यके अध्यात्म सन्देशको घर-घर फैला दिया। आवश्यकता पड़नेपर उक्त ग्रन्थों-पर स्वतन्त्र रचना भी आपने कई स्थलोंमें अपनी अलौकिक विद्वत्ताका भी परिचय दिया है। गद्यमय व्याख्या और पद्यमय स्पष्टीकरण-द्वारा आपने जैन अध्यात्म-धाराको अत्यन्त प्रदीप्त किया।

आपके पश्चात् आचार्य शुभचन्द्रने 'ज्ञानार्णव' लिखा। यह भी अध्यात्मकी एक सुन्दर रचना है।

अब हम एक ऐसे सन्त आचार्यके सम्पर्कमें आते हैं जिन्होंने जनभाषा अपभ्रंशमें अध्यात्मपर अनुपम ग्रन्थ 'दोहापाहुड'की रचना की। ये सन्तरत्न हैं मुनि रामसिंह (लगभग विक्रमकी ११वीं शताब्दी) कविने ईश्वरकी उपमाओं-द्वारा आत्म-तत्त्वका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।[1] "जैन साधु मुनि रामसिंह एक ऐसे ही सुधारक थे, जिन्होंने प्रचलित पाखण्डादि-का घोर खण्डन किया। सिद्धान्तोंकी व्याख्या मात्र करते फिरनेवाले तर्क-पटु पण्डितोंके विषयमें उन्होंने कहा है कि ऐसे लोग बुद्धिमान् कहलाते हुए भी मानो अन्नके कणोंसे रहित पुआलका संग्रह किया करते हैं। और कणका परित्याग कर उसकी भूसी मात्र कूटा करते हैं।"[2] "बहुत पढ़नेसे क्या लाभ है। पण्डितोंको चाहिए कि वे ज्ञानके उस एक अग्निकणको ही अपना लें जो प्रज्वलित होनेपर पुण्य व पाप दोनोंको क्षणमात्रमें ही जला देता है।" षट्दर्शनोंके झमेलेमें पड़कर मनकी भ्रान्ति नहीं मिट सकती, एक देवके ६ भेद कर दिये किन्तु उससे मोक्षके निकट नहीं पहुँच सके।"[3]

---

१ 'उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा', पृ० ५१।

२, ३ 'दोहापाहुड', रच० मुनि रामसिंह, पृ० २७, दोहा ८४–८५–८७।

'साम्प्रतिक अध्यात्ममत, आध्यात्मिक या 'वाणारसीय' कहकर पुकारा अपितु उसके विरोधमें स्वतन्त्र ग्रन्थोका निर्माण कर उसकी साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे कटु आलोचना भी की। बनारसीदासजीने आलोचकोकी जीवनमें कभी चिन्ता नहीं की, वे निश्चित भावसे एकनिष्ठ होकर अपनी साहित्य-साधनामें रत रहे।

आत्मतत्त्वकी अत्यन्त निर्भ्रान्त एव स्पष्ट व्याख्या करते हुए कविवर लिखते है –

'जैसे बनवारी में कुधातु के मिलाप हेम,
नाना भाँति भयौ पै तथापि एक नाम है,
कसिकै कसौटी लीकु, निरखै सराफ ताहि,
बन के प्रवान करि लेतु देतु दाम है,
तैसे ही अनादि पुद्गल सौं सजोगी जीव,
नव तत्त्व रूपी में अरूपी महाधाम है,
दीसै उनमान सौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरो न और एक आतमा ही राम है।'[१]

सुवर्ण कुधातुके सयोगसे अग्निकी तपनमें अनेक रूप होता है फिर भी उसे सोना ही कहा जाता है, साथ ही स्वर्णकार उसे कसौटीपर कस-कर उसका उचित मूल्याकन भी करता है। अरूपी आत्मा भी उसी प्रकार स्वयमें निर्विकार एव अत्यन्त दीप्तमान होनेपर भी पुद्गलके समागममें नवतत्त्व[२] रूप प्रतीत होता है, परन्तु अनुमान प्रमाणसे निश्चय करनेपर सभी दशाओंमें आत्माके अतिरिक्त और दूसरी कोई वस्तु नही है। प्रत्येक द्रव्यका गुण और स्वभाव स्वतन्त्र है। एक द्रव्य दूसरे रूपमें कदापि परिणत नही हो सकता। आत्माका पौद्गलिक द्रव्योंसे सयोग देखकर प्रतीत होता है कि आत्माकी दशा बदल गयी, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता है। जब आत्मा अशुभ भावमय होता है तब पाप तत्त्व रूप होता है, जब शुभ भावयुक्त होता है तब पुण्य रूप होता है। सयम भावमें संवर रूप, भावास्रव बन्धादिमें आस्रव बन्ध रूप तथा शरीर इत्यादि जड़ पदार्थोंमें जब अहबुद्धि करता है तब जड रूप होता है। परन्तु निश्चय दृष्टिसे इन सभी अवस्थाओंमें वह शुद्ध स्वर्णके समान निर्विकार ही रहता है। आत्म-

१ 'समयसार' जीवद्वार ६ रच० प० बनारसीदासजी।
२ नवतत्त्व-जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप।

वस्तुका निरूपण शुद्ध नयकी दृष्टिसे करते हुए बनारसीदासजी कहते हैं—

> [1]"आदि अन्त पूरन स्वभाव संयुक्त है,
> पररूप परजोग कल्पना मुक्त है,
> सदा एक रस प्रगट कही है जैन में,
> सुद्ध नयातम वस्तु विराजै बैन में।"

अर्थात् जीव अपनी आदि अवस्था निगोदसे लेकर अन्त अवस्था सिद्ध पर्याय पर्यन्त अपने पूर्ण स्वभावसे युक्त है, पर द्रव्योंकी कल्पनासे रहित है। सदैव अपने स्वानुभव रसमें मग्न है। यह शुद्धनयकी दृष्टिसे जिनवाणीमें कहा गया है।

जब जीवको स्वपरका विवेक जागृत हो जाता है और वह आत्म रूपमें ही निमग्न हो जाता है, तब उसे संसारके सभी पदार्थोंमें कोई सार अथवा आकर्षण नहीं रह जाता। वह जान लेता है कि इनसे निश्चित रूपसे उसका सम्बन्ध नहीं बन सकता है और यदि बनाया भी जाय तो आत्मा और पर पदार्थ एक दूसरेका कुछ भी लाभ-हानि नहीं कर सकते। फिर क्यों न स्वानुभव सरितामें निमग्न होकर अलौकिक आत्मानन्दका आस्वादन किया जाये। सच्चे आत्मज्ञानीकी अवस्थाका कितना हृदयाह्लादक चित्रण कविवरने किया है—

> [2]"कै अपनौं पद आप सँभारत, कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
> भेद विज्ञान जग्यौ जिनकै, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी॥
> भाव अनन्त भये प्रतिबिम्बित, जीवन मोख दशा ठहरानी।
> ते नर दर्पन ज्यौं अविकार, रहैं थिर रूप सदा सुख दानी॥"

स्वतः अथवा गुरूपदेशसे जिन्होंने भेद-विज्ञानको जागृत कर लिया है—जो स्वपरके ज्ञाता हो गये हैं। वे महापुरुष सच्चे जीवन्मुक्त हैं। उनकी दर्पणतुल्य शुद्धात्मामें अनन्त पदार्थ यथावस्थित झलकते हैं।

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके पश्चात् आत्माको उसमें इतना अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है कि संसारमें उसकी रुचि स्वयमेव नहीं रहती। रत्नका धनी काँचपर दृष्टिपात करेगा भी क्यों। आत्म-शक्तिका चित्रण श्रीमद्भगवद्गीतामें भी बड़ी मार्मिकतासे किया गया है—

---

१. 'समयसार' जीवद्वार '११।
२. वही १२।

भाव स्पष्ट है, आतप पीड़ित तृषित मृग जल (मिथ्या जल)की ओर दौड़ता है, अन्धकारमें रस्सीमें ही सर्पका भय मानकर जैसे कोई व्यक्ति भागता है, जैसे समुद्र अपने स्वभावसे सदैव स्थिर है तथापि पवनके झकोरेसे उद्वेलित होता है, उसी प्रकार यह जीव स्वभावत जड़ पदार्थोसे भिन्न है फिर भी मिथ्यात्वी (अज्ञानी जीव) स्वयंको इस कर्मका कर्ता मानता है। वास्तवमें भेद विज्ञानसे युक्त जीव कर्मका कर्ता कदापि नही है, ज्ञाता द्रष्टा मात्र है।[1] जिस प्रकार हंसके मुखका स्पर्श होते ही दूध और पानी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि जीवकी सुदृष्टिमें स्वभावत जीव, कर्म और शरीर भिन्न भिन्न स्वयमेव प्रतीत होते हैं। जब शुद्ध चैतन्यके अनुभवका अभ्यास हो जाता है तब अपना निश्चल आत्म-द्रव्य ही परिलक्षित होता है। हाँ, पूर्वार्जित कर्म उदयमें आये हुए दृष्टि-गोचर होते है, परन्तु अहभावके अभावमें यह जीव कर्ता न होकर मात्र दर्शक ही रहता है। आत्माका कर्मोसे पृथक्त्व कविने अनेक दृष्टान्तो-द्वारा स्पष्ट कर दिया है। विषयको हृदयगम करनेमें आपके अनुपम दृष्टान्त बहुत ही सहायक होते है। गम्भीरसे गम्भीर विषय भी बनारसीदासजी दृष्टान्तो द्वारा अत्यन्त प्रिय एव सुबोध कर देते है।

[2]जीव चेतन भावोका कर्त्ता है।

"जीव चेतना संजुगत, सदा पूर्ण सब ठौर।
तातें चेतन भाव कौं, कर्ता जीव न और ॥"

ज्ञानी जीव-द्वारा किये गये दया, दान पूजादिक शुभ कार्य और कषायादिक निर्जराके कारण है और यही कार्य मिथ्यात्वी-द्वारा किये जानेपर बन्धके कारण है। इसका कारण है कि ज्ञानीकी क्रिया विरक्त भाव सहित होती है और मिथ्यात्वी उन कर्मोमें अहबुद्धि रखकर तल्लीन हो जाता है।

[3]"ज्ञानवंत को भोग निर्जरा हेतु है।
अज्ञानी को भोग बंध फल देतु है।"

श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्माकी निर्मलताके इसी अलौकिक प्रभावको बडी विद्वत्तासे स्पष्ट किया है —

---

१ 'नाटक समयसार' कर्ता कर्मक्रियाद्वार छन्द १५-२०।
२ ,, ,, २१।
३ ,, ,, २२-२४।

पार्थ नहीं चाहता तब मोजूदा कर्मको निमित्त कहा जाता है। किन्तु वे कर्म आत्माका कुछ करते नहीं हैं। चाहे जिस क्षेत्रमें और चाहे जिस कालमें आत्मा जब पुरुपार्थ करेगा तभी पुरुपार्थ हो सकता है।" वर्तमान युगके अध्यात्मके प्रकाण्ड पण्डित श्री कानजी स्वामी आत्म-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें लिखते हैं—"मैं निर्मल ज्ञान ज्योति, राग द्वेप विहीन हूं, मेरा सुख मुझमें है इस प्रकारकी श्रद्धाका होना ही स्वभावकी स्वतन्त्रता प्रकट करनेका उपाय है। इस स्वरूपकी रुचिका जो भाव है उसमें अनन्त पुरुपार्थ हैं, विपय कपायकी रुचि नहीं। पुत्र स्त्री, धन इत्यादि सब पर वस्तु हैं, वह मेरा स्वरूप नही हैं। ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें ही आत्मधर्म और स्वतन्त्रता है। आत्माको परके आश्रयकी आवश्यकता नही है, ऐसा निश्चय हुए बिना धर्म और स्वतन्त्रता नही होती। ज्ञानके बिना स्वतन्त्रताका निश्चय कदापि नही हो सकता क्योंकि सबका अता पता लगानेवाला ज्ञान ही है।"

मुक्तिप्राप्तिमें शुद्धोपयोग

ब्रह्मचर्य, तप सयम, व्रत, दान, दया आदि अथवा असयम, कपाय, विपय भोग इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ रूप है। मुक्तिमार्गमें ये शुभाशुभ दोनों ही कार्य बाधक हैं। एक सोनेकी बेडी है और दूसरी लोहेकी, पर बन्धन तो दोनो ही हैं और मोक्षके लिए बन्धनका अभाव चाहिए, अर्थात् राग-द्वेपसे दूर आत्मस्वभावमें तल्लीनता ही मुक्तिमें कार्य-कर होती है। बनारसीदासजीने स्पष्ट कहा है—

"सील तप सजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असजम कषाय विषै भोग है,
कोऊ सुभ रूप कोऊ असुभ सुरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्म रोग है।
ऐसी बंध पद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम में करम त्याग जोग है,
भौ जलतरैया, राग द्वेप कौ हरैया महा,
मोख कौ करैया एक शुद्ध उपयोग है।"[1]

कविवरकी कृतियोमें अध्यात्मकी चर्चा पदे-पदे अत्यन्त सरसता एव युक्तिमत्तासे हुई है। वे शुद्धात्मानुभवको ही मुक्तिका साधन मानते हुए दो पक्तियोमें अपना मन्थित भाव देते हैं—

---

१ 'समयसार' पुण्यपाप-एकत्वद्वार छन्द ७।

"शुद्धातम अनुभौक्रिया, शुद्ध ज्ञान दृग दौर।
मुकति पंक साधन यहै, वागजाल सब और॥"[1]

अर्थात् शुद्ध आत्माका अनुभव ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यही मुक्ति-पन्थ है, शेष सब वाग्जाल है।

दार्शनिक तत्त्व

भारतीय दर्शनके मुख्य रूपसे दो भेद किये किये जाते हैं—एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। वेदको प्रमाण मानकर चलनेवाले दर्शन आस्तिक दर्शन हैं और जो वेदको प्रमाण नहीं मानते वे नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं। उक्त पद्धतिके अनुसार आस्तिक दर्शन छह हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। जैन बौद्ध और चार्वाक् नास्तिक दर्शन हैं। दर्शनोंके इस श्रेणी-विभाजनका मुख्य आधार 'नास्तिको वेदनिन्दक' अर्थात् वेदनिन्दक सम्प्रदाय नास्तिक हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि जो सम्प्रदाय वेदका प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते वे नास्तिक हैं। इससे जैन, बौद्ध और चार्वाक् नास्तिक ठहरते हैं। काशिकाकारने पाणिनिसूत्र 'अस्तिनास्तिदिष्ट मति'की व्याख्यामें कहा है कि 'परलोकोऽस्तीति मति यस्य स आस्तिक तद्विपरीतो नास्तिक' अर्थात् परलोकमें विश्वास रखनेवाला आस्तिक है और इससे विपरीत मान्यतावाला नास्तिक है। इस व्यख्यासे जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक ही निश्चित होते हैं। जैन दर्शनमें आत्मा, परमात्मा, मुक्ति और परलोक-की बड़ी स्थिर मान्यता है। बौद्ध भी परलोक और कैवल्य निर्वाणका अस्तित्व मानते हैं, भले ही उन्होंने आत्मनामका कोई तत्त्व नहीं माना है। अत केवल चार्वाक् दर्शन ही नास्तिक दर्शन है शेष सभी दर्शन आस्तिक हैं।

सम्पूर्ण दर्शनोंमे जैन दर्शनका एक विशिष्ट स्थान है। इसकी आत्मा और जगत्के सम्बन्धकी विचारधारा सर्वथा मौलिक है। प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत्की व्याख्याकी इसकी अपनी स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन धर्मकी आधारशिला उसकी आचार-विचार-मूलक दृष्टि है। उसका सम्पूर्ण आचार अहिंसामूलक है और विचार अनेकान्त दृष्टिपर आधारित। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वास्तवमें दृष्टि एक ही है। विवेचनको

---

1. वही, सर्वविशुद्धिद्वार १२६।

प्रतिपादन। अनेकान्त शब्दसे हम वस्तुकी अनेकधर्मता जानते हैं और स्याद्वाद शब्द-द्वारा उसी अनेकधर्मताका कथन करते हैं।

अनेकान्त

जैन दर्शनमें वस्तुको समझानेकी सबसे बडी विशेषता उसकी अनेकान्त दृष्टि है। इस आधारपर प्रत्येक बात अपेक्षात्मक दृष्टिसे कही जाती है। जब किसी वस्तुको सत् कहा जाय तो समझना चाहिए कि यह कथन उस वस्तुके निजी स्वरूपकी अपेक्षासे असत् है। धनदत्त अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता है, अपनी पत्नीकी अपेक्षासे पति है, अपने शिष्यकी अपेक्षासे गुरु है और गुरुकी अपेक्षासे शिष्य है। यदि हम कहें कि धनदत्त पिता ही है तो यह बात पूर्ण सत्य न होगी। क्योकि धनदत्त पिता हैं अवश्य पर पुत्र, पति और गुरु-शिष्य भी तो है। अत· प्रत्येक बातमें हमें वस्तुकी अनेक दशाओका ध्यान रखना चाहिए। और 'ही' का दुराग्रह छोडकर 'भी' का सदाग्रह करना चाहिए। इससे हमारी दृष्टिमें विस्तार आता है साथ ही वस्तुकी पूर्णता भी हमारे सम्मुख आती है।

प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है

जैन शब्दसे ही इस धर्मकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है—जयति कर्मशत्रूनिति जिन अर्थात् जो कर्म शत्रुओको परास्त कर शुद्ध आत्मस्वरूप-का लाभ करता है वह जिन कहलाता है। इसका स्पष्ट आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त कर जिन बन सकता है। जिन बननेकी प्रत्येक व्यक्तिमें सामर्थ्य है। जिस समय यह सामर्थ्य कर्मोंके आवरणसे पृथक् हो अपने शुद्ध रूपमें प्रकट हो जायेगी उसी समय इस आत्मामें परम विशेषण जुड जायेगा अर्थात् यह परमात्मा बन जायेगा। आत्माको स्वय ही कर्म-बन्धनोंसे अपने पुरुषार्थ-द्वारा पृथक् होना पडता है। ससारकी कोई भी शक्ति इसे मुक्त नहीं करा सकती। स्वय तीर्थंकर भी एक साधारण अवस्थासे धीरे-धीरे विकास करते हुए अन्तमें तीर्थंकर बन पाते है। वे मानवसे महामानव तीर्थंकर बनते हैं।

जैन दर्शनका अध्ययन-मनन करते समय हमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि कोई भी कर्म आत्माको नही बाँध सकता और ना ही मुक्त कर

सकता है, क्योंकि आत्मा और कर्मका कोई मेल नही है। दोनोमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि आत्मा चेतन है और कर्म पौद्गलिक, अत दोनोंके गुण और कार्य-व्यापारमें कोई साम्य नहीं। फिर भी यह आत्मा इन कर्मोंसे ही ससारमें घिरा हुआ है हम ऐसा अनुभव क्यो करते हैं। वास्तवमें अनादि कालसे जीव और कर्म ऐसे मिल गये हैं कि एक-से लगते हैं और हम लोग समझते यही हैं कि कर्म ही जीवको दु खी करते हैं, परन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। यह आत्मा ही स्वयको कर्मोमें बँधा हुआ मानकर अपनी आत्मशक्तिको भूल बैठता है और अनेक भव धारण करता रहता है। इसकी स्थिति ऐसी ही है जैसे कोई व्यक्ति सड़कपर-से दो मनका पत्थर उठाकर अपने मस्तकपर रख ले और फिर रोना आरम्भ कर दे कि यह पत्थर दु ख दे रहा है। स्पष्ट है कि आत्मा सर्वदा स्वतन्त्र है इसमें परमात्मपदकी पूर्ण सामर्थ्य है। जिस क्षण भी यह कर्मका जुआ उतार फेंकेगा जो वस्तुत इसपर नही है, आरोप मात्र है, उसी क्षण परमात्मपदसे विभूषित हो जायेगा।

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है

जैन दर्शनमें ईश्वरको सृष्टिकर्ता नहीं माना गया है। किसी अनादि अनन्त परमात्माने इस ससारकी रचना की है ऐसी मान्यता इस धर्ममें नहीं है। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि ससारका प्रत्येक पदार्थ अपने गुण स्वभावके कारण अनेक अवस्थाओंमें स्वय परिवर्तित होते हुए भी नित्य है। कोई उसे अन्यथा करनेकी सामर्थ्य नही रखता है।

जैन दर्शनके इस सक्षिप्त अध्ययनके पश्चात् अब हम कविवर बनारसीदासजीके साहित्यमें समागत जैन दार्शनिक तत्त्वोंका अध्ययन करेंगे।

प० बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण काव्य-प्रतिभा और उससे समुद्भूत काव्य कृतियाँ अनेकान्त और अहिंसामूलक हैं यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। उनका अध्यात्म ग्रन्थ समयसार, बनारसी-विलास और मोह-विवेकयुद्ध तो असन्दिग्ध रूपसे उनकी धार्मिक, आध्यात्मिक एव अहिंसापरक लगनके फल हैं। उनकी आत्मकथामें भी हम उनका उदार सरल एव उत्तरोत्तर विकासोन्मुख जीवन देखते हैं — जिसके धरातलमें एक गहरी अपरिग्रही वृत्ति कार्य कर रही है। अत्यन्त उदार भावसे ही कविने दार्शनिक तत्त्वोकी विवेचना की है। कविवर बनारसीदासजीने यद्यपि जैन दर्शनपर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा तथापि उनकी सम्पूर्ण

बनारसीदासमें साहित्यकी विधाओंके रूप और उनका शास्त्रीय अध्ययन

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीने प्राय सभी काव्य विधाओंमें रचनाएँ प्रस्तुत कर हिन्दी-माँकी अभूतपूर्व सेवा की है। पद, पद्य, गीत, गीति (उर्मिगीत), महाकाव्य, खण्ड काव्य। जिनमें सवाद सौन्दर्यादि नाटकीय तत्त्वोकी अनुपम छटा है। कोष, आत्मकथा तथा गद्यमें पत्र एवं दार्शनिक आध्यात्मिक निबन्ध, विविध सुन्दर एव ससार रचनाएँ आपकी लोकातिशायी काव्य प्रतिभा एव विद्वत्तासे प्रसूत हुई हैं।

इस अध्यायमें हम पहले कविवरकी सभी रचनाओंको काव्य-विधानुसार वर्गीकृत करेंगे, तत्पश्चात् उनका शास्त्रीय अध्ययन करेंगे।

१ मुक्तक पद, पद्य एव उर्मिगीत (प्रगीत) या नीति काव्य

अ—'कर्म प्रकृति विधान' और 'जिन सहस्र नाम'को छोडकर 'बनारसी-विलास'की प्राय सभी रचनाएँ मुक्तकके विभिन्न रूपोंके अन्तर्गत ही आती हैं।

यथा—१ विभिन्न राग-रागनियोंके पद
२. ग्यान पच्चीसी
३ ध्यान बत्तीसी
४ अध्यातम के गीत
५ कल्याण
६ निर्णय
७. त्रेसठ
८ मार्गणा

९ मोक्ष पैडी
१० कर्म छत्तीसी
११ शिव पच्चीसी
१२ भाव सिन्धु चतुर्दशी
१३ सूक्तिमुक्तावली
१४ अध्यात्मबत्तीसी
१५ झूलना (परमार्थ हिंडोलना)
१६ अष्टकगीत (शारदाष्टक)
१७ अवस्थाष्टक
१८ षट्दर्शनाष्टक
१९ साधु वन्दना
२० षोडश तिथि
२१ तेरह काठिया
२२ पचपद विधान
२३ सुमति देवी शतक
२४ नवदुर्गाविधान
२५ नाम निर्णय विधान
२६ नवरत्न कवित्त
२७ पूजा
२८ दशदान विधान
२९ दश बोल
३० पहेली
३१ प्रश्नोत्तर दोहा
३२ प्रश्नोत्तर माला
३३ शान्तिनाथ छन्द
३४ नवसेना विधान
३५ नाटक कवित्त
३६ मिथ्यामत वाणी
३७ गोरखके वचन
३८ वैद्य आदि भेद
३९ निमित्त उपादानके दोहे

इनके अतिरिक्त अनेक फुटकर पद भी हैं। उक्त रचनाएं तो कई

छन्दोंकी लम्बी-लम्बी मुक्तक रचनाएँ हैं ।

२ महाकाव्य (नाटक)	'नाटक समयसार'
३ खण्ड काव्य	१ मोह-विवेकयुद्ध
	२. कर्म प्रकृति विधान
४. कोष	अ बनारसी नाममाला
	ब जिनसहस्रनाम
५ निबन्ध, पत्र	१. उपादान निमित्तकी चिट्ठी
	२ परमार्थ वचनिका
६ आत्मकथा	अर्धकथानक
७ विशाल मुक्तक संग्रह	नवरस पद्यावलि (अप्राप्य)
८. प्रार्थनापरक स्तोत्र साहित्य	१. कल्याणमन्दिर स्तोत्र
	२ अजितनाथके छन्द
	३ जिनसहस्रनाम

फुटकर रूपमें कविवरके प्रार्थनापर कई छन्द प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार बनारसीदासजीने प्रायः सम्पूर्ण काव्य-विधाओंपर सुन्दर एवं सशक्त रचनाएँ की हैं । इन सभी रचनाओंको लक्षण-ग्रन्थोंकी कसौटीपर भी कसा ही जाना चाहिए क्योंकि इसके बिना इनकी प्रामाणिकता भी अपूर्ण ही रहेगी । छन्द, रस, भाषा, विषय एवं काव्य-कोटिका निर्वाह अत्यन्त सतर्क आवश्यक एवं भाव विभोर होकर ही किया है ।

मुक्तक

संस्कृतके लक्षण ग्रन्थकारोंने काव्यके विभिन्न प्रकारसे भेद-प्रभेद किये हैं । वे सर्वप्रथम काव्यको ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन दो भेदोंमें विभक्त करते हैं । प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थकार प० विश्वनाथ अपने साहित्य दर्पणमें लिखते हैं —

"काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतं व्यंग्य चेति द्विधा मतम् ।"[1]

अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदसे काव्य दो प्रकारका है । [2]काव्य-प्रकाशकारने काव्यके तीन भेद स्वीकार किये हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूत—व्यंग्य और शब्दचित्र तथा वाच्यचित्रयुक्त काव्योंको क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं जघन्य कोटियोंमें रखा गया है । काव्यके ये भेद वास्तवमें

---

१. 'साहित्य दर्पण' चतुर्थ उल्लास ।

२. 'काव्य प्रकाश', आचार्य मम्मट प्रथम उल्लास ।

कथन चातुर्य एवं अर्थ गुम्फनकी दृष्टिसे ही किये गये हैं। काव्यका आकार-प्रकार एवं कलेवरगठन कैसा हो, उसका विषय क्या हो, इस दृष्टिसे उसके दृश्य एवं श्रव्यके भेदसे दो विभाग किये गये हैं।

[1]"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।"

श्रव्य काव्यके अन्तर्गत आया हुआ मुक्तक रचनाओंपर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे—

[2]"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।"

छन्दोबद्ध काव्य पद्य है और यदि वह स्वतन्त्र हो अर्थात् दूसरे पद्योंसे निरपेक्ष हो तो मुक्तक कहा जाता है। बनारसीदासजीकी रचनाओंमें मुक्तक छन्दों—पदोंका भारी मात्रामें प्रणयन हुआ है। प्रणयन-पद्धति और विषय चयन अत्यन्त मोहक है। मुक्तकका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। इस प्रकारके काव्यमें क्रम व्यवस्था भी रहती है जैसे तुलसीदासजीकी 'गीतावली' में अथवा सूर-सागरमें, परन्तु इतना निश्चित है कि वे सभी पद एक दूसरेकी अपेक्षा किये बिना भी पढ़े और समझे जा सकते हैं। एक मुक्तकमें एक विचार या एक भावना ही पूर्ण रूपसे व्यक्त हो सकती है। वास्तवमें मुक्तक उद्यानके उन अनेक विकसित पुष्पोंके सदृश हैं जो अपनी-अपनी सुगन्धि विकीर्ण कर रहे हैं और साथ ही सामूहिक गन्ध भी दे रहे हैं। बनारसीदासजीकी मुक्तक रचनाओंपर विचार करनेके पूर्व हमें मुक्तक रचनाके सम्बन्धमें इतना और जान लेना चाहिए कि मुक्तक पाठ्य और गेय दो प्रकारके होते हैं। [3]"मुक्तकोंका विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूपमें किया है किन्तु इन दोनोंके बीचकी रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है, किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते हैं जो विशेष रूपसे गेय होते हैं। गेय और पाठ्य यह बात तो ऊपरी आकारसे सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ विषयी प्रधानता और विषय प्रधानतामें परिणत हो गया है। गेयमें निजी भावातिरेककी मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्यमें कवि बातको एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकीलके रूपमें कहता है। पाठ्य मुक्तक प्रायः सूक्तियोंके रूपमें आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृंगारविषयक और वीरताविषयक होते

१ 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परि० । १ ।
२ वही, ,, ३१४ ।
३ 'काव्यके रूप', पृ० १२०, डॉ० गुलाबराय ।

है। नीतिके मुक्तकोंमें सबसे अधिक विषय प्रधानता रहती है। गोस्वामी-जीकी दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदिके दोहे भक्ति और नीतिके पाठ्य मुक्तकोंके अच्छे उदाहरण हैं। गिरधरकी कुण्डलियाँ और दीनदयालकी अन्योक्तियाँ भी इसी कोटिमें आयेंगी। 'हाल' सप्तशती, बिहारी सतसई, दुलारे-दोहावली शृंगारपरक मुक्तकोंके अच्छे उदाहरण हैं। यद्यपि इनमें और विषय भी हैं। वियोगीहरिकी वीरसतसईमें वीररसके दोहे हैं।

प्रगति, गति अथवा गीति काव्य गेय मुक्तकके रूपमें आते हैं। अंगरेजी-में इसी गीतिको लिरिक कहते हैं। लिरिक शब्दका सम्बन्ध वीणाके सदृश वाद्यसे है। गेय पदोंमें भावोत्कर्ष और भावातिरेक व्यक्तिगत अनुभूतिके साथ अधिक रहता है। इन पदोंमें निजीपनकी मात्रा ही प्रधान गुण है। "भावातिरेकके लिए प्रवाह चाहिए, वह साधारण पद्यमें रुक-सा जाता है किन्तु गीतलहरीमें तरंगित होकर वह उठता है। संगीत आदि उसका शरीर है तो निजी भावातिरेक उसकी आत्मा है।"[1] कविवर बनारसीदासजीके पाठ्य और गेय दोनों प्रकारके हैं। उनकी सूक्ति-मुक्तावली और दोहे तथा चौपाइयाँ जो फुटकर रूपमें लिखी गयी हैं पाठभेदमें ही आयेंगी। 'बनारसी-विलास' में अनेक पद ऐसे हैं जिन्हें मुक्तककी गेय-विधाके अन्तर्गत ही रखा जायेगा। स्पष्ट है कि विषय-प्रधान और विषयीप्रधान दोनों प्रकारकी मुक्तक रचनाएँ बनारसीदासजी-ने की हैं। विषयप्रधान मुक्तकोंका आधिक्य है। धर्म, नीति और आचार-परक चर्चा ऐसे मुक्तकोंमें अधिक हुई है और प्रायः होता भी यही है। ऐसे मुक्तक कवित्त, सवैया, सोरठा, दोहा, चौपाई, अडिल्ला आदि छन्दोंमें ही रचे गये हैं। इन विषयप्रधान मुक्तकोंमें व्यक्तिगत भावातिरेक एवं अकथ शालीनता सर्वत्र स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होती है। बनारसीदासजीके मुक्तकोंकी मूल भावना उनका समष्टिका अनुभव निजीपनके साथ व्यक्त होनेमें देखे जा सकते हैं। समाजगत भावोंका चित्रण व्यक्तिगत भावुक हिलोरके साथ पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। मनुष्यका वास्तविक सुख उसके अन्तस्के सन्तोषमें है बाह्य भौतिक आकर्षणमें नहीं—

"रे मन कर सदा सन्तोष।
जाते मिटत सब दुख दोष। रे मन०।[2]

---

१ 'काव्यके रूप', पृ० १२१, डॉ० गुलाबराय।

२ 'बनारसी-विलास', पृ० २२८, स० प० कस्तूरचन्द कासलीवाल।

बढ़त परिगृह, मोह बाढ़त, अधिक तृपना होति।
बहुत ईंधन जरत जैसें, अगनि ऊँची जोति।
लोभ लालच मूढ़ जन सौ, कहत कंचन दान।
फिरत आरत नहि विचारत, धरम धन की हान।
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक,
ज्ञान करि बूझै बनारसि, को नृपति को रंक ॥रे मन० ॥"

उक्त आसावरी रागमें प्रतिभाभिराम कविने समष्टिमें प्रचलित मिथ्या आकर्षणकी निस्सारता और आत्मतत्त्वकी सर्वोपरि प्रतिष्ठाका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वास्तवमें चित्तकी अस्थिरता समस्त दुःखोंकी जड़ है और मनकी सन्तोषप्रधान सन्तुलित अवस्था उत्कृष्टतम शाश्वत सुखकी निर्मल क्रीडाभूमि है। समाजके जन-जनकी मनोवृत्ति और तदनुकूल आत्मानुभूतिके साथ कविका मौलिक सन्देश हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। प्रगीतात्मकता भी कविमें स्पष्ट झलकती है। प्रगीतिमें कवि जो कुछ भी कहता है अपनी निजी अन्तर्दृष्टिसे कहता है। उसके इस निजीपनमें रागात्मकताकी भरपूर मात्रा रहती है। प्रगीति वास्तवमें कविकी व्यक्तिगत प्रबल अनुभूतिका रागात्मक आवेगमय एवं मधुर अभिव्यक्ति है। यह निजीपन इतनी निर्मल कोटिका होता है कि पाठक और गायक भी उसमें क्षण मात्रमें तादात्म्यका अनुभव करते हैं। तल्लीनता गीतिका प्रधान गुण है।

[1]"चेतन तू तिहुकाल अकेला,
नदी नाव संजोग मिले ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला,
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला,
सुख संपति शरीर जल बुद्बुद, विनशत नाहीं बेला,
मोह मगन आतम गुन भूलत, परी तोहि गल जेला। चेतन०"

तथा—

[2]"मगन ह्वै आराधो साधो, अलख पुरुष प्रभु ऐसा।
जहाँ जहाँ जिस रस सौं राचैं, तहाँ तहाँ तिस भेसा। मगन ह्वै० ॥"
इत्यादि

१ 'बनारसी विलास' पृ० २२७।
२ 'बनारसी विलास', पृ० २२२, सं० पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०।

तथा—

"या चेतन की सब सुधि गई।[1]
व्यापत मोहि विकलता भई।। या चेतन०।।
है जड़ रूप अपावन देह।
ता सौं राखै परम सनेह।।
आइ मिले जन स्वारथ बंध।
तिनहि कुटुम्ब कहै जा बंध।। इत्यादि।।"

कविकी रचनाओंमें ऐसे अनेक पद हैं जिनमें जीवकी विविध अवस्थाओंका अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। यह दुःख सामान्य भाव-भूमिपर आकर प्राणिमात्रका हो जाता है। समष्टिमें व्यष्टिके भावोंका इस दशामें तादात्म्य हो जाता है। व्यक्तिका अत्यन्त सात्विक एवं पावन चिन्तन निसर्गतः प्रत्येकका अपना चिन्तन हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बनारसीदासजीमें समाजगत भाव अत्यन्त आत्मसात् होकर ही प्रकट हुए हैं। उनका अध्ययन, देशाटन और गुरूपदेश और स्वानुभव भी स्पष्ट रूपेण उनकी कृतियोंमें झलकते हैं। प्रगीत काव्यके सभी तत्त्व कविवरके मुक्तकोंमें अपनी पूर्णतासे समलंकृत दृष्टिगोचर होते हैं। उक्त पदोंमें उपदेशात्मक दृष्टिकी भी झलक मिलती है। संगीतात्मकता और तदनुकूल सरस एवं मार्मिक शब्दोंका चयन, आत्मिक रागतत्त्व, संक्षिप्तता एवं भावकी एकसूत्रता आदि सम्पूर्ण तत्त्व कविवरके मुक्तकोंको प्रगीतिकी उच्चकोटिमें पहुँचा देते हैं। प्रगीतिमें अन्तःप्रेरणाकी मात्रा सर्वाधिक होती है अतः श्रमसाध्यता स्वयमेव वहाँ अवसर नहीं पाती।

आत्मनिवेदनकी भी एक अनुपम छटा गीतिमें सन्निहित रहती है। कविको संसारसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह स्वयकी बात स्वयके लिए अत्यन्त भाव-विह्वल एवं आत्मविस्मृत-सा होकर सुनाता है। प्रस्तुत पद-में कविके आत्म-निरीक्षण और संसारके कटु अनुभवका हृदयद्रावक चित्रण दर्शनीय है—

"दुविधा[2] कब जै है या मन की।
कब जिननाथ निरंजन सुमिरौं, तजि सेवा जन-जन की। दुविधा०।

१ 'बनारसी-विलास', पृ० २२३।
२ वही, पृ० २३१, सं० प० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०।

कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक, बूँद अखयबद घन की।
कब शुभ ध्यान धरों समता गहि, करूँ न ममता तन की ॥ दुविधा०।
कब घट अन्तर रहैं निरन्तर, दृढ़ता सुगुरु वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ॥ दुविधा०।
कब घर छाँड होहुँ एकाकी, लिये लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलिबलि वा छन की ॥ दुविधा०।"

उक्त पदमें भाव-सबलता, भाषा-सारल्य, सगीतात्मकता एव अन्त -प्रेरित एक स्वयकी हूक एव सक्षिप्तता आदि सभी विशेषताओंका अनुपम सगम है।

यद्यपि गीतिमें ही प्रगीति अपनी पूर्णतासे निखरती है, परन्तु सवैया, कवित्त एव अडिल्ल आदि भी अच्छे गायक-द्वारा सुन्दर पद्धतिसे गाये ही जाते हैं, अत इनमें भी गीतिका-सा आनन्द आता ही है। शब्दोकी ध्वन्यात्मकता भी गीतिको कम आकर्षण प्रदान नही करती। जितनी तीव्र अनुभूति एव वैयक्तिकता होगी उतना ही हृदयद्रावक गीतिकाव्य लिखा जा सकेगा। मान्या महादेवी वर्मा लिखती हैं—[1]"साधारणत गीत व्यक्तिगत सीमामें तीव्र सुख-दु खात्मक अनुभूतिका वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकतासे गेय हो सके।"

सुपाठ्य मुक्तकोकी रचनामें भी बनारसीदासजी अपने समकालीन कवियो, तुलसी, रहीम तथा केशवसे किसी प्रकार पीछे नहीं रहते। हिंसाकी गर्हणा करते हुए कवि एक सुन्दर मुक्तक-सवैया लिखते हैं—

[2]"अगनि में जैसे अरविन्द न विलोकियत,
सूर अथवत जैसे बासर न मानिए,
साँप के वदन जैसे अमृत न उपजत,
कालकूट खाये जैसे जीवन न जानिए।"
कलह करत नहिं पाइए सुजस जैसे,
बाढत रसास, रोग नाश न बखानिए,
प्राणी बध माँहि जैसे धर्म की निशानी नाहिं,
याही से बनारसी विवेक मन आनिए॥"

---

१ 'आधुनिक कवि' भूमिका ले० महादेवी वर्मा।
२ 'सूक्ति-मुक्तावली' 'बनारसी विलास' छन्द २७।

इस पदमें कविने हिंसाके प्रति समाजमें प्रचलित घृणात्मक भावनाका चित्रण कुछ प्रभावक उदाहरणों-द्वारा किया है। हिंसाके प्रति समाजगत भावनाको कविने पूर्णतया आत्मसात् कर ही चित्रित किया है। जबतक कविमें गागरमें सागर भरनेकी अर्हता नहीं है, सामाजिकतापर उसका अधिकार नहीं है तबतक वह कुशल मुक्तककार नहीं हो सकता। बनारसीदासजीमें थोड़ेमें बड़ी बात संक्षेपमें और पूर्ण अभिव्यक्तिके साथ कहनेकी अपार सामर्थ्य है। उनका सन्त स्वभावका चित्रण देखिए—

[1]"यद अहि चन्दन वृक्ष निज डारहि, अगनि कुठमें तन पर जारहि।
दाहहि उदर धरहि विष भक्षन, पै दुर्जनता न गहहिं विचक्षन॥"

सज्जन व्यक्ति सभी प्रकारकी बाधक आपत्तियोंको सह लेते हैं परन्तु अपना उदारतापूर्ण साधु हृदय कदापि नहीं बदलते।

दुराचारपूर्वक प्राप्त राज्य भी सज्जनोंको सर्वथा त्याज्य है इस सम्बन्धमें कविवरका भावपूर्ण मुक्तक दृष्टव्य है। दुराचारके प्रति समाजगत भावनाका चित्रण बड़ी मार्मिकतासे हुआ है—

[2]"वर दरिद्रता होउ करत सज्जन सङ्ग,
दुराचार सों मिलै राज, सो नहि भला,
ज्यों शरीर कृश सहज सुशोभा देत है,
सूजी थूलता बढ़ै मरण को हेत है।"

इसी प्रकारके अनेक सुभाषित रत्न कविवरकी रचनाओंकी शाश्वत सौन्दर्य-वृद्धि कर रहे हैं।

बनारसीदासजीकी 'ज्ञान बावनी, अध्यात्म बत्तीसी, साधुवन्दना, भव-सिन्धु चतुर्दशी' आदि लम्बी रचनाएँ भी मुक्तक ही कही जा सकती हैं। इन रचनाओंके सभी छन्द स्वतन्त्र रूपमें पूर्ण रसास्वादनके साथ पढ़े और गाये जा सकते हैं। इन रचनाओंका प्रत्येक छन्द अपने शीर्षकके साथ भी है और पूर्णतया स्वतन्त्र भी।

अध्यात्म बत्तीसी—

[3]"ज्ञान नैन मोहि सुमति, सबै सुकवि की लीक।
निरखैं अन्तरदृष्टि सों, द्रव धर्म गुरु ठीक ॥२८॥

१. सज्जनाधिकार। बनारसी-विलास। ६१।
२ वही, पृ० ६१।
३ 'अध्यात्मबत्तीसी', दो० २८-३०।

ज्यों सुपरीक्षित जौहरी, काच डाल मणि लेय।
त्यों सुबुद्धि मारग गहै, देव धर्म गुरु सेय ॥२९॥
दर्शन चारित ज्ञान गुण, देव धर्म गुरु शुद्ध।
परखै आतम सम्पदा, तजैं सनेह विरुद्ध ॥३०॥"

अध्यात्म बत्तीसीके ये तीनो दोहे यद्यपि अध्यात्मके विषयमें कहे गये हैं, परन्तु वे बिना किसी पूर्वापर सम्बन्धकी अपेक्षाके स्वतन्त्र रूपसे भी पढे और पूर्णतया समझे जा सकते हैं।

ज्ञानबावनी—

[1]"धुधवाड हदै भयौ, शुद्धता विसरि गयौ,
परगुण रगि रह्यौ, परहरि को रुखिया।
निज निधि निकट, विकट भई नैन बिन,
क्षणक में सुखी ता में क्षणक में दुखिया॥
समकित जाल बिना, तृषित अनादि काल,
विषय कषाय वन्हि, अरण में धुखिया।
बनारसीदास जिन रीति विपरीति जाके,
मेरे जाने ते तौ नर मूढन में मुखिया॥"

ज्ञानके बिना ससारमें मनुष्य स्व-परका भेद भी नहीं कर पाता फलत आत्म-स्वरूपका नित्यानन्द इसे कदापि प्राप्त नहीं होता। इसी भाँति कविवरकी अनेक रचनाओके उद्धरण दिये जा सकते हैं।

गीत काव्य अर्थात् मुक्तकके प्रकारो और इतिहासकी तो एक लम्बी गाथा है। अभीतक साहित्यिक गीतोकी ही चर्चा हुई है। इन विधाओमें ही कविवर बनारसीदासजीने रचनाएँ की हैं। लोक-गीतोका भी प्रचुर मात्रामें महत्त्व है। प्रत्येक प्रान्तके लोकगीत प्रचलित ही है। ये गीत जन-सामान्य-के भावोको लेकर उठते हैं अत अत्यन्त लोकप्रिय होते हैं। होली, बर-सात, विवाह, जन्मोत्सव आदिपर गाये जाते हैं। बनारसीदासजीकी रच-नाओंमें ऐसे गीतोका समावेश नहीं हो सका है, हाँ आपने अध्यात्मप्रधान होली आदिपर अवश्य ही मुक्तक रचे हैं।

आज तो हमारे मुक्तकोपर अंगरेजीकी विविध मुक्तक धाराओकी स्पष्ट छायाके दर्शन होते हैं। कविवर बनारसीदासजीके समयमें गीतके इतने रूप

१. 'ज्ञान बावनी'–५।

न थे। (अंगरेजोके मुक्तक रूप कई है—१ सानेट (अर्थात् चतुर्दशपदी), २ ओड (अर्थात् सम्बोधन गीत), ३ एलेजी (शोकगीत), ४ सेटाइर (व्यंग्यगीत), ५ रिफ्लेक्टिव (विचारात्मक), ६ डाइटेक्ट (उपदेशात्मक)। इन सभी गीत-विधाओंमें वैयक्तिक भावोंका चित्रण बड़ी सुगमतासे हुआ है। इनमें-से सानेटमें तो आकारकी प्रधानता है और सबमें विषयका प्राधान्य है। इन सभी प्रकारोंका अनुकरण आधुनिक युगके प्रतिष्ठित हिन्दी कवियोंने बड़ी निपुणतासे किया है।)

इतिहासकी दृष्टिसे गीत-परम्पराके बीज हमें सर्वप्रथम सामवेदमें प्राप्त होते है। यह वेद तो गीतप्रधान ही है। संस्कृत साहित्यमें भी मुक्तकोंकी एक विस्तृत परम्परा रही है। हिन्दीमें विद्यापति, सूर और मीराके गीत-पद विख्यात ही है। कविवर बनारसीदासजीके पद और मुक्तक भी इसी पूर्व परम्परामें एक स्वर्णिम अध्याय जोड़ते है।

नवरस पद्यावलि जो एक सहस्र छन्दोंमें निर्मित हुई थी, यदि आज उपलब्ध होती तो वह भी एक अनुपम मुक्तक-निधि होती।

महाकाव्य

जहाँतक शास्त्रीय पद्धतिसे रचित किसी महाकाव्यकी बात है, बनारसीदासजीने नहीं लिखा। महाकाव्यकी मर्यादाओंमें निभनेवाला व्यक्तित्व भी सम्भवत उन्हें प्राप्त न था। वे प्रत्येक शब्द पंक्ति और छंदमें सर्वथ स्वतन्त्र अभिव्यक्ति चाहते थे और यह कार्य मुक्तक रचनाओंमें ही सम्भव था। यही कारण है कि (स्वतन्त्रचेता बनारसीदासजीने प्राय अपनी सम्पूर्ण कृतियोंमें (आत्मकथा एव नाममालाको छोड़कर) निजी मुक्तककी प्रवृत्तिको जीवित रखा है।)

('नाटक समयसार' एक ऐसी कृति है जिसपर शास्त्रीय पद्धतिसे यदि विचार किया जाये तो वह किसी भी प्रकारसे महानाटक अथवा नाटक नहीं कहा जा सकता। लक्षणग्रन्थकारोंने नाटककी व्याख्या की है उसके अनुसार 'समयसार'की कुछ भी स्थिति नहीं ठहरती।) आचार्योंने प्रारम्भमें ही काव्यके दृश्य और श्रव्य रूपमें दो भेद किये हैं।

[1] "दृश्य-श्रव्यत्वभेदेन काव्य पुन द्विधा मतम् ॥"

---

१ 'साहित्य दर्पण' षष्ठ परिच्छेद पद्य १, ले० आचार्य विश्वनाथ।

इन दो भेदोके पश्चात् आचार्य विश्वनाथ दृश्यकाव्यमें अभिनयकी मुख्यता घोषित करते हुए लिखते हैं—[1]'दृश्य तत्राभिनेय'

अभिनय वास्तवमें दृश्य काव्यका प्राण ही है। समयसार-जैसी भावात्मक कृतिका अभिनय किसी भी प्रकारसे सम्भव नही है। प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थोमें नाटकको सम्पूर्ण विशेपताओकी चर्चा की गयी है। आचार्य विश्वनाथ अपने साहित्यदर्पणमें स्पष्ट लिखते हैं,[2] "नाटकका वृत्त (कथा) ख्यात होना चाहिए, अर्थात् इतिहासादिमें प्रसिद्ध होना चाहिए जो कथा केवल कवि-कल्पित है, इतिहास सिद्ध नहीं है वह नाटक नहीं हो सकती। नाटकमें विलास समृद्धि आदि अनेक गुण तथा अनेक प्रकारके ऐश्वर्योका वर्णन होना चाहिए। सुख और दुखकी उत्पत्ति दिखाई जाये साथ ही अनेक रसोसे पूर्ण होना चाहिए। इसमें पाँचसे लेकर दश तक अक होते है। पुराणादि प्रसिद्ध वशमें उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्पि अथवा दिव्य या दिव्यातिदिव्य पुरुष नाटकका नायक होता है। शृगार या वीर रसमें-से कोई एक प्रधान रहता है अन्य सब रस अगभूत रहते हैं। इसे निर्वहण सन्धिमें अत्यन्त अद्भुत बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्यके साधनमें सलग्न रहना चाहिए। गोकी पूँछके अग्रभागके समान इसकी रचना होनी चाहिए। अकमें नायकका चरित प्रत्यक्ष रस और भावपूर्ण होना चाहिए। गूढार्थक शब्द न हो। छोटे-छोटे चूर्णक (समासरहित गद्य) होना चाहिए। अकमें अवान्तर कार्य तो पूर्ण हो जाना चाहिए किन्तु बिन्दु कुछ लगा रहना चाहिए— अर्थात प्रधान कथाकी समाप्ति न होनी चाहिए। बहुत कार्योसे युक्त न हो और बीजका उपसहार न हो। अनेक प्रकारके सविधान हो किन्तु पद्य बहुत न हो। सन्ध्या-वन्दनादि आवश्यक कार्योका विरोध न होना चाहिए। जो कथा कई दिनोमें सिद्ध हुई हो उसे एक ही अकमें न कहना चाहिए। नायक सदा तीन-चार पात्रोसे युक्त रहना चाहिए। दूरसे आह्वान, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश विप्लव आदि, विवाह,

---

१ 'साहित्यदर्पण' षष्ठ परिच्छेद पद्य १, ले० आचार्य विश्वनाथ।

२. 'साहित्यदर्पण' षष्ठ परिच्छेद विश्वनाथ,

नाटक ख्यातवृत्त स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
विलासद्धर्यादि गुणवद् युक्त नानाविभूतिभि ॥
सुखदुःखसमुद्भूति, नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्का परिकीर्तिता ॥ इत्यादि ७–१६ ॥

गुण होता रहता है। ७. एक सर्गमें एक ही वृत्त रहता है, किन्तु सर्गका अन्तिम पद्य भिन्न छन्दका होता है। सामान्यतया कमसे कम आठ सर्ग होना आवश्यक है। कहीं-कहीं सर्गमें अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्गान्तमें भावी सर्गकी सूचना रहती है। ८ महाकाव्यमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष (रजनीमुख), अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदिका यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। ९ इसका नाम कविके नामसे (जैसे माघ) या चरित्रके नामसे (जैसे कुमारसम्भव) अथवा चरित्रनायकके नामसे (जैसे रघुवंश) होना चाहिए। कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है।)

कविवर बनारसीदासजीके 'समयसार'से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि (इसका प्रारम्भ उन्होंने शास्त्रीय पद्धतिके अनुकूल एक महाकाव्य रचनेकी दृष्टिसे कदापि नहीं किया था और न ऐसा सम्भव ही था। आचार्य कुन्द कुन्दके 'समयसार'के आधारपर ही वे चले थे, उसका भावानुवाद उन्होंने प्रस्तुत किया था अतः किसी विशिष्ट उलट-फेरकी जो महाकाव्यका अंग रूप वातावरण प्रस्तुत कर दे सम्भावना न थी। जायसी, तुलसी और केशवने अपने काव्योंकी रचना पूर्व संकल्पसे की थी अतः उन्होंने आद्यन्त शास्त्रीय दृष्टिका यथासम्भव निर्वाह किया है। बनारसीदासजी आत्मामें ही परमात्माके दर्शन करना चाहते थे अतः किसी अवतारी पुरुषकी अथवा किसी व्यक्ति विशेषकी एक विशालकाय महाकाव्यमें चर्चा करके वे स्वतः आत्मपरक मूल प्रवृत्तिको भुला न सकते थे। आत्मतत्त्व उनकी चर्चाका विषय था जो घटनाप्रधान लौकिक काव्यका विषय न बन सकता था। यद्यपि कविवरका संकल्प एक महाकाव्यका न था फिर भी 'समयसार'में हम महाकाव्यकी एक विस्तृत एवं निराली प्राणप्रतिष्ठा देखते हैं — प्रारम्भमें इष्टदेवका नमस्कार, सुकवि-कुकविके रूपमें सज्जन दुर्जनकी चर्चा आदि। ग्रन्थका विषय अनादि कालसे ही घट-घटके इतिहासका विषय जीवात्मा है। वह सज्जनाश्रित है ही। शान्त रसका प्राधान्य है। सभी पुरुषार्थोंकी यथावसर गौणरूपमें (हेय रूपमें, चर्चा करके मोक्ष पुरुषार्थ ही जीवका लक्ष्य है इस बातका प्रतिपादन किया है। छन्द आदिका बन्धन कविने स्वीकार नहीं किया है। जो छन्द जिस स्थलपर भाव प्रकाशनके अनुरूप लगा उसीका उपयोग किया है। पद्मावत, मानस, रामचन्द्रिका, कामायनी,

साकेत, प्रियप्रवास आदिमें भी किसी एक छन्दपर निश्चित रूपसे कवि नहीं चले हैं। कई प्रकारके छन्दोंका प्रयोग एक ही सर्गमें हो गया है फिर भी उक्त ग्रन्थोंके काव्यत्वको सभी स्वीकार करते हैं। आधुनिक काव्योंमें गीतादिक भी बीच-बीचमें आ गये हैं। जहाँतक सर्गोंका प्रश्न है इसमें अनेक हैं—१जीवद्वार, २ अजीवद्वार, ३ कर्ताकर्मक्रियाद्वार, ४ पुण्यपाप-एकत्व द्वार, ५ आस्रव अधिकार, ६ संवरद्वार, ७ निर्जराद्वार, ८ बन्धद्वार, ९ मोक्षद्वार, १० सर्वविशुद्वार, ११ स्याद्वादद्वार, १२ साध्य-साधकद्वार, १३ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार। ये सभी द्वार एवं अधिकार सर्ग रूप ही समझना चाहिए। इन सभीमें जीवतत्त्वके क्रमिक विकाससे चरम विकास तकका अत्यन्त विशद विवेचन है। सम्पूर्ण पद्य ७२७ हैं। यदि ३२ अक्षरके श्लोकोंका लेखा लगाया जाये तो १७०७ पद्य बैठते हैं। इस प्रकार काया और विषय-ऐक्यकी दृष्टिसे भी समयसार एक महाकाव्य ही ठहरता है। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, विवाह, संयोग, वियोग, यात्रा आदिका वर्णन नहीं है। इन सबका वर्णन भी तभी सम्भव था जब किसी लौकिक स्थूल विषयकी चर्चा होती। अध्यात्म-जैसे गम्भीर विषयमें इनकी सम्भावना नहीं हो सकती। इस काव्यका नामकरण भी विषयके आधारपर ही हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य 'समयसार'में शास्त्रीय मर्यादाओंका पूर्ण पालन तो नहीं हो सका है जो कविका उद्देश्य भी न था फिर भी विषयकी आद्यन्त एकरसात्मकता, प्रवाह एवं काव्यकी विशालताको दृष्टिमें रखकर उसे एक महाकाव्य कहा जा सकता है, "महाकाव्य आकार-प्रकारमें बड़ा होता है। उसके साथ उसकी शैली और उसका विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते हैं। महाकाव्य जातिकी सांस्कृतिक चेतनाका द्योतक होता है।"[1] 'समयसार'में आकार-प्रकारकी विशालता, शैलीका सौष्ठव और हमारी अध्यात्म-प्रधान सांस्कृतिक चेतनाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। क्या प्राचीन और क्या अर्वाचीन सभी प्रकारके काव्योंमें शास्त्रीयताका पूर्ण पालन नहीं हो सका है और जहाँ श्रमसाध्य प्रयत्न किया गया है वहाँ कथाकी गति और शैलीकी सरसतामें भारी बाधा उपस्थित हुई है। महाकाव्यकारके सम्मुख एक महान् आदर्श-काव्यकी रचनाका प्रश्न होता है अतः वह उस आदर्शमें इतना निमग्न हो जाता है कि सन्ध्या, चन्द्रमा, सूर्य, रजनीमुख आदिका वर्णन उसके सम्मुख कोई महत्त्व

---

१ 'काव्यके रूप' पृ० ६५, गुलाबराय एम० ए०।

नहीं रखता। यही कारण है कि आज प्राचीन मान्यताको उतनी दृढ़तासे महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। [1]"महाकाव्योंके प्राचीन और वर्तमान आदर्शोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ गया है। अब मंगलाचरण इत्यादिकी आवश्यकता नहीं समझी जाती और न किन्हीं मांगल्यसूचक शब्दोंका रखना नितान्त आवश्यक है। गुप्तजीने साकेतके प्रत्येक सर्गमें मंगलाचरण किया है। प्राचीन कालमें भी इस नियमका बहुत कड़ाईके साथ पालन नहीं होता था। 'कुमारसम्भव'में कोई मंगलाचरण नहीं है। उसमें हिमालयका वर्णन अवश्य है जो विशालताका द्योतक है। कुमारसम्भव पूर्ण नहीं हुआ, चाहे देवताओंके शृंगारके दोषके कारण हो और चाहे मंगलाचरणके अभाव के कारण हो। प्रियप्रवासका आरम्भ दिवसके अवसानसे होता है।

"दिवस का अवसान समीप था
गगन का कुछ लोहित हो चला।" इत्यादि

केवल इसीलिए हम उनको निन्दनीय नहीं कहेंगे। आजकल नायक के सम्बन्धमें भी थोड़ी शिथिलता आ गयी है। कामायनीमें नायक तो मनु है किन्तु प्राधान्य श्रद्धाका है। नायक शब्दमें नायिका भी शामिल की जा सकती है।" प्रसिद्ध काव्य 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'साकेत'में शास्त्रीय दृष्टिसे और भी शिथिलता मिल जायेगी परन्तु उनकी लोकप्रियता और महान् सन्देशमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आ सकती। 'समयसार'के सर्वतोमुखी सौष्ठवपर यदि ध्यान दिया जाये तो निश्चित ही वह संसारके श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्यों (महाकाव्यों)की कोटिमें रखा जायेगा। बनारसीदास जीमें कहीं भी भावहीनता, भाषा शैथिल्य अथवा शैलीकी अव्यवस्थित धारा नहीं मिलेगी। 'समयसार'का मंगलाचरण ही उनकी प्रतिभा और विद्वत्ताका सम्मिलित परिचय देनेमें सर्वथा समर्थ है।

[2]"करम भरम जग तिमिर हरन-खग
उरग-लखन पग सिव मग दरसी,
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी।
मदन कदन जित परम धरम हित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी,

१ वही, पृ० ६६।
२ 'समयसार' मंगलाचरण, रच० प० बनारसीदासजी।

सजल जलद तन मुकुट सपत फन,
कमठ दलनं जिन नमत बनरसी ॥"

प्रस्तुत पदमें कविने अपने इष्टदेव भगवान् पार्श्वनाथको नमस्कार किया है। ३१ वर्णके मनहर छन्दमें यह पद्य रचा गया है।

बडीसे बडी दार्शनिक गुत्थी भी कविने सरलता और सुबोधतासे सुलझायी है। सरल और प्रभावक भावाभिव्यक्तिकी क्षमता अत्यन्त विकासकी अवस्थामें ही सम्भव हो पाती है। जीवपर कर्म और ज्ञानका किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है इसका मार्मिक सुलझाव देखिए—

"[2]जब लग ज्ञान चेतना न्यारी, तब लग जीव बिकल ससारी,
जब घट ज्ञान चेतना जागी, तब समकिती सहज वैरागी।
सिद्ध समान रूप निज जाने, पर सजोग भाव परमाने।
शुद्धातम अनुभौ अभ्यासे, त्रिविध कर्म की ममता नासे॥

जबतक ज्ञान-चेतना अपनेसे भिन्न है अर्थात् ज्ञान-चेतनाका उदय नहीं हुआ है तबतक जीव दु खी और ससारी रहता है और जब हृदयमें ज्ञान-चेतना जगती है तब वह अपने-आप ही ज्ञानी वैरागी हो जाता है।

कुछ भी हो 'समयसार नाटक' का हमारी महाकाव्य परम्परामें एक श्रेष्ठ स्थान अवश्य रहेगा। अध्यात्म-प्रधान इतना विस्तृत प्रबन्ध-काव्य तो हिन्दी-ससारके सम्मुख यह प्रथम ही है।

खण्डकाव्य

कविवर बनारसीदासजीकी प्रतिभा जहाँ जीवनके विस्तृत क्षेत्रमें पूर्ण वैभवके साथ अवतीर्ण हो सकी है वहाँ उसने जीवनके कई मार्मिक स्थलोंको खण्डकाव्यके रूपमें भी अनुपम कौशलसे प्रस्तुत किया है। आपकी प्राय सम्पूर्ण रचनाएँ अध्यात्मपरक ही है अत उनमें किसी व्यक्तिके माध्यमसे महाकाव्य अथवा खण्डकाव्यकी रचना पाना सम्भव नहीं है। कविने बडी निपुणता और सरलतासे अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयको प्रबन्ध-काव्यका रूप दिया है। खण्डकाव्यमें महाकाव्य-जैसा ही उतार-चढ़ाव रहता है परन्तु महाकाव्यकी अपेक्षा उसका क्षेत्र पर्याप्त सीमित होता है। अत उसे अपनी सीमाओंमें रहकर ही अपनी पूर्णता दिखानी होती है। खण्ड-काव्यमें महाकाव्यकी भाँति जीवनकी अनेकरूपताका सद्भाव नहीं रहता।

---

२ वही, सर्वविशुद्धिद्वार, ८८-८९।

मोह-विवेकयुद्ध

११० छन्दोंमें यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें मोह प्रतिनायक और विवेक नायक हैं। इस भाव-प्रधान कृतिमें काव्यानन्द तो आता ही है साथ ही संवाद-सौन्दर्य अपनी अनोखी छटा द्वारा उसमें एक दृश्य काव्यकी रमणीयता प्रस्तुत कर देता है। भावनाओंको पात्र-रूपमें प्रस्तुत कर देना एक असाधारण कविके ही वशकी बात है। भावो जैसे सूक्ष्म और गम्भीर विषयको जिसकी दार्शनिकताके चक्रमें प्रकाण्ड पण्डित भी आकुलित हो उठते हों, कविने अत्यन्त रोचक शैली-द्वारा प्रस्तुत कर खण्डकाव्य-परम्परामें एक नया स्तम्भ ही आरम्भ किया है। (काम, क्रोध, मोह, लोभादिक सभी दुर्भाव विवेकको परास्त करनेके लिए अपनी पूर्ण शक्ति लेकर क्रमशः उपस्थित होते हैं किन्तु विवेकका हिमालय जैसा अविचल तथा उच्च एवं सागर सा गम्भीर व्यक्तित्व देखकर नतमस्तक हो जाते हैं।)

मोहने विवेककी बढती हुई शक्तिको देखकर एक सभा आमन्त्रित की और काम, क्रोध, लोभादिक सभीसे कहा — हममें-से जो विवेकको परास्त कर देगा वह संसार-भरका अखण्ड राज्य प्राप्त करेगा। कामने सर्वप्रथम बीडा उठाया। इसी भावकी सरल-ललित अभिव्यंजना कविने की है। इससे उक्त काव्यकी एक झलक हमारे सम्मुख आ सकेगी।

[1]"मोह सभा में बैठो आई, मन्त्रिन से तो बात चलाई।
मोसन बात कहो समुझाई, को विवेक को जीतैं जाई ॥ २५ ॥
काम कहे हौं जीतौं आज, तोकों देहु सदा थिर राज।
कौन बली जो मोसौं लरे, सुर नर, असुर विपदण्ड मरै ॥ २६ ॥
महादेव मोहिनी नचायौ, घर ही में ब्रह्मा भरमायो।
सुरपति ताकी गुरु की नारी, और काम को सकै सहारी ॥ २७ ॥
मैं कीयौ रावण कुलनास, और जीव सब मेरे बास।
सींगी रिषि सेवत महिमारे, मोतें कोन कौन नहिं हारे ॥२८॥
माया मोह तजें घर बास, मोतें भागि जाहि बनवास।
कंद मूल फल भक्ष कराही, तिनिहूँ को मैं छाड़ौं नाहीं ॥२९॥
इक जागत इक सोवत मारू, जोगी जती तपी सहारूँ।
ऐसे बैन बखाने काम, जुवती जन जाकौ बिसराम ॥३०॥

१ 'मोह-विवेकयुद्ध', छन्द २५-३१ पं० बनारसीदासजी।

दोहा—चन्द्र वदन मृग लोचनी, कटि केहरि गज चाल।
अधर नाभि उर देख कें, को न पड़े इहि ख्याल ॥३१॥" इत्यादि

उक्त पंक्तियोंमें प्रवाह और भाव-प्रकाशनकी सरल-ललित पद्धति दर्शनीय है। पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है जैसे साक्षात् कोई पात्र ही वार्ता कर रहा हो, अपनी शक्तिका किसी दूसरेको परिचय दे रहा हो। कवि भावोंके सजीव एव गतिशील चित्रणमें सिद्धहस्त हैं।

कर्मप्रकृति विधान

इस खण्डकाव्यमें जैन सिद्धान्तानुसार कर्मों और उनकी विभिन्न प्रकृतियोंपर कथात्मक ढगसे सुन्दर चर्चा की गयी है। इसका विषय दार्शनिक एव कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी अधिक है अत कवि-कल्पना और प्रतिभा उतनी निखर नहीं सकी है। कविकी दृष्टि वर्णन-प्रधान रही है। कुल १७५ छन्द हैं। कविवर इस रचनाके उपरान्त अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

[1]"यह कर्म प्रकृति विधान अविचल, नाम ग्रन्थ सुहावना।
इस माँहि गर्भित सुगुप्त चेतन, गुपत बारह भावना॥
जो जान भेद बखान सरदहि, शब्द अर्थ विचारसी।
सो होय कर्म विनाश निर्मल, शिव स्वरूप बनारसी॥"

जैन दर्शनके प्रमुख अग कर्मसिद्धातका पूर्ण विवेचन इस खण्डकाव्यमें किया गया है।

कोष—बनारसी नाममाला

कविवर प० बनारसीदासजीने एक हिन्दी पद्यमय शब्दकोषकी भी रचना की थी। इस कोषमें सस्कृत हिन्दी और प्राकृतके पर्यायवाची शब्दोंको ग्रहण किया गया है। इसमें १७१ पद्य हैं। कविवर धनजयकी सस्कृत नाममाला एव अनेकार्थ नाममाला बनारसीदासजीकी नाममालाके प्रेरणास्रोत रहे हैं। साहित्यदर्पणकार प० विश्वनाथ कोषकी परिभाषा करते हैं—

[2]"कोष श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षक।
व्रज्या-क्रमण रचित स एवातिमनोरम॥"

---

१ 'कर्मप्रकृति विधान', छन्द १७४, बनारसी विलास।
२ 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद।

अर्थात् परस्पर निरपेक्ष श्लोक-समूहको कोष कहते हैं। यदि यह व्रज्या (वर्णमाला) के क्रमसे बने तो अति सुन्दर होता है।) कविवरकी नाम-मालामें श्लोकोकी परस्पर निरपेक्षता अर्थात् एक नामके श्लोकोका दूसरे नामके श्लोकोसे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु अकारादि क्रमका अभाव है। बडे बडे कोषोंमें भी इस क्रमका निर्वाह नहीं हो सका है।

कविवरका यह कोष हिन्दीके विद्यार्थियोंका भारी हित-साधन कर सकता है। बडी सुगमतासे कण्ठ हो सकता है। उदाहणार्थ 'सुन्दर' के नाम देखिए–

[1]"सुन्दर सुभग मनोहरन, कल मंजुल कमनीय।
रुचिर चारु, अभिराम वर, दरसनीय, रमनीय॥"

विद्वान्‌के नाम

[2]"विबुध, सूर, पडित सुधी, कवि कोविद विद्वान।
कुसल, विचक्षण, निपुन पटु, क्षम, प्रवीन धीमान॥"

इसी प्रकार कविवरके 'जिनसहस्रनाम' को भी एक सुन्दर शब्दकोष कहा जा सकता है। इसमें जिनेन्द्र देवके गुणोके आधारपर उनके एक सहस्र नामोका उल्लेख किया गया है। यह कोष जैन सम्प्रदायमें पूजनके समयमें पढ़े जानेवाले 'सस्कृत जिनसहस्रनाम' के आधारपर रचित है।

आत्मकथा

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीको आत्मकथा 'अर्धकथानक' के कारण ही विशेष रूपसे हिन्दी-संसार उन्हें जानता है। ऐतिहासिकता, सरलता, जीवन घटनाओंका यथावत् निरूपण, सक्षिप्तता आदि आत्मकथाकी कसौटियोंपर यह जीवन-वृत्त पूर्ण रूपेण खरा उतरा है। हिन्दीमें ही नही सम्पूर्ण भारतीय भाषाओंमें यह सर्वप्रथम और अनुपम तथा पद्यबद्ध आत्मकथा काव्य है। आचार्य विश्वनाथ गद्यकाव्यकी चर्चा करते हुए, साहित्यदर्पणमें कथाकाव्यकी तथा आख्यायिकाकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं–

[3]"कथायां सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या, क्वचिद् वक्त्राऽपवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कार खलादेर्वृत्तकीर्तनम्॥"

---

१ 'बनारसी-नाममाला' ८६।

२ वही ८५।

३ 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद ३३२–३३।

(अर्थात् कथामें सरस वस्तु गद्यके द्वारा ही निर्मित होती है। इस कहीं कहीं आर्या छन्द और कहीं कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भमें पद्यमय नमस्कार और खलादिकोंका चरित्र निबद्ध होता है। साहित्य-दर्पणकारने प्रस्तुत परिभाषा वास्तवमें कादम्बरी आदिके आधार-पर ही बनायी है। होता भी यही है कि ग्रन्थ बन जानेपर ही उसकी परिभाषा बनायी जाती है।) आचार्यने आख्यायिकाकी भी परिभाषा की है —

[1]"आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥"

(अर्थात् आख्यायिका कथाके सदृश होती है इसमें कविवंशका वर्णन होता है और अन्य कवियोंका वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं। यह परिभाषा 'हर्षचरित' पर आधारित है।)

आत्मकथा अथवा आत्मचरितका प्रचलन वास्तवमें संस्कृतमें रहा ही नहीं है। किसी राजा, महराजाका वर्णन करते समय कुछ प्रसंग जुटाकर कविने स्वयंके वंशादिकका परिचय दे दिया यही बहुत था। यह भी गद्यमें ही हुआ। पद्यमें तो आत्मचरितका श्रीगणेश कविवर बनारसीदासजीने ही किया। कथा और आख्यायिकाकी उक्त परिभाषामें वह शालीनता और विस्तार नहीं है जो आजकी गद्यमय स्वलिखित कथाओं एवं बनारसीदासजी-की आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी गयी पद्यबद्ध आत्म-कथामें प्राप्त होता है। अतः पुरातन कसौटी कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाके लिए पर्याप्त छोटी बैठती है। एक वैशिष्ट्य और दर्शनीय है। साहित्य दर्पणकार किसी आचार्यका मत पूर्व पक्षके रूपमें उद्धृत करते हुए उत्तरपक्षमें आचार्य दण्डीका समर्थन करके लिखते हैं कि आख्यायिका नायकके द्वारा ही लिखी जाये ऐसा नियम नहीं है, इसमें अन्य लोगोंका कार्य भी हो सकता है। लिखते हैं—[2]"आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या इत्याहु-स्तदयुक्तम्" इत्यादि। वास्तवमें उत्तम आत्म कथाकी रचना स्वयं नायक ही कर सकता है, आज यह सर्वमान्य निश्चय है। अतः प्राचीन लक्षण-ग्रन्थोंमें हम कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथा अथवा आधुनिक युगमें रचित महात्मा गांधी, पं० नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ० श्यामसुन्दरदास

१ 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद ३३४।
२ वही, पृ० ३२६, गद्यभाग।

एव बाबू गुलाबराय आदिकी आत्मकथाओंकी कसौटी नहीं पा सकते। इस दिशामें प्राचीन समयमें वस्तुत कार्य हुआ ही नहीं है। इनके लिए हमें आजके विद्वान् आचार्योंकी मान्यताका आधार लेकर ही चलना होगा। आधुनिक युगके वयोवृद्ध समर्थ विचारक बाबू गुलाबराय आत्मकथाकी उत्तमताके सम्बन्धमें लिखते हैं—

"साधारण[1] जीवन-चरित्रसे आत्मकथामें कुछ विशेषता होती है। आत्मकथा-लेखक जितना अपने बारेमें जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करनेपर भी कोई दूसरा नही जान सकता, किन्तु इसमें कही तो स्वाभाविक आत्म-श्लाघाकी प्रवृत्ति बाधक होती है और किसीके साथ शील-सकोच आत्म-प्रकाशनमें रुकावट डालता है। यद्यपि सत्यके आदर्शसे दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द्य हैं तथापि अनावश्यक आत्म-विस्तार कुछ अधिक अवाछनीय है। शील-सकोचके कारण पाठकको सत्य और उसके अनुकरणके लाभसे वचित रखना भी वाछनीय कहा जा सकता है। साधारण जीवनी-लेखककी अपेक्षा आत्मकथा-लेखकको ऊबसे बचाने और अनुपातका अधिक ध्यान रखना पडता है। उसे अपने गुणोंके उद्घाटनमें आत्मश्लाघा या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बननेकी दूषित प्रवृत्तिसे बचना चाहिए। जीवनी लिखनेवालोंको दूसरेके दोष और आत्मकथा लिखनेवालोको अपने गुण कहनेमें सचेत रहनेकी आवश्यकता है।" उत्तम आत्मकथाको इन विशेषताओंकी चर्चा करनेके पश्चात् बाबू गुलाबरायजी ने स्वय ही बनारसीदासजीकी आत्मकथाका आदर्श आत्मकथाके रूपमें उल्लेख किया है—
"अकबरके समयके आगरानिवासी जैन कवि बनारसीदासजीने अपनी आत्मकथा 'अर्धकथानक' नामसे लिखी है जिसमें उन्होने अपनी बुराइयों और कमजोरियोंका निस्संकोच भावसे उद्घाटन किया है—

"भयो[2] बनारसी दास तन, कुष्ट रूप सरवग।
हाड़ हाड़ उपजी व्यथा, केस रोम भुव भग॥
विस्फोटक अगनित भये, हस्तचरन चौरग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न संग॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आवै कोई।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोई॥

१ 'काव्यके रूप', पृ० २५६, ले० बा० गुलाबराय।
२ 'अर्धकथानक'।

जल भोजन की लैंचि सुध, ढँहि आनि मुख माँहि।
ओखद ल्यावहि अग में, नाक मूँद उठि जाँहि ॥"

उन्होंने आगरामें उधार तेलकी कचौड़ी खानेकी भी बात लिखी है। स्पष्ट है कि कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते। ऊपरके उद्धरणसे भी अधिक मार्मिक स्थल कविवरकी आत्मकथामें हैं। जिनका उल्लेख तृतीय अध्यायमें सविस्तार हो ही चुका है। सरलता, स्पष्टवादिता और मितभाषिता (संक्षिप्तता) तो सर्वत्र ही प्राप्त होती है।

शास्त्रीय मर्यादाओंका तो कविने पालन किया ही है साथ ही अपनी आत्मकथा 'अर्धकथा'-द्वारा साहित्यमें एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया है। आज हमें कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाके आधारपर अपनी शास्त्रीय परिभाषामें अवश्य ही संशोधन करना होगा और तब हमारी परिभाषा कुछ इस ढंगकी होगी—आत्मकथा व्यक्तिकी स्वरचित वह कृति है जिसमें अपने पूर्वजोंके संक्षिप्त परिचयके साथ स्वयंके पूर्व जीवनकी (कृति-लेखन काल तकको) सम्पूर्ण घटनाओं, सम्पर्कों, प्रभावों तथा निजी गुणावगुणों आदिका सरलता संक्षिप्तता और सचाईके साथ प्रतिपादन किया जावे।

निबन्ध

कविवर बनारसीदासजीने पद्यकी भाँति गद्यमें भी अपनी प्रतिभा और बुद्धि-कौशलका अनुपम परिचय दिया है। आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व जब कि हिन्दीमें निबन्धोंका अता पता भी न था तब आपने इस दिशामें लेखनी उठायी और अपने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वोंसे परिपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किये। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' प्राचीन आचार्यकी इस उक्तिसे स्पष्ट है कि गद्य कवियोंकी कसौटी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने निबन्धको गद्यकी भी कसौटी कहा है। वास्तवमें पद्यमें तो कविको अपनी भाषा भाव और शैलीगत दुर्बलता छिपानेके लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है। यदि एक लम्बी कवितामें चार छह छन्द भी प्रभावक मिल गये तो कविकी प्रशंसाके लिए पर्याप्त हैं, किन्तु एक निबन्धमें यदि एक शब्द भी शिथिल या बेमेल बैठ गया तो सब निबन्ध किरकिरा-सा लगने लगता है।

बनारसीदासजीने 'परमार्थ-वचनिका' और 'उपादान निमित्तकी चिट्ठी' ये दो ही निबन्ध लिखे हैं। इनमें जैन-दर्शन एवं अध्यात्मकी चर्चा है। कितनी सरल अभिव्यक्ति और शालीनतासे अभिव्याप्त व्यक्तित्वके दर्शन इन निबन्धोंमें होते हैं पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकते हैं। बनारसीदासजी जैसे अपने सम्मुख बैठे चार-छह श्रोताओंको ही मानो समझा रहे हों, इस ढंगसे आपने निबन्ध लिखे हैं। निबन्धोंमें गम्भीर विषय है किन्तु लेखकने अपनी सरल दृष्टान्त-प्रधान अभिव्यक्तिसे उसे पर्याप्त सुबोध कर दिया है। उदाहरणार्थ कुछ द्रष्टव्य है—

"सम्यग्दृष्टि[1] कहा सो सुनो—संशय विमोह विभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टी। संशय, विमोह, विभ्रम कहा ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखावतु है सो सुनो—जैसे च्यार पुरुष कोई एक स्थान विषें ठाडे तिन्ह चारि हूं के आगे एक सीपको खंड किन ही और पुरुषने आनि दिखायो। प्रत्येक तें प्रश्न कीनी कि यह कहा है सीप है कै रूपो है। प्रथम ही एक पुरुष संशै वालो बोल्यो—कछु सुध नाही न परत, किधों सीप है, किधौं रूपो है, मोरी दृष्टि विषै याको निरधार होत नाहिनै। भी दूजो पुरुष विमोह वालो बोल्यो कि कछू मोहि यह सुधि नाही कि तुम सीप कौन सौं कहतु हो रूपो कौन सौं कहतु हो मोरी दृष्टि विषै कछु आवत नाही तातै मैं नाहिनो जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहै बोलै नाही अटल रूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रम वालो बोल्यो कि—यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान रूपो है याको सीप कौन कहै, मेरी दृष्टि विषै तो रूपो सुझातु है तातैं सर्वथा प्रकार यह रूपो है सो तीनों पुरुष वा सीपको स्वरूप जानो नाही। तातै तीनों मिथ्यावादी। अब चौथा पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है यामें कहा धोखो, सीप, सीप, सीप।"
बनारसीदासजीको गद्यलेखन शक्ति और विषय-प्रतिपादनकी निपुणता द्योतित करनेके लिए उक्त उद्धरण पर्याप्त है। जिस प्रकार आज श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीको केवल तीन कहानियाँ ही उन्हें कहानी जगत्में अमर रखनेमें समर्थ है ठीक उसी प्रकार बनारसीदासजीके ये निबन्ध उन्हें निबन्ध-साहित्य-संसारमें सदैव शीर्षस्थान देनेमें समर्थ हैं। इन निबन्धोंपर तृतीय अध्यायमें विस्तृत वार्ता हो ही चुकी है अतः यहाँ केवल शास्त्रीय दृष्टिसे ही उनकी विधापर विचार करना है।

---

१ 'परमार्थवचनिका' अन्तर्गत 'बनारसी-विलास'।

रोचकतामें लेखकने किसी प्रकार बाधा नहीं आने दी है। लेखकका विषय स्वयं ही रजतके समान स्थिर प्रभा लिये हुए है उसे गद्यकारके प्रभाव-द्वारा सिकताकणसे रजत नहीं बनना है वरन् ऐसा उज्ज्वल और वास्तविक रजत ही बनना है कि पाठक उसे सहज भावसे ग्रहण कर सकें और यह कार्य बनारसीदासजीके निबन्ध कर सके हैं।

■

सप्तम अध्याय

बनारसीदासकी ज्ञान-गरिमा और उनकी सांस्कृतिक देन

यह प्रयत्न भी रहा कि ज्ञानकी गम्भीरसे गम्भीर बात भी जन-सामान्य तक किसी सरल माध्यमसे पहुँच जाये। 'नाममाला', बनारसी-विलास, समयसार तथा 'अर्धकथानक' को सरल-ललित जनभाषामें रचना कविकी उपर्युक्त भव्य भावनाका ही प्रतिफल है। स्वयके साथ जन सामान्यको ज्ञानवान् बनानेका कविवर भारी प्रयत्न करते रहे। (मनुष्य स्वय कितना भी दिग्गज विद्वान् क्यों न हो, यदि उसके द्वारा जन-सामान्य लाभान्वित नही होता तो हो सकता है उसकी विद्वत्ता, ज्ञानगरिमा यदाकदा प्रशंसित हो जाये, परन्तु उसे जनताका प्यार, उसकी आत्मीयता और श्रद्धा तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकती)। (बनारसीदासजीके व्यक्तित्वका यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि बुद्धि और ज्ञानकी अपेक्षा वे हृदयके धनी अधिक थे। ज्ञानकी गठरीकी अपेक्षा उन्हें हृदय और आत्माकी निर्मलता अधिक भायी थी, वे अपने समयके बडे-बडे तार्किको और पण्डितोका विवाद एव अहकारसे जडीभूत जीवन देख चुके थे। जिनमें हृदयगत निर्मलताका अभाव था, जो दूसरेकी मौलिक विवेचनाको सह न सकते थे ऐसे अनेक बुद्धिवादी व्यक्ति कविवरके दृष्टिपथमें आ चुके थे। ये विद्वान् यदि कुछ उदार होते भी थे तो केवल विद्वन्मण्डली ही इनसे लाभान्वित हो पाती थी, अर्थात् ये श्रेणी (क्लास) विशेषके ही हो पाते थे, जनसामान्य (मास) के नही। बनारसीदासजीने इस अभावका अत्यन्त तीव्र अनुभव किया और उसकी पूर्तिमें वे जुट भी गये। उनका लक्ष्य बन गया कि मेरा ज्ञान, मेरी प्रतिभा और मेरी विद्वत्ता सभी सार्थक हो सकेगी जबकि वह सामान्य-जनके हृदयोमें अनायास ही प्रविष्ट होकर उसे आत्म-कल्याणकी ओर स्पन्दित कर सके। हिन्दी ससार उनके इस आदर्श लक्ष्यसे कितना उपकृत हुआ है आज यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। महात्मा कबीर और भक्त सूरदासको कोई शिक्षा प्राप्त न हो सकी थी फिर भी वे कितने विद्वान् थे, ज्ञानी थे और थे जनताकेअपने, यह बात आज उनके उज्ज्वल साहित्य और जनताकी उनपर अगाध श्रद्धा-से स्पष्ट है। उक्त कवियोंके समयमें सैकडों महा-पण्डित हुए होगे जिनके नाम इतिहास भी कठिनतासे जानता है। इन कवियोको इस देशकी जनता कदापि विस्मृत नहीं कर सकती। अध्यात्म सन्त बनारसीदास भी इसी सन्त-मणिमालाके एक देदीप्यमान मणि हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा और उनकी मार्मिक अभिव्यजना निश्चित रूपसे हमारे सम्मुख एक दिव्य लोक उप-स्थित कर देती है)। कुछ उद्धरणो-द्वारा कविके उक्त काव्य-सौन्दर्यका रसा-

"कोऊ क्रूर कष्ट सहै, तपसौं सरीर दहै,
धूम्रपान करै अधोमुख ह्वैकै झूलै है,
कोऊ महाव्रत गहै क्रिया मैं मगन रहै,
वहै मुनिभार पै पयार कैसे पूलै है।
इत्यादिक जीवन को सर्वथा मुकति नाहिं,
फिरैं जगमाहि ज्यों बयारिके बघूले हैं।
जिन्ह के हियेमें ज्ञान तिन ही को निरवान,
करम के करतार भरम मे भूले हैं॥"

अनेक अज्ञानी साधु अन्धश्रद्धाके कारण काय-क्लेश करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, शरीरको जलाते हैं, गांजा, चरस आदि पीते हैं, नीचेको मस्तक और ऊपरको पैर करके लटकते हैं—आदि। ज्ञानके बिना उक्त सभी क्रियाएँ फलरहित पयालके पूलेके समान निस्सार हैं। आत्मा और बुद्धि (ज्ञान)के निर्देशनमें किया गया आचरण ही श्रेयस्कर हो सकता है।

अधम पुरुष जिनकी दृष्टि कर्म परक होती है, वे पुण्यकर्मको ही मोक्षका प्रधान कारण मानते हैं। पुण्य पाप अर्थात राग-द्वेषसे परे शुद्ध आत्मानुभव ही मोक्षका कारण है इसे वे नही समझ पाते। बनारसीदासजीने अधम जनोंकी इसी मिथ्या धारणाको अनेक दृष्टान्तो द्वारा हस्तामलकवत् स्पष्ट कर दिया है।

"जैसें रंक पुरुष के भाये कानी कौड़ी धन,
उलुआ के भाय जैसें संझा ही बिहान है,
कूकर के भायें ज्यों पिंडोर जिरवानी मठा,
सूकरके भाये ज्यों पुरीष पकवान है।
बायस के भायें जैसें नींव की निंबौरी दाख,
बालक के भायें दन्त कथा ज्यों पुरान है,
हिंसक के भायें जैसें हिंसा मे धरम तैसें,
मूरख के भाये सुभबन्ध निरबान है॥"

---

१ 'समयसार', निर्जराद्वार २१।
२ 'समयसार', बन्धद्वार २१।

जैन सिद्धान्तमें द्रव्य-चर्चा अत्यन्त ठोस एव गम्भीर है। कविवर बनारसीदासजीने अत्यन्त सरलीकृत माध्यमसे छहो द्रव्यो और उनमें भी जड-चेतनका पारस्परिक सम्बन्ध बडी सरलतासे स्पष्ट कर दिया है।

"घृत-घट पूरित लोक में, धर्म, अधर्म अकास,
काल जीव पुद्गल सहित, छहों दर्व को वास।
छहों दरब न्यारे सदा, मिलै न काहू कोय,
छीर नीर मिल रहें, चेतन पुद्गल दोय।
चेतन पुद्गल यों मिलै, ज्यों तिल में खलि तेल,
प्रकट एक से देखिए यह अनादि कौ खेल।
वह वाके रस सों रमै, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करसै लोह को, लोह लगै तिंह धाय॥"[1]

जैन सिद्धान्तमें द्रव्योका विवेचन इस प्रकार है—

यह लोकाकाश एक घीके घडेके सदृश है। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य निवास करते हैं। ये सभी द्रव्य पृथक्-पृथक् रहते है। कोई किसीसे मिलता नहीं। इनका मिलन ऐसा ही है जैसे दूध और पानीका। वास्तवमें दूध और पानी अलग-अलग हैं। सयोग सम्बन्धसे ही एक से प्रतीत होते हैं। जीव, पुद्गलमें अपनापन देखता है और पुद्गल उससे लिपट जाता है। चुम्बक और लोहे-जैसी दशा जीव और पुद्गलके सयोगकी है। ऐसी सरल अभिव्यक्तिके अनेक स्थल बनारसीदासजीके साहित्यमें पदे-पदे प्राप्त होते हैं। मार्गण, गुणस्थान, कर्मप्रकृतियाँ आदिमें कविवरकी ज्ञानगरिमा अपनी सरल अभिव्यक्तिके साथ अत्यन्त निखर उठी है। बनारसीदासजी-द्वारा प्रस्तुत ज्ञानकी बडीसे बडी निधि पाठकोंके सम्मुख भार बनकर कभी नही आयी।

कविवरने जीवनमें अनेक वार व्यापारादिककी गहरी असफलताका अनुभव किया, ऐसी अनेक प्रकारकी असफलताओसे दु खी होते हुए संसारके अनेक व्यक्ति देखे। ससारके प्राय सभी प्रकारके विषयादिक भी भोगे और अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि ससारके सुखोमें रमण करना घन-चपलाको स्थिर समझनेके समान है। मनुष्यकी व्यापारादिककी असफलता उसके जीवनकी असफलता नही है, हाँ इनमें सफलता प्राप्त होनेपर भोगादिककी ओर प्रवृत्ति बढनेसे उसका विशुद्ध जीवन-पथ और

१ 'बनारसी-विलास', (अध्यात्मबत्तीसी) २-५।

"प्रथम अज्ञानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करम कौ,
अन्तर विवेक आयौ आपापर भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिट भारत भरम कौ,
भासे छह द्रव्यन के गुण पर्याय सब,
नासे दुःख लख्यौ सुख पूरन परम कौ,
करम कौ करतार मान्यौ पुद्गल पिण्ड,
आप करतार भयौ आतम धरम कौ ॥"[1]

ज्ञान वृद्धिके साथ स्वभावगत सारल्य और माधुर्य भी यदि वर्धमान होता चले तो निश्चयसे व्यक्ति लोकश्रद्धाका विषय बनता है। कविवर बनारसीदासजीने अपनी आत्मकथा अत्यन्त निश्छल भावसे लिखी है। ये अपने गुण-दोषोंकी चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"पढ़ै संस्कृत प्राकृत सुद्ध, विविध देस भाखा प्रतिबुद्ध,
जानै सबद अरथ कौ भेद, ठानै नहीं जगत कौ खेद,
मिठ बोला सबही सौं प्रीत, जैन धरम की दृढ़ परतीत,
सहन सील नहि कहै कुबोल, सुथिर चित्त नहिं डाँवाडोल ॥"[2]

पं० बनारसीदासजीकी ज्ञान-गरिमाका अध्ययन करते समय उनकी शिक्षापर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस सम्बन्धमें कविके जीवनी-सम्बन्धी द्वितीय अध्यायमें पर्याप्त विवेचन हो चुका है। ८ वर्षकी अवस्था-में वे पाण्डे गुरुसे चटशालामें जाकर शिक्षा पाने लगे। एक वर्षमें ही अपने व्यापारादिके लिए आवश्यक गणित आदिमें व्युत्पन्न हो गये। प्रतीत होता है उस समय थोड़ी-सी जीवनोपयोगी शिक्षाके साथ गुरुजन व्यापारसम्बन्धी लेने-देनेकी शिक्षा देते थे। इसके पश्चात कविवर व्यापारमें लग गये और पढ़नेकी इच्छा रखनेपर भी संयोग न लग सका। आगे चलकर चौदह वर्षकी अवस्थामें पं० देवदत्तसे नाममाला, अनेकार्थ, कोकशास्त्र, ज्योतिष और फुटकर चार सौ श्लोक पढ़े। कुछ समय पश्चात् भानुचन्द्र यतिसे जौनपुरमें ही पंचसन्धि, फुटकर श्लोक, छन्द, कोष, श्रुतबोध, स्तोत्रविधि और प्रतिक्रमण आदि कण्ठ किये। इतनी ही शिक्षा कविको प्राप्त हो सकी थी। आधुनिक दृष्टिसे वास्तवमें यह शिक्षा अल्प ही कही

1 'बनारसी-विलास', पृ० १६४।
2 'अर्धकथानक', ६४८–४६।

जायेगी, परन्तु जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि बनारसीदासजीमें मौलिक चिन्तन और स्वाभाविक प्रतिभा बाल्यकालमें ही अंकुरित हो रही थी। फलस्वरूप शीघ्र ही वे एक सुयोग्य विचारक, सुकवि एवं सन्तके रूपमें जनताके सम्मुख आ गये। चौदह वर्षकी अवस्थामें ही कविने एक हजार पद्यमय नवरस पद्यावलिकी सरस रचना कर ली थी।

सांस्कृतिक देन

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजी समर्थ विचारक, साहित्यमनीषी एवं सुकवि होनेके साथ साथ अदम्य उत्साही तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी थे। जहाँ भी सामाजिक, धार्मिक एवं मर्यादित ह्रास देखा कि समस्त आपत्तियों और कवि आलोचनाओंकी चिन्ता न कर उन्होंने अपनी पूर्ण शक्तिसे उसकी शल्यक्रिया की। कविने धर्म और संस्कृतिके उदात्त तत्त्वोंसे जनमानस उद्वेलित किया।

आपके समयमें समाजमें आचार-विचार-सम्बन्धी संकीर्णता इतनी बढ़ चुकी थी कि सामान्य जनताने धर्मका मूलरूप उसीको मान लिया था। धर्मकी व्याख्या करनेवाले स्वार्थान्ध पण्डे उसे पथभ्रष्ट कर रहे थे। मन-मानी कठोर आचारपरक व्याख्या करके धर्म-मार्ग इतना जटिल, बोझिल एवं व्ययसाध्य कर दिया कि धीरे-धीरे जन सामान्यके अन्तस्में क्रान्तिकी लहरें उठने लगीं, उसका मस्तिष्क भी इस धर्मान्धताकी कटु आलोचना (मूक रूपेण) करने लगा। यह क्रम एक लम्बे समय तक चलता रहा। खुलकर विरोध करनेका सामर्थ्य अभी जनतामें न थी। पण्डों, पुजारियों और भट्टारकोंका मन्दिरों और धर्मपर इतना गहरा आधिपत्य था कि उनका विरोध करना अथवा उनके प्रति अविश्वास प्रकट करनेका सीधा अर्थ था मनुष्यका अधार्मिक, नास्तिक, शिथिलाचारी एवं मिथ्यादृष्टि आदि उपाधियोंसे विभूषित होना तथा आये दिन अपमानित होना। (कविवर बनारसीदासजीने इस धार्मिक संकीर्णतासे अभिव्याप्त घुटनका तीव्र अनुभव किया। धर्मको इतना विकृत एवं दुराचरित होते देख उनकी आत्मा क्रान्तिके लिए विचलित हो उठी। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि इस देशकी एकात्म संस्कृतिमें कटुता, भिन्नता वैमनस्यके बीज इसी निःसार-आडम्बरयुक्त धार्मिक कट्टरताके कारण पनप रहे हैं। अध्यात्म-मूलक धर्म जो इस वसुन्धराकी संस्कृतिका प्राण है धीरे-धीरे कुछ अवसन्न एवं मूर्च्छित-सा हो रहा था। क्रान्तद्रष्टा बनारसीदासजीने अपनी पूर्ण

शक्तिसे निर्भीकतापूर्वक धर्मकी शुद्ध अध्यात्म मूलक व्याख्या की और आचार तथा क्रियाकाण्ड जो मानवकी अध्यात्म दृष्टिमें सहायक हो वही श्रेयस्कर घोषित किया। कुछ समय पश्चात् उनका यह आन्दोलन अध्यात्म मतके रूपमें बडी लोकप्रियताके साथ प्रचलित हो गया। यही अध्यात्म-मत और आगे चलकर तेरहपन्थके नामसे जैनोके सुप्रसिद्ध दोनो ही सम्प्रदायो (दिगम्बर-श्वेताम्बर) में प्रचलित एव मान्य हो गया। धर्ममें इस नये परिवर्तनके कारण उनका प्रारम्भमे विरोध भी पर्याप्त मात्रामें हुआ, विरोधमें ग्रन्थ भी रचे गये परन्तु आगे चलकर जनताके हृदयमें उनकी वास्तविक दृष्टि घर कर गयी और उनका यह अध्यात्म-मत सम्पूर्ण समाजमें प्रतिष्ठित हो गया जो आज तक उसी मान्यतासे प्रचलित है।

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीके जीवन और साहित्यका अध्ययन उनके सास्कृतिक उदात्त कार्योके अध्ययन-मननके अभावमें अपूर्ण ही कहा जायेगा। किसी जाति और सम्प्रदाय विशेषके धर्ममें सीमित करके हम उनका वास्तविक अध्ययन नहीं कर सकते। वे सम्प्रदायगत सकीर्णता, समाजगत कुरीतियो तथा खण्डन-मण्डनके अन्त सार शून्य झझटोसे पृथक् एक ऐसे जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ थे जिन्होने मानव मात्रमें एक जीवन स्पन्दित होते देखा। कुछ समयके पश्चात् समष्टिने भी आपके उदात्त भावोंसे स्वयमें सुखी और सम्मान्य जीवनके चिह्न अनुभव किये।

सस्कृति शब्दके विद्वानो-द्वारा अनेक अर्थ किये गये है। यहाँ उन सबकी चर्चा करना हमारा उद्देश्य नही है। यहाँ सस्कृति शब्दके आधारपर जो उसकी सर्वमान्य परिभाषा बन सकती है उसीको लेकर हम कविवर बनारसीदासकी सास्कृतिक देनका अध्ययन कर रहे है।

सम् उपसर्ग कृ धातुमें सुट्का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर सस्कृत शब्द बनता है। इसका अर्थ है सम् अर्थात् समभाव और सदाचार-पूर्वक किये गये कृति अर्थात् कार्य।

ऑक्सफर्ड डिक्शनरीमें सस्कृति (कल्चर) शब्दकी यह व्याख्या है—

1 The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of civilisation, the acquainting ourselves with the best that has been known and said in the world

Oxford Dictionary

मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहारकी शिक्षा और शुद्धि, इस प्रकार शिक्षित और शुद्ध होनेकी अवस्था, सभ्यताका बौद्धिक पक्ष, विश्वकी सर्वोत्कृष्ट ज्ञात और कथित वस्तुओंसे स्वयंको परिचित करना।"

"[1]आप्टेके संस्कृतके शब्दकोषमें 'संस्कृ' धातुके अनेक अर्थ दिये हैं– सजाना, सँवारना, पवित्र करना, सुशिक्षित करना आदि। संस्कृति शब्दके उल्लिखित इन अर्थोंसे हम सहजमें ही इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जीवनको शुद्ध और परिमार्जित करना ही इसका आशय है। वेशभूषा और बाह्याचार आदिकी अपेक्षा संस्कृति मानव जीवनके आत्मशोधनकी ओर ही अधिक अग्रसर होती है। अन्तिम रूपमें विश्व-मानवकी संस्कृति एक ही कही जायेगी, फिर भी हम विश्लेषणकी दृष्टिसे और विभिन्न देशोंकी आचार विचारकी पद्धतिकी भिन्न-भिन्न दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वकी संस्कृतिको छह वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं–

१	इस्लामी	(अरबी-फारसी)	संस्कृति
२	ईसाई	(यूरो-अमरीकी)	संस्कृति
३	रूसी	(साम्यवादी)	संस्कृति
४	मंगोल	(चीनी, जापानी)	संस्कृति
५	अनार्य	(अफ्रीकी)	संस्कृति
६	आर्य	(भारतीय)	संस्कृति

जहाँतक भारतीय संस्कृतिकी बात है वह एक है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे प्रान्त, नगर, ग्राम, जाति, कुटुम्ब और व्यक्तिकी संस्कृति अपनी कुछ मौलिकताके साथ अलग-अलग है। इस महान् देशकी विभिन्न प्रकारकी संस्कृतिका मूलाधार अध्यात्म ही है। यह इसी प्रकार है जैसे एक सूत्रमें गुँथे हुए अनेक पुष्प अपनी अनेकता लिये हुए भी मालाके रूपमें एक अद्वितीय ऐक्यका आदर्श प्रस्तुत करते हैं।[2] 'संस्कृति मनुष्यकी विविध

---

1 To adorn, grace, decorate (2) to refine, polish, (3) to conscrate by repeating mantras, (4) to purify (a person) by scriptual ceremonies to perform purificatory ceremony over (a person), (5) to cultivate, educate train, (6) make ready, proper, equip, fitout, (7) to cook (food), (8) to purify cleanse, (9) to collect, heap to gather

२ 'अशोकके फूल', पृ० ६४, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

साधनाओंकी सर्वोत्तम परिणति है। धर्मके समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधोंमें सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनताकी विविध साधनाओंकी सबसे सुन्दर परिणतिको ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है।" संस्कृतिके सम्बन्धमें इतना सभी विद्वान् मानते हैं कि मानव-समाजकी श्रेष्ठ साधनाएँ हो उस देशकी संस्कृति है। श्रेष्ठ साधनाएँ क्या है इस सम्बन्धमें विभिन्न देशोंकी पृथक्-पृथक् मान्यताएँ हो सकती है। पाश्चात्य संस्कृति भोगप्रधान है। भौतिक विकासको उसमें सर्वाधिक मान्यता है। पौर्वात्य और विशेषतः भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान है। इसमें आध्यात्मिक विकासको ही सर्वाधिक मान्यता दी गयी है। पाश्चात्य संस्कृति स्थूल है। सभ्यता (बाह्य विकास) के अधिक निकट है। सभ्यताकी जहाँतक बात है वह मनुष्यके बाह्य प्रयोजनोंको सहज लभ्य बनानेका विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्दकी अभिव्यक्ति।"[1]

कविवर बनारसीदासजीके सम्पूर्ण साहित्यके रग-रगमें हमें अध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृतिका उज्ज्वल रूप मिलता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सन्तोंसे इस देशकी जो संस्कृति-निधि प्राप्त की, उसे अत्यन्त विकसित, परिमार्जित एवं जनग्राह्य रूपमें जनताके सम्मुख प्रस्तुत किया। सन्तोंकी उच्च भाव-भूमिपर पहुँचकर कविवरके साहित्यने वही दिशा ग्रहण की जो सम्प्रदायगत, रूढिगत एवं जातिगत आचार-विचारोंकी तंग गलीकी उपेक्षा कर सम्पूर्ण मानव-जगत्का दिव्यादर्श बन सकती है। बनारसीदासने मानव-विकास (आत्मोन्नति)में बाधक जिन तत्त्वोंका अनुभव किया उनका भी निराकरण किया। अनेक मौलिक विवेचनाओंद्वारा सांस्कृतिक इतिहासमें नवीन जीवनका संचार कर दिया। शुद्ध ज्ञानकी चर्चा करते हुए कविवर उसे ही अध्यात्मका आधार बताते हैं—

"ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर, जोति जगी मति होति न मैली,
बाहज दिष्टि मिटी जिनके हिय, आतम ध्यान कला विधि फैली।
जे जड़ चेतन भिन्न लखें, सुविवेक लिए परखें गुन थैली,
ते जग में परमारथ जानि, गहें रुचि मानि अध्यातम सैली॥"[2]

वास्तवमें जिनके अन्तरंगमें सम्यग्ज्ञानका उदय हो गया है जिनकी आत्मज्योति जागृत है, जो शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं रखते और जो जड़-

१ 'अशोकके फूल', पृ० ८३, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२ 'नाटक समयसार', निर्जराद्वार छन्द २५।

चेतनको पृथक् पृथक् जानते हैं वे ही शुद्ध आत्मानुभव करते हैं।

भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। इसमें श्रम शम और सम ये तीन मूल तत्त्व हैं। दूसरे शब्दोंमें साधना, शान्ति और समत्वकी भावना ही इस देशकी संस्कृतिके मूलमें है। उक्त तीनों ही बातें मानव आत्मामें ज्ञानकी निर्मल अवस्थामें ही झलक सकती हैं। बनारसीदासजीने इसी भावको बड़ी मार्मिकताके साथ स्पष्ट किया है—

"जैसे पुरुष लखै परवत चढ़ि, भूचर पुरुष ताहि लघु लग्गै।
भूचर पुरुष लखै ताकौं लघु, उतरि मिलैं दुहु कौ भ्रम भग्गै।
तैसें अभिमानी उन्नत लग और जीव कौं लघु पद दग्गै।
अभिमानी को कहै तुच्छ सब, ज्ञान जगै समता रस जग्गै॥"[1]

जीव मात्रमें समभाव उत्पन्न करना हमारी संस्कृतिका बहुत बड़ा ध्येय रहा है। छोटे-बड़े, ज्ञानी-अज्ञानी, दुर्बल-सबल, कुलीन-अकुलीनके भेद-भावने एक लम्बे समयसे हमारी संस्कृतिकी स्रोतस्विनीके निर्मल प्रवाहको अवरुद्ध और विकृत कर दिया था—जो अब भी शेष है। हमारे सन्तोंने अपने उदार व्यक्तित्व और प्रतिभासे जन-जीवनको समय-समयपर जागृत किया है। बनारसीदासजी प्रत्येक प्राणीको उसकी अन्तिम विकासकी अवस्थामें देखकर ही उसका मूल्यांकन करते थे। किसी मानवको धन, जाति, बल, ज्ञान आदि किसी बातमें कुछ पीछे देख उसका असम्मान करना वे मनुष्यताका अपमान एवं ज्ञानका दिवालियापन समझते थे।

भारतवर्ष चिरकालसे ऋषियों, मुनियों और ज्ञानियोंका देश रहा है। ये महात्मा और विद्वान् अपनी शालीनता और विद्वत्ताको आर्जव और मार्दवकी छत्रच्छायामें ही पल्लवित करते थे। यही कारण है कि आज भी इस देशकी जनतामें उनके प्रति अटूट श्रद्धा है। बनारसीदासजी भारतीय संस्कृतिके प्रतीक एक महात्माका सामान्य स्वरूप अंकित करते हैं—

"धीर के धरैया भव नीर के तरैया भय,
भीर के हरैया वरवीर ज्यों उमरे हैं।
मार के मरैया सुविचार के करैया सुख,
ढार के ढरैया गुन लौं सौं लहलहे हैं।"

---

[1] मोक्ष द्वार (समयसार) ८४।

[1]रूप के रिझैय्या, सब नै के समझैया सब,
ही के लघु भैया सब के कुबोल सहे हैं।
श्राम के बमैया, दुख दाम के दमैया ऐसे,
राम के रमैया नरज्ञानी जीव कहे हैं॥

उक्त पद्यमें जिस अनुपम सारल्य और माधुर्यके साथ भारतीय संस्कृति-के उपासक मनीषीका चित्र प्रस्तुत किया गया है, यह बनारसी-सदृश उदाराशय सन्त कविसे ही सम्भव हो सकता है।

मानवको आत्मिक उठानको ही उसका वास्तविक अभ्युदय माना गया है। [2]"भारतीय मनीषियोंने अपने देशवासियोंमें जीवनके आवश्यक कर्तव्यो-संयम और वैराग्यकी महिमा और स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी ओर झुकनेका जो प्रेम पैदा किया उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक पशु-सुलभ क्षुद्र स्वार्थोंका गुलाम नहीं बन सका। आज हम सांस्कृतिक दृष्टिसे जो बहुत नीचे गिर गये हैं उसका प्रधान कारण यही है कि हम इस महान् आदर्शको भूल गये हैं।" कविवर बनारसीदासजीने अपनी प्रमुखतम कृति 'समयसार' में इस सूक्ष्म अध्यात्मकी बड़ी मार्मिक चर्चा की है। जैन आचार्य कुन्द-कुन्दके भावोंका अत्यन्त हृदयग्राही विश्लेषण बनारसीदासजी-ने किया है। कविवरके इस हिन्दी पद्यमय 'समयसार' का और उनके अध्यात्म मतका प्रभाव जैन उत्तर भारतमें तो निश्चित रूपसे आज भी देखा जा सकता है। प्रत्येक जैन देवालयके शास्त्र-भण्डारमें 'समयसार' की एक-दो हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी प्राप्त होती हैं। अध्यात्मके विस्तार-में बनारसीदासजीने जैन-जगत्में वास्तवमें अद्भुत रूपसे वरेण्य कार्य किया। कविवरकी इस सांस्कृतिक देन और अध्यात्म मतके प्रभावके सम्बन्धमें समर्थ शोधक श्री अगरचन्द नाहटा लिखते हैं [3]"यहाँके श्रावकोंका अध्यात्म-की ओर इतना अधिक प्रेम कबसे एवं कैसे हुआ यह अन्वेषणीय है। मेरे नम्र मतानुसार १७वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें दिगम्बर समाजमें कविवर बनारसीदासजीने जो आध्यात्मिक लहर लहरायी थी सम्भव है मुल्तान तक वह पहुँचकर वहाँके श्रावकोंको प्रभावित करनेमें समर्थ हुई। आध्यात्मिक

१ मोक्षद्वार (समयसार) ४५।
२ 'अशोक के फूल' पृ० ६०, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
३ 'जैन सिद्धान्त भास्कर' जुलाई १९४६ पृ० ५७–५८। ले० 'मुल्तान के श्रावकों का अध्यात्म प्रेम'
ले० श्री अगरचन्द नाहटा

विषयका साहित्य श्वेताम्बर समाजकी अपेक्षा दिगम्बर समाजमें अधिक है। अत श्वेताम्बर मुनियोमें श्रावकोके अनुरोधसे ज्ञानार्णव और परमात्मसार नामक दिगम्बर ग्रन्थोकी अनुवाद रूपमें (या आधारसे) रचना भी की है। कविवर बनारसीदासजीके अध्यात्म प्रेमने जैन समाजमें नवजीवनका सचार किया। सवत् १६८० के लगभग तो इसका आगरेमें विकास हुआ पर थोडे ही समयमें उसका प्रचार बहुत व्यापक हो गया प्रतीत होता है। दि० जैन समाज एव आगरेको सीमाको उल्लघन कर श्वेताम्बर समाज एव दूरवर्ती स्थानोमें इसका प्रभाव नजर पडता है। मुल्तानमें सम्भवत सवत् १७०० के लगभग ही आध्यात्मिक लहर लहराने लगी थी। उसका सवत् १८०० तक तो उत्तरोत्तर विकास होता रहा ज्ञात होता है।"

जीवनका झुकाव स्थूल भोगोकी ओर यदि रहा तो निश्चित रूपसे अध्यात्म सरिता सूख जायेगी। निष्परिग्रही जितेन्द्रिय होकर ही आत्मकल्याण सम्भव है। भारतीय सन्तोने सदैव आत्म-निरीक्षण एव आत्मबोधन किया है। स्वय परिपक्व होकर ससारको भी लाभान्वित किया है। बनारसीदासजी मनको नियन्त्रित करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं—

"[1] रे मन कर सदा सन्तोष,
जातें मिटत सब दु ख दोष। रे मन०।
बढत परिग्रह मोह बाढत, अधिक तृषना होति,
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगनि ऊँची जोति,
लोभ लालच मूढ जन सों कहत कचन दान,
फिरत आरत नहिं विचारत धरम धन की हान,
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत सक,
ज्ञान करि बूझै बनारसि, को नृपति को रक। रे मन०।

भारतीय सस्कृतिका मूर्त रूप समन्वयकी चिरन्तन भावना है। बनारसीदासजीने अपने साहित्यमें ऊर्ध्वबाहु होकर इसको उद्घोषणा की है। पूर्ण सत्यका साक्षात्कार और पूर्ण सुखानुभव सर्व समभावमें ही सम्भव है।[2] "समन्वयात्मक भारतीय सस्कृतिकी भावनाको जनतामें बद्धमूल

१ 'बनारसी विलास', (अध्यात्मपद पक्ति) २२८।
२ 'भारतीय सस्कृतिका विकास' (वैदिकधारा) पृ० ४५।
—डॉ० मगलदेव शास्त्री

करने और मूर्त रूप देनेके लिए आवश्यक है कि हम विभिन्न सम्प्रदायोके उत्कृष्ट साहित्यको भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न धारासे सम्बद्ध मानते हुए उसे अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति और अपना दाय समझें और उससे लाभ उठायें। उनके अपने-अपने महापुरुषोको सबका पूज्य और मान्य समझें और अपने विचारोको साम्प्रदायिक पारिभाषिकतासे निकालकर उनके वास्तविक अभिप्रायको समझनेका यत्न करें। दूसरे शब्दोंमें, प्राचीन ग्रन्थोके वचनोके शब्दानुवादके स्थानमें भावानुवादकी आवश्यकता है। कहनेकी आवश्यकता नही है कि उपर्युक्त उपायोके अवलम्बनसे जहाँ एक ओर हमारी अपने-अपने सम्पदायोमें श्रद्धा बढेगी, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान साम्प्रदायिक सकीर्णताके हटनेसे सम्प्रदायोमें परस्पर सहानुभूति, समादर और सहिष्णुताकी भावनाकी वृद्धि भी होगी। इसी प्रकार हममें समष्ट्यात्मक भारतीय सस्कृतिकी भावना बद्धमूल हो सकती है।" हमारे आराध्य सन्तोने इसी दिशामें सुदीर्घ कालसे हमें भव्य सन्देश दिये हैं। कविवर बनारसीदासजीने आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व ही सम्प्रदाय, जाति एव रूढियोंकी दलदलसे ऊपर उठकर सर्वधर्म समन्वयकी आदर्श घोषणा की थी।[1]

"एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय,
मन की दुविधा मानकर भये एक सौं दोय ॥
दोऊ भूले भरम में करें वचन की टेक,
राम राम हिन्दू कहैं, तुर्क सलामालेक ॥
इनके पुस्तक बाँचिए, वेहू पढें किताब।
एक वस्तु के नाम द्वै, जैसें शोभा जेब ॥
जिनकौ दुविधा जो लखैं, रंगबिरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिए घट-घट अन्तर राम ॥"

अपने परवर्ती हिन्दी कवियो (विशेषत जैन कवियो) के लिए तो काव्यदिशा-निर्देशनमें बनारसीदासजीका साहित्य एक प्रकाश-स्तम्भ ही बन गया। आगेके कवियोंमें उदारता, समन्वय, अध्यात्म एव राष्ट्रीयताकी उद्बुद्ध भावनाके प्रेरणा-स्रोत एक बडी सीमा तक बनारसीदासजी हैं। भैया भगवतीदास, सन्त आनन्दघन, भूधरदास द्यानतराय एव दौलतराम आदि कवियोपर बनारसीदासजीकी आध्यात्मिक एव राष्ट्रीय भावना-

१. 'बनारसी-विलास' (फुटकर पद)।

की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। परवर्ती हिन्दी-काव्य-जगत्को बनारसी-दासजीकी यह अनुपम सांस्कृतिक देन है।

धार्मिक क्षेत्रमें भी, जो भारतीय संस्कृतिका अभिन्न एवं व्यापक अंग है बनारसीदासजीकी सांस्कृतिक देन चिरस्मरणीय रहेगी। क्रियाकाण्ड, आडम्बर और भट्टारकवाद धर्मकी आत्माको भयंकर रूपसे आच्छादित कर चुके थे। भट्टारकोंकी वाणी शास्त्रोंकी वाणीके समान प्रामाणिक एवं मान्य हो रही थी। विचारकों और धर्मके सच्चे ज्ञाताओंमें धर्मके इस कुत्सित रूपके प्रति घृणा और क्रान्तिके तीव्र भाव यदा-कदा उठते थे, पर सामने आकर निर्भीकतापूर्वक विरोध करनेकी सामर्थ्य किसीमें न थी। ऐसा करनेमें नास्तिक, अधार्मिक आदि विशेषण सहजमें ही प्राप्त हो सकते थे। सामाजिक तथा धार्मिक बहिष्कारकी भी पूर्ण सम्भावना रहती थी। बनारसीदासजीने इसी बातका तीव्र अनुभव किया और किसी प्रकारकी चिन्ता न कर निर्भीकतापूर्वक उक्त कुवृत्तियोंका भण्डाफोड़ किया। जैन धर्मके मर्म अध्यात्मकी सच्ची व्याख्या करके जनताके सम्मुख उसे प्रस्तुत किया। विरोध उठते रहे परन्तु व्यर्थके मिथ्या विरोध अल्पायु ही होते हैं। आगे चलकर कविवरका अध्यात्ममत ही जैन धर्ममें तेरापन्थके नामसे विख्यात हुआ। श्वेताम्बर और दिगम्बरोंका पारस्परिक वैमनस्य दूर करनेमें आपके इस अध्यात्ममतने अभूतपूर्व कार्य किया। "श्वेताम्बरोंके[1] समान दिगम्बर सम्प्रदायके विचारशील लोगोंने भी इस अध्यात्ममतको अपनाया और उनमें यह 'तेरहपन्थ' नामसे प्रचलित हुआ। कामा, सांगानेर, जयपुर आदिमें यह पहले फैला और उसके बाद धीरे-धीरे सर्वत्र फैल गया।"

कविवर बनारसीदासजीने संस्कृतिके क्षेत्रमें एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस देशकी संस्कृति भोगप्रधान नहीं है फिर भी कवियोंमें ऐन्द्रिक भोगोंके प्राचुर्यसे परिपूर्ण साहित्य-सृजनकी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। सुन्दरी स्वर्ण और सुरामय रीति युगमें कवि अपनी कविताका स्वर और मिलाने लगे थे। कवि जो देशके चरित्र और संस्कृतिको अपनी कवितासे सुदृढ़ बनाता है, यह बात उस समय लुप्तप्राय-सी हो चुकी थी। सुन्दरियोंके अंग-प्रत्यंगों और हाव भावका कामुकतापूर्ण वर्णन कविजन राजाओंके दरबारोंमें करने लगे थे। बनारसीदासजीने कवि समुदायकी इस मार्गभ्रष्टता

---

१ 'अर्धकथानक', सं० पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ५६। विस्तारके लिए प्रथम अध्याय देखिए।

और उत्तरदायित्वहीन प्रवृत्तिकी कटु आलोचना की तथा वास्तविक कवि कर्मका आदर्श स्वयं प्रस्तुत किया। बनारसीदासजीने कविको सत्यका ही प्रचारक और व्याख्याता माना है। सच्ची प्रतिभा-द्वारा सत्यका चित्रण अत्यन्त रोचक एवं लालित्यमय सर्वथा सम्भव है। सरसता इन्द्रिय भोगो और अश्लील वर्णनोमें असमर्थ और निम्नकोटिके कवि ही खोजते हैं। ऐसे कवियोंके प्रति बनारसीदासजी लिखते हैं।

"मास की गरंथि कुच कंचन कलस कहै,
कहै मुख चन्द जो सलेसमा को घरु है,
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहै ताहि
मास के अधर ओठ कहैं बिम्ब फर है।
हाड़ दण्ड भुजा कहैं कौंल नाल काम भुजा,
हाड़ ही के थंभा जघा कहैं रंभा तरु है,
यों ही झूठी जुगति बनावें और कहावें कवि,
ये ते कहे हमें सारदा करै वरु है॥"[1]

पण्डितप्रवर दौलतरामजीने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'छहढाला'में कहा है—"नव द्वार वहैं घिन कारी असि देह करै किम यारी।"

(जिस देहके नव द्वारोंसे सदैव घृणित पदार्थ निर्गत होते रहते हैं उसीकी कवियो-द्वारा अश्लीलतासे परिपूर्ण कामोत्तेजक मिथ्या प्रशसा कहांतक शोभास्पद हो सकती है? जो कवि समाज एवं राष्ट्रके चरित्रका निर्माता और नियन्ता कहा जाता है उसीके द्वारा उक्त कोटिका वर्णन कहांतक उचित है? आश्चर्य तो बनारसीदासजीको तब होता है जब कि ऐसे कवि भी स्वयको सरस्वतीका वरद पुत्र मानते हैं "ये ते पर कहैं हम सारदा को वरु है।" बनारसीदासजी कवितामें सरसता और चित्तानुरजन-का विरोध नही करते। हां, सरसता और मनोरजन निम्न कोटिके अश्लील वर्णनोमें ही जिन कवियोको दृष्टिगोचर होते हैं उनका ही कविवरने विरोध किया है तथा उन्हें असमर्थ एव कुत्सित कवि माना है। समर्थ एव प्रतिभा-वान् कवि जो सरस्वतीका सच्चा उपासक है ऐसी धारणाको कदापि प्रश्रय न देगा। इस प्रकार बनारसीदासजीने कविताके क्षेत्रमें एक उज्ज्वल मर्यादा और व्यवस्थाके लिए क्रान्तिकारी सास्कृतिक अभ्युत्थानका सुधा-सन्देश दिया।

---

१ 'समयसार', अन्तिम प्रशस्ति १८।

स्पष्ट है कि बनारसीदासजीके व्यक्तित्व, प्रतिभा और साहित्यसे समाज और देशको बहुमूल्य सांस्कृतिक चेतना प्राप्त हुई। शिथिलाचार, अश्लीलता एवं अमर्यादाको कविवरने कदापि प्रोत्साहन नहीं दिया।

साहित्य-मनीषी बनारसीदासजीका संस्कृतिके क्षेत्रमें बहुमुखी भगी-रथ कार्य हुआ। इस भगीरथ कार्यके पीछे एक सर्व-समन्वयता ही कविका अक्षुण्ण एवं श्रेष्ठ उद्देश्य था। वास्तवमें उदार दृष्टिके अभावमें इस महान् देशकी संस्कृतिको समझना सम्भव नहीं है। आजके वैज्ञानिक युगमें जब कि संसार एक कुटुम्बवत् होता जा रहा है, सम्प्रदायों, जातियों, विभिन्न धर्मों और व्यक्तिगत दुराग्रहोंकी चर्चा अथवा हठ एक राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। एक-दूसरेको शुद्ध हृदय और सद्भावसे समझे बिना हम पूर्ण नहीं कहे जा सकते।

[1]"विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यको, भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न परम्परासे सम्बद्ध मानकर ही, पढ़नेसे जहाँ एक ओर हम भारतीय संस्कृतिकी धारा और प्रवाहके स्वरूपको जान सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन सम्प्रदायोंकी वास्तविक पृष्ठभूमिको और भारतीय संस्कृतिमें उनकी देन, स्थान और उपयोगिताको भी ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

उदाहरणार्थ बौद्ध और जैन सम्प्रदायोंके प्रभावको समझे बिना हम गृह्यसूत्रों, श्रौतसूत्रों आदिमें वर्णित वैदिक धर्मके कालान्तरमें होनेवाले पौराणिक धर्मके रूपमें महान् परिवर्तनको समझ नहीं सकते। सिद्धों और सन्तोंके साहित्यके परिचयके बिना शूद्र कहलानेवाली जातियोंके सम्बन्धमें होनेवाले क्रमिक दृष्टि-परिवर्तनको नहीं समझा जा सकता। भारतवर्षमें इस्लामके प्रभावको समझे बिना महात्मा कबीर और नानकके स्वरूपको और सिक्ख सम्प्रदायके उत्थानको हम नहीं समझ सकते। इसी तरह क्रिश्चियन धर्मके प्रभावको समझे बिना हिन्दू धर्मके आर्य-समाज ब्रह्मसमाज आदि नवीन आन्दोलनोंको तथा रामकृष्ण सेवाश्रम-जैसी संस्थाके उदयको कैसे समझा जा सकता है?"

भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न प्रगतिशील परम्पराकी दिव्य दृष्टिसे ही हमें भारतीय संस्कृतिके विकासमें व्यास, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर आदि सन्त, दयानन्द और गान्धी आदि महापुरुषोंकी देन और

१ 'भारतीय संस्कृतिका विकास', पृ० ८६, ले० डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

महत्ताका स्पष्ट अनुभव हो सकता है। अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व जब कि हमारी सामाजिक एव राष्ट्रीय परिस्थितियोमें भारी सकीर्णता घर कर चुकी थी, सस्कृतिके इसी महान् सन्देशकी पावन घोषणा की थी।)

"एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय,
मन की दुविधा मान कर भये एक सों दोय।

....

मेरे नैनन देखिए-घट घट अन्तर राम"

... .

'तिलक तोष माला विरति, मति मुद्रा श्रुति छाप।
इन लच्छन सो वैसनव, समुझै हरि परताप॥
जौ हर घट में हरि लखै, हरि बाना हरि वोइ।
हर छिन हरि सुमरन करै, विमल वैसनव सोइ।
जो मन मूसै आपनौ, साहिव के रुख होइ।
ज्ञान मुसल्ला गहि टिकै, मुसलमान है सोइ॥"[1]

सुप्रसिद्ध शोधक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं –

"[2]बीकानेर – जैन लेखसग्रहमें अध्यातमी सम्प्रदायका उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। वह आगरेके ज्ञानियोंकी मण्डली थी जिसे सैली कहते थे। अध्यातमी बनारसीदास इसीके प्रमुख सदस्य थे। ज्ञात होता है कि अकबरकी 'दीने इलाही' प्रवृत्ति भी इसी प्रकारकी आध्यात्मिक खोजका परिणाम थी। बनारसमें भी अध्यात्मियोकी एक सैली या मण्डली थी। किसी समय राजा टोडरमलके पुत्र गोवर्धनदास इसके मुखिया थे।"

[3]"बनारसीदासजी ऐसी ही अध्यातम सैलीके प्रमुख सदस्य थे और जैन थे – श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं। वे परमत-सहिष्णु और विचारोमें उदार थे।"

अन्तमें कविवर बनारसीदासजीके सम्बन्धमें उपर्युक्त विवेचनाके आधार-पर हम कह सकते हैं कि वे किसी सम्प्रदाय, जाति या वर्ग-विशेषके

---

१ 'बनारसी-विलास' फुटकर पद।
२. मध्यकालीन नगरोंका सांस्कृतिक अध्ययन, जैन सन्देश, जून १९५७।
३ 'अर्धकथानक' सम्पा० प० नाथूराम प्रेमी, पृ० ३८।

प्रतिनिधि न होकर मानव मात्रके अपने थे और उसी रूपमें आज भी वे, अपनी कृतियों और यश शरीरसे हमारे साथ हैं।

अर्धकथाके ऐतिहासिक उल्लेखोंका अनुसन्धान

ऐतिहासिक उल्लेखोंकी दृष्टिसे भी कविवर बनारसीदासजीका अर्ध-कथानक भारी महत्त्व रखता है। अपनी जीवन घटनाओंके साथ-साथ कविने कुछ राजनैतिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक घटनाओंका भी यथा-वसर उल्लेख किया है। सम्पूर्ण कृतिमें दो प्रकारके ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं—एक वे हैं जिनका सम्बन्ध कविके जन्मकालसे पूर्वका है—सुदूरपूर्वका है। और दूसरे प्रकारके वे उल्लेख हैं जिनका सम्बन्ध कविके जीवन-कालसे है। यहाँ यद्यपि हमें पहले प्रकारके उल्लेखोंपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि कविका उन उल्लेखोंसे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर कविसे ऐसे उल्लेखोंमें भूलें भी हो सकती हैं और हुई हैं। कविने स्वयसे पूर्वके ऐतिहासिक उल्लेखोंके सम्बन्धमें अपनी अज्ञता अत्यन्त सरल भावसे स्पष्ट कर दी है। वे लिखते हैं—

> "बरिस तीन सौ की यहु बात ॥ ३६ ॥
> हुते पुरुष पुरखा परधान, तिनके वचन सुने हम कान।
> वरनी कथा जथा सुत जेम, मृषा दोष नहिं लागै एम ॥ ३७ ॥"[1]

बनारसीदासजीका कोई ऐतिहासिक अध्ययन तो था नहीं और उनके समयमें यह सुलभ भी नहीं था। कविने इन उल्लेखोंमें अपने पूर्व पुरुषोंकी स्मृतियों चर्चाओंसे ही सहारा लिया है। इन उल्लेखोंकी त्रुटियोंके लिए हम कविको दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि वे लिखनेके पूर्व ही क्षमा-याचना करते हैं और उन उल्लेखोंकी सन्दिग्ध ऐतिहासिकता स्पष्ट भी कर देते हैं। यहाँ कविके समयसे पूर्वके प्रमुख उल्लेखोंका अनुसन्धान इस हेतुसे कर लिया है ताकि वह भी कुछ स्पष्ट हो जाये और कविवरकी जन्मभूमि जौनपुरका संक्षिप्त इतिहास भी हमारे सम्मुख आ सके। दूसरे प्रकारके उल्लेखोंको इस प्रकरणमें इतिहासकी कसौटीपर कसना अधिक युक्तिसंगत होगा। इससे कविकी अपने समयकी ऐतिहासिक जानकारीका भी हमें स्पष्ट परिचय मिल सकेगा।

---

१ 'अर्धकथा', छन्द ३६, ३७।

अर्धकथानकके जिन ऐतिहासिक उल्लेखोंपर हम विचार करेंगे वे निम्नलिखित हैं—

कविके जन्मकालसे पूर्वके जौनपुरके नौ बादशाहोंके नाम—

१[1] जौनाशाह, २ बबककरशाह, ३ सुरहर सुलतान, ४ दोस्त मुहम्मद, ५ शाह निजाम, ६ बिराहिम शाह, ७ हुसैन शाह, ८ गाजी, ९ बख्या सुल्तान।

२ जौनपुरका निर्माता जौनाशाह था और नगरका यह नाम (जौनपुर) जौनाशाहने ही रखा था। यह जौनाशाह ही नगरका प्रथम बादशाह होकर आया था।

कविके जीवनकालके ऐतिहासिक उल्लेख, अर्धकथानकमें निम्नलिखित हैं—

१[2] संवत् १६५३ (१५९६-९७ ई०) में अकाल पड़ा। अन्न दुष्प्राप्य एवं मँहगा हो गया। जनता अत्यन्त दुःखी थी।

२[3] संवत् १६५४-५६ (१५९७-१५९९ ई०) में जौनपुर नगरका शासक नवाब कलीच था उसने जौनपुर नगरके जौहरियोंपर इतने अत्याचार किये कि उन्हें अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए जौनपुर छोड़कर भागना पड़ा। जब कलीच संवत् १६५६ (१५९९-१६०० ई०) में आगरे चला गया तब सभी जौहरी जौनपुर लौट सके।

३[4] संवत् १६५७ (१६०० ई०) में शाहजादा सलीम लवत्त जाते समय जौनपुर रुका। इतनेमें अकबरका आदेश आया कि शाहजादेको आगे न बढ़ने दिया जाये। लघुकलाल सम्मू सुलतान और नूरमर्दा, जो क्रमश जौनपुरके हाकिम और गढ़पति थे शाहजादेसे युद्धके लिए तैयार हो गये। शाहजादे सलीमने लड़ाई रोक ली। उसने लालीवेग नामक एक व्यक्ति-द्वारा नूरमको कुछ प्रलोभन दिखाया और अन्तमें नूरमने शाहजादेसे क्षमा माँगी।

४[5] संवत् १६६२ (१६०५ ई०) कातिकमें बावन वर्षकी बाद-

---

१. 'अर्धकथा', ३२, ३३, ३४।

२ वही, छन्द २०४।

३ वही, छन्द २१०-२४८।

४ वही, छन्द २४९-२६७।

५ वही, छन्द २४६-२६१।

शाहीके पश्चात अकबरकी आगरामें मृत्यु हो गयी। शाहजादा सलीम उसके कुछ ही दिनों बाद 'नूरुद्दीन जहाँगीर'के नामसे विख्यात होकर अकबरका उत्तराधिकारी बना।

५ [1]संवत् १६७१ (१६१४–१५ ई०) में मीर चीन कलीचखाँ (पिछले कलीचखाँका बेटा) जौनपुर शहरका शासक बना। सं० १६७२ (१६१५–१६ ई०) में उसकी मृत्यु हो गयी। दो वर्ष बाद मीर आगानूर जौनपुरका हाकिम बनकर जा ही रहा था कि आगरे फिर लौट गया।

६ [2]संवत १६७३ (१६१६–१७ ई०) में आगरेमें मरीका रोग पहली बार फैला। सम्यातीत चूहे मरते थे। वैद्य दूसरोंका क्या अपना भी बचाव न कर पाते थे — स्वयं मर रहे थे। लोगोंने शीघ्र ही आगरा छोड़ दिया और अन्यत्र जा बसे। कुछ समय बाद जब प्रकोप शान्त हुआ तब लोग घर लौटे।

७ [3]संवत् १६८४ (१६२७ ई०) में बाईस वर्ष तक राज्य करनेके पश्चात् कश्मीरसे लौटते समय अचानक ही जहाँगीरकी मृत्यु हो गयी। जहाँगीरकी मृत्युके चार माह पश्चात् शाहजहाँ गद्दीपर बैठा।

क्रमशः सभी उल्लेखोंका अनुसन्धान—

(१ खिलजी वंशके पश्चात् दिल्लीका शासन तुगलक वंशके हाथमें आया। इस वंशका गाजी तुगलक दिल्लीका प्रथम बादशाह हि० ७२१ (संवत् १३७८) में हुआ और हि० ७२५ में मर गया।)

इसके पश्चात् उसका बेटा मलिक फखरुद्दीन जौना (सुल्तान नासिर उलदीन मुहम्मद शाह) दिल्लीके सिंहासनपर बैठा, यही व्यक्ति मुहम्मद तुगलकके नामसे भी विख्यात है। सन् ७५२ में सिन्धमें इसकी मृत्यु हो गयी।

फखरुद्दीन जौना (मुहम्मद शाह) के कोई सन्तान न थी, अतः उसके काका सालार रज्जबका बेटा फीरोजशाह, उसका उत्तराधिकारी बना और बादशाह हुआ।

---

१ 'अर्धकथा' छन्द ४६१–४७५।

२ वही, छन्द ५६३–६७।

३ वही, ६०६–६०७।

[1]प्राप्त इतिहासके आधारपर जौनपुरका महत्त्वपूर्ण एव तथ्यात्मक इतिहास फीरोजशाहके समयसे विशेष प्रकाशमें आता है ।

जौनपुरका निर्माण

सन् १३५३ फीरोजशाहने हाजी इलियसके विरुद्ध बगालपर प्रथम चढाई की । हाजी इलियसने स्वयको शमसुद्दीन घोषित कर दिया था तथा पश्चिममें बनारस तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी । इस चढाईको जाते समय फीरोजशाहने गोरखपुर एव चम्पारनका मार्ग स्वीकार किया था, परन्तु सम्भवत लौटते समय वह जाफराबादसे लौटा और सन् १३५९ में दूसरी बार शमसुद्दीनके बेटे सुलतान सिकन्दरपर चढाईके लिए प्रस्थान किया, परन्तु मार्गमें अति वर्षा होनेके कारण जाफराबाद ही रुक जाना पडा । इस प्रकार दो बार फीरोजशाहको गोमतीके तटपर रुकना पडा ।[2] सम्भवत दूसरी बार उसे अधिक समय तक रुकना पडा था और तभी वहाँकी गोमतीके तटो और चौरस भूमिने उसे मन्त्रमुग्ध कर दिया । इससे उसके मनमें एक सुन्दर नगर-निर्माणकी योजना उठी और कुछ ही समयमें नगर-निर्माणको आज्ञा भी दे दी गयी । नगर बन गया । जिन वर्षोंमें नगरका निर्माण हुआ उनका ठीक-ठीक पता अभी नहीं लग सका है । इतना कहा जा सकता है कि नगर-निर्माणका प्रारम्भ एव

---

1 'The History of Jaunpur becomes of mere importance with the accession of Firozshah The next Sultan of Delhi' Jaunpur Gazetteers p 152

2 "The Sultan then marched through Kanouj and Oudh to Jaunpur Before this time there was no town of any extent (Shabri abadan) there But the Sultan observing a suitable site, determined upon building a large town He accordingly stayed there six months and built a fine town on the banks of the Kowah (the ejumti) to which he determined to give the name of Sultan Mahummad Shah, son of Tughlak Shah, and as that sovereign bere the name of Jauna he called the place Jaunahpur (Jaunpur) "

Tarikhi Firozahahi P 43 44
by S Siroz Afif

समाप्ति सन् १३५९ एवं १३६४ के बीचमें ही हुई होगी। इन्हीं वर्षोंमें जौनपुरकी प्रगति देखने फीरोजशाह जौनपुर लौटा था।

ई० सन् ७९० में ९० वर्षकी अवस्थामें फीरोजशाहका प्राणान्त हो गया। उसके पश्चात् उसका पोता गयासुद्दीन तुगलक गद्दीपर बैठा। सन् ७९१ में इसकी मृत्यु हो गयी। फिर उसका चचेरा भाई अबूबक उत्तराधिकारी बना। इसकी मृत्युके पश्चात् इसका काका मुहम्मदशाह बादशाह बना, वह भी शीघ्र ही ७९६ में मर गया। उसका बेटा हुमायूँ भी डेढ़ महीने तख्तपर बैठकर मर गया। इतना कहा जा सकता है कि नगर-निर्माणका आरम्भ और समाप्ति सन् १३५९ और १३६४ के मध्य हुई होगी। इन्हीं वर्षोंमें सम्भवत फीरोजशाह जौनपुर नगरकी प्रगति देखने वहाँ एक बार लौटा था।

जौनपुरके नामकरणपर विभिन्न मत

जौनपुरके निर्माणकर्ता और प्रथम बादशाहके सम्बन्धमें जैसी भ्रामक धारणाएँ मिलती हैं, उसके नामकरणके सम्बन्धमें उससे भी अधिक मत-मतान्तर मिलते हैं, जो इतिहासकी अपेक्षा जनश्रुतियों और धार्मिक कथाओं-पर अधिक आधारित हैं। जौनपुर गजेटियरमें इन मतोंकी, विस्तृत चर्चा की गयी है। जौनपुरके पुरातन सूक्ष्म इतिहासपर गजेटियर-द्वारा विस्तृत प्रकाश पड़ता है। जौनपुर नगरकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें जौनपुर गजेटियरकारने लिखा है—

"[1] Materials for the early history of Jaunpur are not yet forthcoming, and little is known beyond the fact that there stood a city in ancient days on the banks of Gumti occupying the site of the present town Even its name, however, is uncertain, and many arguments have been advanced as to the derivation of Jaunpur"

ब्राह्मण मत—

प्रसिद्ध ऋषि जमदग्नि गोमतीके तटपर जमैथा (Jamaitha) जो जौनपुर और जाफराबादके बीच है, रहते थे। उनके नामसे ही स्थानपर प्रारम्भमें जमदग्निपुर था फिर जौनपुर हो गया।

---

१ 'जौनपुर गजेटियर', पृ० १४४।

[1]हिन्दू जनश्रुति है कि जब श्री रामचन्द्रजी अयोध्यामें शासन कर रहे थे, यह ज़िला एक राक्षसने घेर रखा था जिसका नाम केरारबीर या केरारवीर था। एक युद्ध हुआ जिसमें केरारवीर हत हो गया। राक्षस केरारवीरका नाम आज भी यहाँके केरार मुहल्लेमें सुरक्षित है और उसकी समाधि गोमतीके वाम तटपर स्थित है। उस समाधिमें एक मूर्ति है जो मनुष्यकी पीठसे मिलती जुलती है, यद्यपि यह बताया जाता है कि यह आकाररहित पिण्ड क्रिकेटके टीलेके काउण्टरका प्रतिनिधित्व करता है, जब कि एक मात्र द्वारा इसका मुकुटारोहण हुआ था, जो मन्दिर ११६८में कन्नौजके विजयचन्द्रने बनवाया था और फीरोज़ने उसे अपने नये क़िलेके लिए सुन्दर और मज़बूत पत्थरोंके लिए नष्ट किया था। हिन्दू भवनोंको ऐसी निर्दयताके साथ नष्ट किया गया था कि अब बड़ी कठिनतासे ही कोई अवशेष प्राप्त हो सके। जौनपुरमें आज जो बड़े-बड़े मुसलिम गढ़ और इमारतें हैं ये सब हिन्दू मन्दिरों और राजमहलोंके पत्थरोंसे बने हैं। तथा जिन पत्थरोंपर शिल्पादि था उन्हें दीवारके भीतरी हिस्सोंमें दबा दिया गया है, [2]अतः बिना किसी अतिशयोक्तिके यह कहा जा सकता है कि जौनपुरका सच्चा प्रामाणिक इतिहास वहाँकी बड़ी-बड़ी मस्जिदोंकी दीवारोंमें छिपा पड़ा है।

[3]जौनपुर नगरका नाम मुसलमान जन्य है यह निश्चित हो चुका है। मुहम्मद बिन तुग़लक—जिसका वास्तविक नाम जूना था—के नामसे ही इस नगरका नाम जौनपुर पड़ा। फ़ीरोज़शाहने इसे अपने चचेरे भाईके आदरमें इस नगरका नाम जूनापुर रखा था। बात ऐसी है कि जब फ़ीरोज़शाह इस नगरका निर्माण करा रहा था उस समय रात स्वप्नमें अपने भतीजेका शरीर दिखा जिसने प्रार्थना की कि जूनके नामका इस शहरके नामके साथ जोड़कर इसे स्मरण किया जाना चाहिए। उसकी स्मृतिमें

---

1 जौनपुर गजेटियर, पृ० १४७।

2 Jaunpur Gazetteers P 146
"And it is no exaggeration to say that the early history of the town lies hidden in the walls of the grand mosques of the Sharki dynesty" P 146

3. "It is practically certain that the present name is of Musalman origen. Jaunpur G P 146

इसका नामकरण होना चाहिए। ऐसा ही हुआ। आज भी जनताके सामान्य व्यक्ति जौनपुर न कहकर जवानपुर या जयनपुर कहते है।

२ मुबारकशाह—सन् १३९९ में ख्वाजा जहाँकी मृत्यु होनेके उपरान्त करनफल नामका एक लड़का जिसे उसने गोद लिया था जौनपुर राज्यका उत्तराधिकारी बना और अपना नाम मुबारकशाह घोषित करा दिया। दो वर्ष पश्चात् सन् ८०८ (संवत् १४५८–५९) में मृत्यु हो गया।

३ इब्राहीमशाह—मुबारक शाहके कोई सन्तान न थी अतः इसके भाई इब्राहीमको उत्तराधिकारी बनाया गया। सन् ८४४ (संवत् १४९६) में इसकी मृत्यु हो गयी। जौनपुरका सर्वाधिक विख्यात शासक यही हुआ। नगरीम सुन्दर भवनोंका निर्माण—जिनमेंसे कुछ आज भी है—इसीने कराया था। इसका कोर्ट तो अपने समयका स्वर्ग ही था—उसमें अपने समयके दिग्गज विद्वान् काजी शहाबुद्दीन तथा शाहमदार थे।

४ महमूदशाह (इब्राहीम शाहका ज्येष्ठ पुत्र) दिल्लीके शासक बहलोलसे युद्ध करते-करते सन् ८६२ (संवत् १५१४ १५१५) में बीस वर्षके शासनके पश्चात् शमसाबाद कैम्पमें इसकी मृत्यु हो गयी।

५ मुहम्मदशाह—(महमूदका भाई) इसने बहलोलसे सन्धि कर ली। बहलोलके दिल्ली पहुँचनेके पूर्व ही उसकी पत्नीने कहा कि उसका भाई कुतुबखान कैदी बनाकर जौनपुर ले जाया गया है उसे रिहा कराइए। बहलोल फिर जौनपुर लौटा। यहाँ मुहम्मद शाह अपने चार भाइयोंसे कलह करता हुआ सन् १४५९ में मारा गया। इसने केवल पाँच महीने तक राज्य किया।

६ हुसैनशाह—(मुहम्मद शाहका भाई) इसने बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड एवं ग्वालियरको जीतकर अपना जौनपुर राज्य विस्तृत किया। बहलोलसे इसके कई युद्ध हुए, अन्तमें बहलोलने इससे जौनपुर छीन लिया। जौनपुरके मुबारक खान लोहानीको वहाँका राज्यपाल बना दिया। परन्तु थोड़े ही दिनोंमें हुसैनशाहने सेना एकत्र करके फिर जौनपुरपर आक्रमण किये। बहलोलने अपने पुत्र बारबकको जौनपुर भेजा और स्वयं भी पीछे पीछे गया। बादमें बारबक ही जौनपुरका राज्यपाल बना।

७ बारबक शाह—(बहलोलका बेटा) सन् १४८८ में बहलोलकी मृत्युके अनन्तर उसका छोटा बेटा निजामखाँ दिल्लीका बादशाह बना

और सुल्तान सिकन्दरके नामसे विख्यात हुआ। बारबुक सिकन्दरका बड़ा भाई था अतः स्वयं दिल्लीका शासक होना चाहता था, इसलिए सिक-न्दरसे युद्ध किया, पर हार गया। सिकन्दरने जौनपुर तो बारबुकको लौटा दिया परन्तु यत्र-तत्र अपने हाकिम बैठा दिये। आगे चलकर बारबुक बड़ा अयोग्य सिद्ध हुआ और शासन न सम्हाल सका अतः १४९४में गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिया गया और जौनपुरका शासन जमालखान सारंगखानी (शेरशाहका बाल्यकालीन संरक्षक) को सौंप दिया।

८ सिकन्दर—शीघ्र ही सिकन्दर स्वयं जौनपुर आ गया और छह महीने रहा। यहाँके भवन, दरबार तथा अन्य सभी पुराने यशोंकी निशानियाँ चकनाचूर करता रहा।

९. जलालुद्दीन—सिकन्दर सन् १५१७ में मरा। उसका उत्तरा-धिकार उसके पुत्र इब्राहीम लोदीको मिला। सिकन्दरका दूसरा बेटा जलालखान उस समय कालपीका राज्यपाल था। उसने शीघ्र ही इब्राहीमसे युद्ध करके जौनपुर अपने मातहत कर लिया और जलालुद्दीनके नामसे विख्यात हुआ। अपने सिक्के भी चलाये। बादमें जलालुद्दीनको आगरा आना पड़ा। उस समय आगरा ही हिन्दुस्तानकी राजधानी था। आगराके गवर्नर मलिक आदम ककड़ने जलालसे जौनपुर छीन लिया। इसके बाद इब्राहीम दो वर्ष तक जौनपुरका शासक रहा परन्तु कुछ न कर सका।

१०. सुल्तान मुहम्मद लोहानी—बिहार और जौनपुरका कुछ समयके लिए शासक रहा, परन्तु शीघ्र ही बाबरकी फ़ौजने खदेड़ भगाया। जनैद बिर्लासको जौनपुरका शासक बनाया। हुमायूँ स्वयं जौनपुरमें कुछ समय तक रहा और उसकी प्राचीन प्रतिष्ठाको पुनः बढ़ाया।

११ जलालुद्दीन लोहानी—सुल्तान मुहम्मद लोहानीकी बिहारमें मृत्युके पश्चात् उसके पुत्र जलालुद्दीन लोहानीने उसका उत्तराधिकार लिया। इसका शासन-काल अत्यल्प रहा।

१२ महमूद लोदी—सन् १५३० में बाबरकी मृत्यु हो चुकी थी। अगले वर्ष जब कि हुमायूँ कालिंजरके युद्धमें व्यस्त था। महमूद लोदीने शेरखानके सहयोगसे जौनपुर जीत लिया।

१३ शेरशाह--आगे चलकर हुमायूँने जौनपुरकी ओर प्रस्थान किया, परन्तु शेरशाहको अधिकार देकर लौट गया।

इस प्रकार जौनपुर स्वतन्त्र न हो सका और आगे चलकर मुग़लोंके समयमें भी वहाँ राज्यपालोंकी नियुक्ति होती रही। यह जौनपुरका संक्षिप्त इतिहास है। इसीसे हमारा यहाँ विशेष प्रयोजन है।

अब हम कविवर बनारसीदास द्वारा अर्धकथानकमें गिनाये गये जौनपुरके बादशाहोंकी वास्तविकतापर विचार करेंगे।

१ अवतक साधारण जनता जिसने जौनपुरका ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया है, जौनाशाहको ही जौनपुरका प्रथम बादशाह समझती है। ऐसा समझनेका प्रमुख कारण नगर जौनपुरका नामकरण जौनाशाहके नामके साथ होना है। आज कहा भी जाता है कि जौनाशाहने बसाया था। सम्भवत अपने पूर्व पुरुषोंसे यही सुनकर बनारसीदासजीने भी जौनपुरका प्रथम बादशाह जौनाशाह लिख दिया। वास्तवमें जौनपुरका प्रथम बादशाह फीरोजशाह है।

२ कविने दूसरा बादशाह बबक्करशाह लिखा है। यह निश्चित रूपसे फीरोज़शाह बारबुक ही है। बहुत सम्भव है फीरोजशाह बारबुकके अत्याचारोंसे त्रस्त हो भयके कारण जनताने बारबुकको बबक्कर कहा हो।

३ तीसरा नाम सुरहर सुलतानका है। यह नाम ख्वाजा जहाँका है – जिसका आरम्भिक नाम मलिक सरवर था। सरवरका अपभ्रंश सुरहा हो गया है।

४ चौथा नाम दोस्त मुहम्मदका है। इस नामका कोई भी व्यक्ति जौनपुरका बादशाह नहीं हुआ है। प० नाथूराम प्रेमी लिखते हैं – [1]"वह मुबारिकशाह है जिसका नाम करनफल था, शायद जौनपुरवाले उसे दोस्त मुहम्मद कहते थे।" मुबारिक शाहको इतिहासमें कहीं भी दोस्त मुहम्मद नहीं कहा गया है। हो सकता है कविको बादशाहोंके क्रमकी भी ठीक जानकारी न हो अत पाँचवें बादशाह मुहम्मदशाहके लिए ही दोस्त मुहम्मद लिखा हो। मुबारिकशाहकी अपेक्षा मुहम्मदशाह अधिक निकट लगता है।

---

१ 'अर्धकथा', स० प० नाथूराम प्रेमी, पृ० ६०।

५ पाँचवाँ नाम शाह निजाम लिखा है। इस नामका भी कोई बादशाह जौनपुरमें नहीं हुआ।

६ छठा नाम शाह बिराहम लिखा है। यह तो निश्चित रूपसे इब्राहीम शाह ही है। शब्दमें कविके समय तक आते-आते इतना विकार भी सम्भव ही है।

७ सातवाँ शाह हुसैन है। यह बादशाह महमूदशाह और मुहम्मदशाहके बाद हुआ था। बनारसीदासजीने छोड़के इन दो बादशाहोंका — कमसे कम महमूद शाहका नाम तो लिखा ही नहीं है।

८. आठवाँ नाम गाजी है। हो सकता है यह व्यक्ति शायद बहलोल लोदी हो क्योंकि शाह हुसैनके पश्चात् यही जौनपुरका मालिक हुआ था। प्रेमीजीका भी यही मत है। सम्भवतः यह नाम सर्वथा गलत ही हो।

९ कविवरने नवाँ नाम बख्या सुल्तान लिखा है। इतिहासमें यह नाम कहीं नहीं मिलता है। हो सकता है यह नाम आगे होनेवाले सुल्तान मुहम्मद लोहानी नामक शासकके लिए लिखा हो। प्रेमीजी लिखते हैं— "वह बहलोलका बेटा बारबकशाह हो सकता है जिसे उसने जौनपुरका राज्य दिया था।" परन्तु ऐसा नहीं है। यदि हम ध्यानसे अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कविने नामोंके साथ बादशाहोंके अनुक्रममें भी भूल की है। अतः हमें कविके द्वारा दिये गये नामोंको अनुक्रममें बैठानेका मोह छोड़ना ही होगा। बनारसीदासजीने लिखा अवश्य है—'अनुक्रम भये यहाँ नव साह' परन्तु इस अनुक्रमको वे निभा नहीं सके हैं।

कविके जीवन-कालके ऐतिहासिक उल्लेख

१ प्रथम उल्लेखके सम्बन्धमें पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हैं कि १५९६-९७ ई० में देशमें एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। अकबरके शासनकी इकतालीसवें वर्षकी चर्चा करते हुए अकबरनामामें अबुलफजलने लिखा है—[1] "इस वर्ष वर्षा बहुत ही कम हुई, चावल बहुत मँहगा हो गया।

1 In this year there was little rain, and the price of rice rose high Celestial influences were propitious, and those learned in the stars announced dearth and scarcity The kind-hearted Emperor sent experienced officers in every direction to supply food every day to the poor and destitute

Elliot p 94 pp 193 194 too
Abul Fazal (Akbar)

अन्नका सर्वत्र अभाव-सा हो गया। दयालु सम्राट्‌ने सभी दिशाओंमें अनुभवी हाकिमोंको भेजकर दुखियो और निर्धनोको अन्नादिकी व्यवस्था करायी। सभी समर्थ असमर्थोंकी यथाशक्ति सेवा करते रहे।

२ दूसरेके सम्बन्धमें भी ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं। "मआसिरुल[1] उमरामें उल्लेख मिलता है कि १००० हिजरी (१५९२–९३ ई०) में जौनपुर कुलीचखांकी जागीरमें शामिल कर दिया गया था। चीनो कुलीचखांके सम्बन्धमें प० नाथूराम प्रेमीने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं, "कुलीचखाँ इन्दूजानका रहनेवाला जानी कुरबानी जातिका एक तुर्क था। इन्दूजान तूरान देशका एक शहर है। कुलीचखांके बाप-दादा मुग़ल बादशाहोंके नौकर थे। सफर सन्‌ १००० (सवत्‌ १६४८) में जौनपुर भी जागीरमें दे दिया गया। बनारसीदासजीने सवत्‌ १६५५ में कुलीचखांका जौनपुरमें होना लिखा है सो सही है, क्योंकि प्रथम तो जौनपुर कुलीचखाँकी जागीरमें ही था, दूसरे सवत्‌ १६५३ में उसकी तैनाती भी इलाहाबादके सूबेमें हो गयी थी जिसके नीचे जौनपुर था। ये दोनों उल्लेख आईने अकबरी आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर ही उक्त विद्वानोंने किये हैं।

(३ तीसरे उल्लेखके सम्बन्धमें भी समर्थ शोधक डॉ० माताप्रसाद गुप्तने डॉ० बेनीप्रसादकी 'जहांगीर' नामक पुस्तकसे एवं प० नाथूराम प्रेमीने तुजुक जहांगीरीसे पर्याप्त प्रमाणो द्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहांगीर अवश्य ही १६०० ई० में जौनपुर गया था और लाल बेगको जौनपुरका हाकिम नियुक्त किया था। [2]"सफर सन्‌ १००९ (दिव्‌० सुदी तीज सवत्‌ १६५७) को शाह सलीम इलाहाबादके क़िलेमें पहुँचे और आगरेसे इधरके बहुत-से परगने लेकर अपने नौकरोको जागीरमें दे दिये। इसी समय जौनपुरकी सरकार लालबेगको दे दी।

(इससे जाना जाता है कि शाह सलीमने लालबेगको जो जौनपुर दिया था, नूरम सुलतान लाल बेगको लेने नही देता होगा, जिसपर शाह सलीम शिकारका बहाना करके गया था, फिर नूरमबेगके हाज़िर होनेपर लालबेगको वहाँ रख आया होगा।")

---

१ अर्धकथा भूमिका पृ० ८६, स० द्वारा डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

२ 'अर्धकथा', भूमिका पृ० ६४, म० द्वारा प० नाथूराम प्रेमी।

४ चतुर्थ उल्लेखकी पुष्टि तो इतिहासकी छोटीसे छोटी पुस्तक भी करती है। बडे बडे इतिहास ग्रन्थोमें तो इसके प्रचुर ऐतिहासिक साक्ष्य हैं ही। अन्तिम समयमें भी सम्राट् अकबर अस्वस्थ हो गये। उनकी अत्यन्त गिरती हुई दशा देखकर खानई आजम और राजा मानसिहने सलीमकी जनतामें निन्दा की और अकबरके बाद सुलतान खुशरु (उसका पुत्र) को गद्दी प्राप्त होनेकी चर्चा की। इससे जनतामें बडा क्षोभ फैला, विरोध हुआ और ज्यो ही सलीम सम्राट्के पास पहुँचा कि सम्राट्ने अपना उत्तराधिकार उसे सौंपनेकी पूर्ण व्यवस्था कर दी और कुछ समय बाद सलीमको साम्राज्य मिल भी गया। "१६०५ ई० में सम्राट् अकबरकी मृत्युके समय सलीम उसके पास था। अकबरको उसने नमस्कार किया। एक बार-अन्तिम बार आंख खोलकर अकबरने समीप बैठे हुए लोगोंको सकेत किया कि वे सलीमको उसके राजकीय वस्त्राभूषण पहना दें और शाही कृपाण भी बाँध दें।"[२] ऐसा ही किया गया। 'सलीमका राज्याभिषेक उसी समय न होकर २४ अक्टूबर १६०५ ई० को हुआ। इसी समय वह 'नूरुद्दीन जहाँगीर'के नामसे विख्यात हुआ।

५ कुलीचखाँके पुत्र चीनी कुलीचखाँको जौनपुर जागीरमें मिला, इस सम्बन्धमें भी ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है। प्रेमीजी सन् १९२२ के

---

२ इलियट। ६।१६८-१७४।

Accounts of the death of His Majesty, and of other matter in connexion with it

"As soon as the prince was relieved from all anxiety as to the course affairs were taking, he went with the great novels, and Mir Murtza Khan at their head, without fear, to the fort, and approached the dying Emperor He was still breathing as if, he had only waited to see that illustrious one As soon as that most fortunate Prince entered, he bowed himself at the feet of His Majesty He saw that he was in his last agonies The Emperor once more opened his eyes, and signed to them to invest him with the turban and robes which had been prepared for him and to gird him with his own dagger" p 171

वेंकटेश्वर समाचारके एक लेख 'मुग़ल सम्राट् और उनके कर्मचारी'का उद्धरण देते हुए कहते हैं' अकबर और जहाँगीरने कभी किसी अत्याचारी-को रियायत नहीं की और तुरत ही अपने अत्याचारी अफसरोको बरखास्त-कर उन्हें दण्ड दिया। जौनपुरका सूबेदार चीनी कुलीचखाँ प्रजापीडक था। उसकी शिकायत आनेपर सम्राट्ने उसे वापस बुलाया और यदि वह रास्तेमें न मर जाता तो उसे कड़ा दण्ड मिलता।" इसी सम्बन्धमें आईने अकबरीके आधारपर डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं—"आईने[1] अकबरी-में उल्लेख मिलता है कि १६१५ ई० में कुलीचखाँके पुत्र चीनी कुलीचखाँ-को जौनपुर जागीरमें मिला, किन्तु उसके अगले ही साल शाहशाहका कोपभाजन होनेके कारण बन्दी गृहमें उसका देहान्त हो गया।

६–७ छठे एव सातवेंके सम्बन्धमें भी प्रत्येक प्रामाणिक इतिहासमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि १६१६ में जहाँगीर प्रथम बार विख्यात हुआ। बनारसीदास-द्वारा उल्लिखित जहाँगीरका देहावसान एव शाहजहाँका गद्दी सम्हालना भी इतिहास-द्वारा सत्य सिद्ध है। जहाँगीरकी मृत्यु और शाहजहाँका राज्याभिषेक-जैसी प्रमुख बातें इतिहासकी प्रत्येक छोटीसे छोटी पुस्तिका-द्वारा भी स्पष्ट हो जाती हैं।

अत प० बनारसीदास द्वारा दिये गये स्व-जीवन-कालीन ऐतिहासिक उल्लेखोकी प्रामाणिकता प्रत्येक दृष्टिसे असन्दिग्ध है।

■

१ 'आइने अकबरी' ।१। पृ० ५०० ।

२ 'अधकथा' पृ० ६, सम्पा० डॉ० माताप्रसाद गुप्त ।

६०॥ श्री जिनाय नमः॥ अथ अर्द्ध कथान
कलिष्यते दोहरा पानि जुगल पुट सीस
धरि मानि अपनपौ दास आनि भगति चि
त जानि प्रभु वंदौ पास सुपास १ सवैया
इकतीसा॥ बानारसी नगरी की निंपति॥
गंगमाहि आइ धसी है नदी वरुना असी बीच
वसी बारानसी नगरी वषानी है कासिवार
देसमध्य गांउ तातें कासी नांउ श्री सुपास पा
सकी जनमभूमि मानी है तहां दुहूं जिन सिव
मारग प्रगट कीनौ तब सेती सिवपुरी जगत मे
जानी है ऐसी विधि नाम थपे नगरी बनारसी
के और भांति कहे सो तो मिथ्या मत बानी है
२ इहां निनिपहिरी जिनजनम नगर नाबिषु
द्धि काष्ठाप सो बनारसी जिनकथा कहै आ
पसौं आप ३ चौपाई जैनधर्म श्रीमाल॥

अथमध्यमनरकथ॥ जेपरदोषकहैसदा॥ गुनगोपहिउरवीच दोषलो
पिनिजगुनकहै तेजगमैनरनीच ॥६६९॥ सोलहसैअठानवासंव
अघहनमास सोमवारतिथिपंचमी सुक्लपक्षपरगास ॥६७०॥
नगरआगरैमैवसै जैनधर्मश्रीमाल वानारसीविहोलिया॥ अध्यातम
रसाल ॥६७१॥ चौपाई॥ ताकेमनयहआईवात अपनौचरितकहौवि
ख्यात तबतिनिवरषपंचपंचास परमितकहीदसामुखभास ॥६७२॥
आगैजोकछुहोइगीऔर तैसीसमुझैगेतिसठौर वरतमाननरआउ
वखान वरषएकसौदसपरवान ॥६७३॥ दोहरा॥ तातेअरद्धकथा
नयह वानारसीचरित्र दुष्टजीवसुनिहसहिगे कहहिसुनहिगेमि
त्र ॥६७४॥ सबदोहाअरुचौपई छसैछहत्तरिमान कहहिसुनहि
वांचहिपढहितिन्हसबकोकल्यान ॥६७५॥ इतिश्रीवानारसीदास
कृतअर्द्धकथानकं संवत १७५७ वर्षेमितीप्रथमभाद्रवा[?]सुद ११ सोम
वारश्रीब्रह्मपुरीश्रीपातस्याहऔरंगजेवजीनी[?]नगरहीन[?]लिषाछे

ताजगंज (आगरा) के जैन मन्दिरसे प्राप्त अर्धकथानकका मात्र अन्तिम पृष्ठ ।

ताजगंज (आगरा) के जैन मन्दिरसे प्राप्त बनारसीदासका नवीन पद

परिशिष्ट

•

क अर्द्धकथानकमे वर्णित घटनाओ, सवतो, ग्रन्थो, कवियो, सम्प्रदायो, व्यक्तियो तथा स्थानोकी तालिका

ख अनुक्रमणिका

ग सहायक ग्रन्थ

घ चित्र फलक

क संवत् और घटनाएँ

१ वंश परिचय

२ मूलदासका सम्राट् हुमायूँका मोदी बनकर मालव प्रान्तमें आना, मूलदासके प्रति सम्राट्की कृपादृष्टि।

३. १६०८. मूलदासके खरगसेनका जन्म।

४ १६१० मूलदासके धनमलका जन्म।

५. १६१३ धनमलकी मृत्यु, मूलदासकी मृत्यु।

६. सम्पत्तिका अपहरण राज्य-द्वारा

७ १६१३ खरगसेन अपनी माताके साथ नाना मदनसिंह जौहरीके घर जौनपुर आये।

८ १६१३ जौनपुरका ऐतिहासिक वर्णन

९ १६१६ खरगसेनका विद्याध्ययन, व्युत्पन्नता, व्यापारकार्य सीखना।

१० १६२१-१६२२ खरगसेनका व्यापारार्थ बंगालके सुल्तान सुलेमानके साले, लोदीखानके दीवान धन्नारायके पास जाना, उनकी कृपासे चार परगनेका पोतदार बनना। ६-७ माह बाद सम्मेदशिखरकी यात्रासे लौटनेपर धन्नारायकी उदर-पीड़ासे मृत्यु व खरगसेन भयके कारण अनेको रूप धारण कर जौनपुर आ गये।

११ १६२६ आगरा जाकर सुन्दरदास पीतियाके साझेमें खरगसेनने सर्राफी की।

१२ १६३० मेरठके सूरदासजीकी पुत्रीके साथ खरगसेनका विवाह।

१३ १६३२ चाचीसे पृथक् होना, चाचाके तथा चाचीके मरणकी दुर्घटना, चाचाकी एक पुत्री थी उसका विवाह खरगसेनने किया एवं चाचाकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उस बहनको ही दे दी।

१४ १६३३ जौनपुरमें रामदास वैश्य (शैवधर्म) के साझेमें मोती माणिकका व्यापार।

१५ १६३५ खरगसेनके प्रथम पुत्रका जन्म-मृत्यु।

१६ १६३७ खरगसेनका यती यात्रार्थ रोहतक सपत्नीक जाना तथा मार्गमें चोरों द्वारा लूटा

नानीकी पुत्रीका विवाह ।

खरगसेनकी नानीकी मृत्यु, पुत्रीका जन्म और पुत्र-वधूका आगमन एक ही दिन हुआ ।

१६५५ जौनपुरके नवाब किलीचखाँ द्वारा वहाँके जौहरियोंसे बर्बरतापूर्ण व्यवहार, कोड़े लगवाये, मृतक करके छोड़ा। एक रत्नकी रकम नजराना न मिलनेपर। दुःखी होकर खरगसेन सपरिवार शाहजादपुर भागे और फिर इलाहाबाद जाकर व्यापार किया ।

बनारसीदासजी नानीके समीप रहे। कौड़ियोंका व्यापार, अपार श्रम। फतेहपुर, इलाहाबाद और फिर फतेहपुरमें रहना।

१६५६ नवाब किलीचके आगरा चले जानेपर सभी जौहरी जौनपुर लौटे।

१६५७ अकबरके पुत्र सलीमका कान्हवन मृगयार्थ जाना, सम्राट् अकबरका नूरमखान (सुल्तान जौनपुर) से जौहरीका कान्हवन जानेसे रुकवाना, युद्धकी तैयारी, प्रजामें अशान्ति, भगदड़, खरगसेन भी भागकर लक्ष्मनपुर गाँवमें रहे, शान्ति हो जानेपर फिर जौनपुर लौटे।

होते हुए इलाहाबाद गये। मार्गसंकट, चोरोंसे भेंट। रूप बदलना, जनेऊ, तिलक।

४५ १६७१ अ व्यापारके लिए बनारस जाना। वहाँ व्रतग्रहण करना। तीसरे पुत्रका जन्म। १५ दिन बाद पुत्रसहित स्त्रीकी मृत्यु। पहली पत्नीकी बहनसे सगाई। कभी जौनपुर तथा कभी बनारस रहकर व्यापार करना।

४६ ब जौनपुरके नबाब किलीचखाके पुत्र चीनी किलीचखाँ-द्वारा बनारसीदासको सिरोपाव किया जाना।

४७ स चीनी किलीचखाँका बनारसीदाससे नाममाला छन्द, कोष तथा श्रुतबोधादि पढना।

४८ १६७२ चीनी किलीचखाकी मृत्यु। बनारसी और नरोत्तमका ६-७ माह पटनामें व्यापार। आगानूरके आगमनसे जौनपुरमें अशान्ति। बनारसी और नरोत्तमदास जौनपुरके पास जंगलमें ४० दिन छिपे रहे। आगानूरके अत्याचार।

४९ १६७३ खरगसेनकी मृत्यु। आगरामें मरी रोग (प्लेग)। बनारसीका दूसरा विवाह।

५० १६७५ अहिच्छत्र और हस्तिनापुरकी यात्रा।

५१ १६७६ दूसरी पत्नीके गर्भसे पुत्रका जन्म।

५२ १६७७ बनारसीदासकी माताकी मृत्यु।

५३ १६७९ दूसरी पत्नी और पुत्रकी मृत्यु।

५४ १६८० तीसरी शादी, समयसार (राजमल्लकी टीका)का पढना, ज्ञानपचीसी आदिकी रचना करना, चित्तकी चंचलता।

५५ पैजारहुका खेल।

५६ चन्द्रभान, बनारसी, उदैकरन, थान नग्न होकर मुनिपदका उपहास करना, चरित्रहीनता

५७ १६८४ तीसरी पत्नीके प्रथम-पुत्रका जन्म और मरण। जहाँगीरकी मृत्यु। शाहजहाँका सिंहासनासीन होना।

५८ १६८५ तीसरी पत्नीसे दूसरे पुत्रका जन्म।

५९ १६८७ तीसरे पुत्रका जन्म।
१६८९ पुत्रीका जन्म-मरण।

६० १६९० ९२के बीच काव्य रचनाएँ 'लोनी बहुत कवीश्वरी।'

६१ १६९२ पं० रूपचन्दजीसे आगरामें गोम्मटसारका पढना। जैन धर्ममें दृढ़ श्रद्धान होना।

६२ १६९३ समयसारकी रचना।

६३ १६९६ बनारसीके तृतीय पुत्रकी मृत्यु।

६४ १६९८ अर्धकथानककी रचना।

६५ १७०० कर्मप्रकृतिविधानकी रचना।

ग्रन्थ

सम्प्रदाय

■

ख अनुक्रमणिका

■

ग अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

१ अशोकके फूल डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

२. अध्यात्मपदावली · राजकुमार साहित्याचार्य

३ अकबरी दरबारके हिन्दी कवि डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल

४ अर्धकथा बनारसीदास

५ आधुनिक कवि महादेवी वर्मा

६ उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा परशुराम चतुर्वेदी

७ काव्यके रूप बाबू गुलाबराय एम० ए०

८ जैन धर्म . प० कैलाशचन्द्र शास्त्री

९ जैन साहित्य और इतिहास : प० नाथूराम प्रेमी

१० जहाँगीरनामा मुंशी देवीप्रसाद (अनुवादकर्त्ता)

११. जीवन और साहित्य . सम्पा० डॉ० उदयभानु सिंह

१२ दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ डॉ० जगदीशचन्द्र

१३ नाथ सम्प्रदाय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

१४ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ

१५. ब्र० प० चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ

१६ ब्रज भाषा व्याकरण डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

१७. भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय

१८. भारतीय इतिहासकी रूपरेखा : जयचन्द विद्यालंकार

१९ भारतवर्षका इतिहास · डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद डी० लिट्

२०. भोजपुरी भाषा और साहित्य डॉ० उदयनारायण तिवारी

२१. भारतीय संस्कृतिका विकास डॉ० मंगलदेव शास्त्री

२२ मान मंजरी : नन्ददास

२३. मीरा स्मृति ग्रन्थ बंगीय हिन्दी परिषद्

२४. युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि अगरचन्द नाहटा

२५ विश्व धर्म दर्शन   साँवलिया बिहारीलाल वर्मा
२६ साहित्य शिक्षा और सस्कृति   डॉ० राजेन्द्रप्रसाद
२७ सत्यके प्रयोग   महात्मा गान्धी
२८ सुन्दर ग्रन्थावली   पुरोहित हरिनारायण शर्मा
२९ हिन्दी जैन साहित्यका सक्षिप्त इतिहास   कामताप्रसाद जैन
डी० एल०
३० हिन्दुत्व   रामदास गौड़
३१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका   डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३२ हिन्दुस्तानकी कहानी   प० जवाहरलाल नेहरू
३३ हिन्दी साहित्य   डॉ० श्यामसुन्दरदास
३४ हिन्दी साहित्यका प्रभाव   सुखदेव बिहारी मिश्र
३५ हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास
डॉ० रामकुमार वर्मा
३६ हिन्दी साहित्यका इतिहास   रामशकर शुक्ल 'रसाल'
३७ हिन्दी साहित्यका इतिहास   आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३८ हिन्दी साहित्य ' हजारीप्रसाद द्विवेदी
३९ हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन   पं० नेमीचन्द शास्त्री
४० हिन्दी भाषाका इतिहास   डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

सस्कृत

१ अमरकोष   अमरसिंह
२ अग्निपुराण
३ ऋग्वेद
४ ऐतरेय ब्राह्मण
५ काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट
६ कूर्मपुराण
७ तत्त्वार्थ सूत्र   उमास्वाति
८ दर्शनसार
९ नाममाला   धनजय
१० प्रमेयकमलमार्तण्ड   आचार्य प्रभाचन्द्र
११, प्रबोध चन्द्रोदय   कृष्ण मिश्र
१२ भगवद् गीता

१३ मार्कण्डेय पुराण
१४ मनुस्मृति
१५. यजुर्वेद
१६ लिंगपुराण
१७ वायु महापुराण
१८. वाराह पुराण
१९ ब्राह्मण पुराण
२० विष्णु पुराण
२१ वेदान्त सूत्र : व्यास
२२ स्कन्द पुराण
२३ साहित्य दर्पण आचार्य विश्वनाथ
२४ सागार धर्मामृत आचार्य आशाधर
२५ श्रुतावतार : आचार्य इन्द्रनन्दि
२६ क्षत्रचूडामणि आचार्य वादीभ सिंह

प्राकृत

१ द्रव्यसंग्रह : नेमीचन्द्र चक्रवर्ती
२ दोहा पाहुड मुनि रामसिंह

अँगरेजी

१ ए सर्वे ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री पनिक्कर
२ एन एडवान्सड हिस्ट्री ऑव इण्डिया डॉ० आर० सी० मजूमदार
३ एन आउट लाइन ऑव दि रिलीजस लिटरेचर ऑव इण्डिया फर्कुहर, जे० एन०
४ ए शार्ट हिस्ट्री ऑव तेरहपन्थ सेक्ट ऑव द श्वेताम्बर जैन एण्ड इट्स टेनेट्स
५ आईने अकबरी इलियट
६ अकबर : इलियट
७ ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी
८ इण्डिया थ्रो एजेज डॉ० सरकार
९. इण्डियन फिलासफ़ी डॉ० राधाकृष्णन्

१० ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इण्डिया :
सी० बी० नारायण अय्यर
११ वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स
डॉ० भाण्डारकर
१२ दी इण्डो एशियन कल्चर डॉ० ए० सी० सेन
१३ फिलासफी ऑव इण्डिया डॉ० हेडरिक जिम्मर
१४ दि शार्ट स्टडी इन साइन्स ऑव कम्पैरेटिव रिलीजन
प्रो० जी० आर० फर्लोंग
१५ तारीख फीरोजशाही एस० सीराज अफीफ
१६ हिस्ट्री ऑव इण्डिया फ्रान्सिस पेरस क्रेट
१७ सेकेण्ड टर्मिनल रिपोर्ट ऑन हिन्दी स० श्यामसुन्दर दास
१८ आब्सक्योर रिलीजन्स कल्ट्स डॉ० एस० सी० दासगुप्ता
१६ जौनपुर गजेटियर

पत्र-पत्रिकाएँ

१ जैन गजट १६ पृष्ठ २१२ प्रो० एम० एस० रामस्वामी
आयगर, दिल्ली
२ साहित्य सन्देश पृष्ठ ४७४ १९५६ अक १२, आगरा
३ वीर अगस्त १९२४, दिल्ली
४ वीरवाणी, वर्ष ७ अक ९ पृष्ठ १८८, जयपुर
५ सयुक्त राजस्थान १ नवम्बर १९५६, जयपुर
६ आत्म धर्म वर्ष ३ प्रथम अक मोटा आकडिया काठियावाड
७ जैन सिद्धान्त भास्कर जुलाई १९४६ पृ० २२३
८ जैन सन्देश जून ५७, मथुरा

लेखक

जन्म—१५ दिसम्बर सन् १९२५, झाँसी, उ० प्र० ।

शिक्षा—साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, काव्यतीर्थ, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

कृतित्व—प्रकाशित–तप्त लहर (कविता संकलन)। लेख और कविताएँ–(विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओंमें सन् १९४४ से)
प्रकाश्य—१ काव्यालोचनके सिद्धांत, २ उपन्यास परिशीलन, ३ बिहारी नवनीत ।